60 साहित्य अप्रैल-जून 1995: मूल्य 15 रुपए

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की त्रैमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 15 अंक 60 : अप्रैल-जून 1995

संपादक मंडल

यू.आर. अनंतमूर्ति

रमाकांत रथ

इंद्रनाथ चौधुरी

संपादक
गिरधर राठी

त्रैमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 15 अंक 60 : अप्रैल-जून 1995

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी
रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग
नई दिल्ली 110001
फ़ोन : 386626, 386621, 386623
386088, 387064
तार : साहित्यकार
टेलेक्स : 31/65445 सैंड इन
फ़ैक्स : 091-11-382428

© सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक, अनुवादक एवं साहित्य अकादेमी की स्वीकृति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से साहित्य अकादेमी, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

आवरण/रेखाचित्र : उमेश वर्मा
सज्जा : करुणानिधान

मूल्य 15 रुपए

शुल्क-दर : एक वर्ष 50 रुपए : तीन वर्ष 135 रुपए
हवाई डाक : एक वर्ष 28 डॉलर/15 पौंड : तीन वर्ष 75 डॉलर/40 पौंड
समुद्री डाक : एक वर्ष 10 डॉलर/6 पौंड : तीन वर्ष 25 डॉलर/15 पौंड

शुल्क इस पते पर भेजें (केवल मनीऑर्डर, ड्राफ्ट या नकद) :

सचिव, साहित्य अकादेमी,
विक्रय विभाग, 'स्वाति', मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001
फ़ोन : 3735297

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A quarterly journal of Indian Literature from 22 languages in Hindi, published by Sahitya Akademi, Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road, New Delhi-110001, India.

समकालीन भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 15 अंक 60 : अप्रैल-जून 1995

संपादकीय : अद्यतन / 5

चिन्तन-भूमि

म.ल. वराडपांडे : शाकुंतल का अभिज्ञान : अँगूठी या बेटा / 9

कहानी

ज्योतिर्मयी देवी : जननी (बाङ्ला) / 17
विजयमोहन सिंह : ग़मे हस्ती का हो किस तरह. . . (हिन्दी) / 22
माधवी कुट्टी : बंजर भूमि (मलयाळम) / 35
हर्षद त्रिवेदी : झरोखा (गुजराती) / 40
लखमी खिलाणी : काकातुआ (सिन्धी) / 44
बलराज कोमल : मिट्टी का बोझ (उर्दू) / 48

कविता

गुजराती कविता : रमेश पारेख : अनपढ़ अमरेलवी ने कहा / 52

उर्दू कविता : बलराज कोमल : एक पुरानी तस्वीर / 53

पंजाबी कविता : राजिन्दर सुलतान : वह अभी खड़ा है / 54

कन्नड कविता : तिरूमलेश : पतंगों को पकड़ना है / 56 **एच.एस. वेंकटेशमूर्ति** : अंतर / 57 **एम.एन. जयप्रकाश** : रिक्त छायाएँ / 58 **सविता नागभूषण** : सुन, मैं. . .आऊँगी! आऊँगी!. . . / 59 **जयंत कैकिणी** : सफ़ेद वस्त्र / 60

भारतीय अंग्रेज़ी कविता : जयंत महापात्र : लैंडस्केप / 61 आषाढ़ की बारिश / 62 देर / 63 निश्चल बने रहने की कोशिश / 63 **रक्षत पुरी** : जनवरी / 65 अनगढ़ा सा विश्वास / 66 **अनिल साहरी** : कविता-1 / 67 कविता-2 / 67 कविता-3 / 67

नेपाली कविता : मोहन ठकुरी : मन / 69

बाङ्ला कविता : सुबोध सरकार : मेरा अंतिम अनुरोध / 70 दनुज दानव / 71 **ब्रत चक्रवर्ती** : पिता से / 72 आग के बीच / 72 **मल्लिका सेन गुप्त** : फ्रॉयड के नाम खुली चिट्ठी / 73 **देबी राय** : याद रखना / 75

हिन्दी कविता : श्रीराम वर्मा : दो गीत / 76

नाटक

जगन्नाथ प्रसाद दास : सुंदरदास (ओड़िया) / 77

किताबें

अरुण कमल : अशोक वाजपेयी का घर और बाहर / 137
श्याम सुंदर शर्मा : बदलते समय से मुठभेड़ / 144
भगवत रावत : यथातथ्यता का आवेग / 148
श्याम विमल : जीवन सौन्दर्य के प्रस्ताव / 152
रमेश ऋषिकल्प : संस्मरण निकट भी दूर भी / 156
नगेन्द्र चौरसिया : तीन पीढ़ियों के तीन कवि / 162
उमेश दीक्षित : ललित विधान / 166
महेश आनंद : समकालीन रंगमंच का रेखांकन / 169
सुषमा भटनागर : उत्तर आधुनिकतावाद बनाम उत्तर रोमानियत / 173

संस्मरण

पद्मा सचदेव : ज़िक्र उस परीवश का / 177
परवेज़ अहमद : हक़ मग़फिरत करे बड़ा आज़ाद मर्द था / 191

इस अंक के रचनाकार / 196

अद्यतन

देश-विदेश में बसे *समकालीन भारतीय साहित्य* के पाठकों, लेखकों और शुभचिन्तकों को इस त्रैमासिक पत्रिका के संस्थापक-संपादक श्री गुलशेर खाँ शानी के अचानक निधन से जो गहरी पीड़ा हुई है उसे व्यक्त करना आसान नहीं है। साहित्य अकादेमी की संकल्पना के अनुरूप समस्त भारतीय भाषाओं के रचना और विचार के संसार को हिन्दी के माध्यम से पुनः प्रस्तुत करते हुए स्व. शानी ने अपनी गहरी समझ और आत्मीयता दे कर 12-13 वर्ष इस पत्रिका को एक अनिवार्य पठनीय पत्रिका बनाया था। इसी से उन के बाद आने वाले संपादकों को एक सुनिर्मित माध्यम सुलभ हुआ। शानी *काला जल* जैसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास तथा *दोज़ख़ी* जैसी कुछ अविस्मरणीय कहानियों के रचयिता तो थे ही, जीवन और साहित्य के अचूक पारखी भी वे थे। ग़ालिब और आम तौर पर कविता पढ़ना-पढ़वाना उन का ख़ास शौक़ था। उन के संपर्क में आने वाले व्यक्ति उन से निरपेक्ष नहीं रह पाते थे : वे या तो गहरे दोस्त और प्रशंसक हो जाते थे, या उन के आलोचक और शत्रु। (अरबी शब्द शानी का एक अर्थ दुश्मन भी है।)।

अपनी बात कहूँ तो मुझे कहना होगा कि लगभग 10-12 वर्ष मुझे उन का उन्मुक्त स्नेह ही मिला है। कुछ बुनियादी सवालों पर मतभेदों के बावजूद मेरा अनुमान है कि उन के मन में मेरे लिए थोड़ी-सी जगह हमेशा रही, उसी तरह जैसे मेरे मन में उन के लिए हमेशा आदर और आत्मीयता का भाव बना रहा। जीवन के तमाम उतार-चढ़ाव के अलावा शारीरिक रूप से भी उन्होंने विकट रोगों का जिस ज़िन्दादिली से सामना किया, वह मेरे भीतर भी जिजीविषा की लौ को उकसाते रहने वाला दृष्टांत था। *समकालीन भारतीय साहित्य* परिवार को अपने इस भावप्रवण, विचारोत्तेजक और सक्षम वरिष्ठ सहयोगी का अभाव एक लंबे समय तक खलता रहेगा।

इन्हीं दिनों साहित्यिक पत्रकारिता के एक और स्तंभ श्री भैरव प्रसाद गुप्त का निधन पुनः उन उत्तेजक बरसों की याद ताज़ा कर गया जब कहानी और नई कहानी अपने नए-नए रूपों में अनेक प्रतिभाओं के साथ हिन्दी में उतर रही थी। दरअसल पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के इतने सारे प्रमुख स्तंभ एक-एक कर ढहते गए हैं कि साहित्य-विमर्श के कुछेक इलाक़े एकदम सूने लगने लगे हैं। जीवन-मृत्यु की इस लुका-छिपी में शक्ति चट्टोपाध्याय का अचानक और लगभग शानी की ही उम्र में चला जाना एक ऐसा आघात है जिसे तथाकथित 'दार्शनिक' भाव से 'नियति का खेल' वग़ैरह मान कर ही झेला जा सकता है। बाङ्ला के माध्यम से भारतीय काव्य को शक्ति चट्टोपाध्याय के अवदान का लेखा-जोखा होना अभी बाक़ी है, लेकिन उन के काव्य से थोड़ा-बहुत परिचित पाठक भी उन्हें कभी भुला पाएगा क्या? युवा, मध्य वय और उम्र-दराज़ अनेक साहित्य-मनीषियों के दुःखद देहावसान का ज़िक्र *समकालीन भारतीय साहित्य* प्रत्येक अंक में करे, इस की बजाय शायद बेहतर यह होगा कि उन की रचनाओं और उन पर संस्मरणों इत्यादि के माध्यम से उन की निरंतर 'उपस्थिति' का स्मरण-अनुस्मरण किया जाय। कुछ इसी ख़याल से हम दिवंगतों की रचनाएँ और उन पर संस्मरण-आलोचना समय-समय पर प्रकाशित करते रहे हैं। स्थान और आवृत्ति की सीमाओं में ही यह करना है, इसलिए देर-सवेर

होना स्वाभाविक है। इस अंक में इस्मत चुगताई के संबंध में पद्मा सचदेव और शानी के संबंध में उन के दामाद परवेज़ अहमद के संस्मरण इसी दिशा में हमारा एक छोटा-सा प्रयास हैं—लेकिन इन आलेखों की खूबियाँ किसी भी मानी में छोटी नहीं हैं। इस्मत चुगताई शायद पहली बार अपने अनोखे जीवट, करुणाशीलता और संवेदनप्रवणता के साथ हमारे लिए 'प्रत्यक्ष' हो रही हैं। इसी तरह शानी के व्यक्तित्व के कुछ अनोखे पक्ष एक प्रामाणिक ढंग से यहाँ सामने आ रहे हैं।

बाङ्ला की प्रसिद्ध लेखिका और समाजसेविका ज्योतिर्मयी देवी के शताब्दी वर्ष में उन की एक कहानी इस अंक में है। साथ ही हिन्दी, मलयाळम, गुजराती, सिन्धी और उर्दू की एक-एक कहानी है। आशा है पाठकों को ये रुचेंगी।

कन्नड के अनेक कवियों के साथ-साथ भारतीय अंग्रेज़ी के तीन उल्लेखनीय कवि अन्य अनेक भाषाओं के कवियों के साथ हैं। प्रसिद्ध कवि जे.पी. दास का *सुंदरदास* एक विवादास्पद इतिहास-खंड के दस्तावेज़ों पर आधारित अपेक्षाकृत लंबा ओड़िया नाटक है। किताबों में इस बार भी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं पर विभिन्न आलोचकीय दृष्टियाँ प्रस्तुत हैं।

अगले कुछ अंकों के लिए हम तेलुगु साहित्य के अलावा पंजाबी कहानियों, डोगरी रचनाओं और मैथिली कृतियों के चयन-संग्रह में लगे हैं।

—गिरधर राठी

नए प्रकाशन

☐ **किसे कहते हैं नाट्यकला : शंभु मित्र**

(स.भा.सा. पुस्तक-1)

(बाङ्ला से अनुवाद : प्रतिभा अग्रवाल)

पृष्ठ 48 : मूल्य दस रुपए

☐ **शब्द सेतु : दस भारतीय कवि**

☐ सिद्धलिंगैया ☐ गुलाम मोहम्मद शेख ☐ हीरेन भट्टाचार्य ☐ अरुण कोलटकर ☐ प्रवासिनी महाकुड़ ☐ जयप्रभा ☐ सुरजीत पातर ☐ सुकुमारन ☐ अनुराधा महापात्र और ☐ सावित्री राजीवन की कविताओं के मूल भाषाओं से हिन्दी अनुवाद

पृष्ठ 130 : मूल्य 40 रुपए

☐ **Survival : An Experience and an Experiment in Translating Modern Hindi Poetry**

☐ रघुवीर सहाय ☐ कुँवर नारायण ☐ केदारनाथ सिंह ☐ विनोद कुमार शुक्ल ☐ प्रयाग शुक्ल ☐ ऋतुराज ☐ गिरधर राठी ☐ मंगलेश डबराल ☐ आलोक धन्वा और ☐ असद ज़ैदी की कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद

पृष्ठ 138 : मूल्य 75 रुपए

आदेश इस पते पर भेजें :

सचिव,

साहित्य अकादेमी,

'स्वाति', मंदिर मार्ग,

नई दिल्ली 110001

फ़ोन : 3735297

रचनाकारों से निवेदन

☐ रचनाएँ काग़ज़ के एक ओर हाशिया छोड़ कर डबल-स्पेस टाइप कराके ही भेजें। पता : संपादक, **समकालीन भारतीय साहित्य**, साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोज़शाह रोड, नई दिल्ली 110001

☐ रचना की प्रति अपने पास अवश्य रखें। **रचनाएँ किसी भी दशा में वापस नहीं की जाएँगी।**

☐ अनूदित (केवल भारतीय भाषाओं से) रचना के साथ मूल रचना का शीर्षक, रचनाकार की अनुमति और रचनाकार तथा अनुवादक का परिचय अवश्य भेजें।

☐ रचना भेजने के बाद डेढ़ माह में स्वीकृति या अस्वीकृति की सूचना न मिलने पर पत्र लिखें।

☐ रचना के साथ **टिकट लगा पता लिखा लिफ़ाफ़ा क़तई न भेजें।**

ग्राहकों/विक्रेताओं से निवेदन

☐ *समकालीन भारतीय साहित्य* का वार्षिक शुल्क जनवरी से दिसंबर के बीच प्रकाशित चार अंकों के लिए होता है। अपना वार्षिक शुल्क समाप्त होने से पहले दिसंबर में ही अगला शुल्क भेज दें तो आप की प्रति नियमित रूप से डाक से पहुँचती रहेगी।

☐ *समकालीन भारतीय साहित्य* का तीन वर्ष का शुल्क केवल 135 रुपए है। तेज़ी से बढ़ती महँगाई और नई नीतियों के तहत संभव है कि इस का शुल्क फिर बढ़े। अतः तीन वर्ष का शुल्क एक साथ और तुरंत भेजने में बचत है और सुविधा भी।

☐ *समकालीन भारतीय साहित्य* अनेक शहरों में तथा कुछेक स्टेशनों पर विक्रेताओं के पास उपलब्ध है। यदि आप के गाँव-क़स्बे-शहर में यह उपलब्ध न हो तो कृपया अपने पुस्तक विक्रेता या समाचार-पत्र विक्रेता से संपर्क करें। विक्रेता अपनी प्रतियाँ डाक, रेल या सड़क-परिवहन से मँगा सकते हैं। हमारा पता है :

सचिव, साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001. फ़ोन : 3735297

म.ल. वराडपांडे

शाकुंतल का अभिज्ञान : अँगूठी या बेटा?

महाकवि कालिदास ने शकुंतला-दुष्यंत के आख्यान पर आधारित अपना सुप्रसिद्ध नाटक *अभिज्ञान शाकुंतलम्* ईसा की चतुर्थ शताब्दी के अंतिम वर्षों में या पंचम शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में लिखा। कालिदास के कारण यह आख्यान अधिक काव्यमय और प्रणयरम्य हो कर अवश्य लोकप्रिय हुआ, परंतु इस आख्यान को प्राचीन समय से ही लोग जानते थे, इस के प्रमाण उपलब्ध हैं। एक लोककथा के रूप में वह बौद्ध जातक कथाओं के संग्रह में पाया जाता है। इतना ही नहीं, ओड़िशा में भुवनेश्वर के पास स्थित उदयगिरि-खंडगिरि पहाड़ियों में उत्खनित रानीगुंफा नाम की जैन पर्वत गुफ़ा में वह शिल्पित भी की गई है। इस शिल्पांकन का काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी आँका गया है। इलाहाबाद के पास भीटा में जो उत्खनन हुआ, उस में दो शिल्प मिले हैं, जिस का संबंध केवल शकुंतला-दुष्यंत के आख्यान से ही नहीं, बल्कि कालिदास के उस आख्यान पर आधारित नाटक से भी है, ऐसा कुछ विद्वानों ने माना है। उस में से एक टेराकोटा मेडॉलिअन (मिट्टी का सिक्का) है, जिस पर अंकित दृश्य का रेखांकन आर्किऑलॉजिकल रिपोर्ट 1911-12 में दिया गया है। दूसरा एक शिल्प सवा-छह फुट चौड़े प्रस्तर पर है, जिस में दुष्यंत शकुंतला को कमल के पत्ते से हवा दे रहा है। इन शिल्पों का काल ईसा की प्रथम शताब्दी है। कालिदास के कालनिर्णय का जो विवाद चल रहा है उसे और जटिल बनाने के लिए यह शिल्प और उन के समय का उपयोग किया जाता है। कालनिर्णय की उलझन में पड़ने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। कारण इस लेख का वह उद्देश्य नहीं है। हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि यह आख्यान कालिदास के पूर्व भी प्रचलित था जिस का प्रतिबिम्ब कला और शिल्प में भी संभवतः देखने को मिलता है।

यदि हम प्राचीन भारतीय साहित्य की बात करें तो पाएँगे कि इस कथा के प्रमुख व्यक्तित्वों का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार शकुंतला एक अप्सरा का नाम है जिस ने नाडपित् के तट पर भरत को जन्म दिया था। इसी में एक राजा तथा अश्वमेध यज्ञ करने वाले के रूप में 'भरत दौःषन्ति' अर्थात दुष्यंत-पुत्र भरत का भी उल्लेख आता है। महाभारत भी भरत को यज्ञकर्ता राजा मानता है।

दुष्यंत का उल्लेख *महाभारत* में पुरुवंशीय सम्राट के रूप में आता है। यह इलिन या इलिल का पुत्र था और हस्तिनापुर उस की राजधानी थी। पौराणिक साहित्य में दुष्यंत के विषय में एकरूपता नहीं है। उदाहरणार्थ, *भागवत पुराण* के अनुसार वैशाली देश के तुर्वसुवंशीय राजा मरुत ने इस पुरुवंशीय युवक को पुत्र मान कर अपने पास

रखा। राज्यलोभी दुष्यंत ने मरुत का साम्राज्य तो लिया परंतु वे वापस अपने वंश में आ गए। उन्होंने तुर्वसुओं का नाम नहीं धारण किया।

परंतु कालिदास के सामने महाभारत का युवा सम्राट था जिस के 'विशाल नेत्र कमलदल के समान सुशोभित थे, छाती चौड़ी, शरीर का गठन सुंदर, कंधे सिंह के सदृश और भुजाएँ दीर्घ थीं'—सिंहस्कधं दीर्घबाहुं सर्वलक्षणपूजितम्—और जो रत्नाकर सागर तक फैले, म्लेच्छ देश की सीमा से मिले-जुले विशाल भूभाग का शासन और संरक्षण करते थे, जिस के राज में मेघ समय पर पानी बरसाते और अनाज रसयुक्त होते थे, लोग धर्म में अनुराग रखते और उसी का पालन करते। ऐसे राजा को अपनी नाट्यकृति का नायक बनाने का मोह कालिदास की प्रतिभा को होना स्वाभाविक था।

कालिदास नाट्यशास्त्रकार भरत और उन के कृतित्व को जानते थे। *नाट्यशास्त्र* के संकेतानुसार नाटक की कथावस्तु प्रख्यात, नायक उदात्त और राजर्षियों के वंश के अनुकूल साधु आचरण वाला होता है, वह समृद्धि और विलासादि नाना गुणों से युक्त होता है। इतना ही नहीं, भरत ने नाटक की व्याख्या ही 'राजाओं का चरित जो नाना प्रकार के रस और भावों के अनुसार बहुत प्रकार की चेष्टाओं से युत हो और सुख एवं दुखों की उत्पत्ति जिससे होती हो वह नाटक है'—इन शब्दों से की है। इस व्याख्या का निर्वाह भी कालिदास ने दुष्यंत चरित वर्णन करके किया है।

परंतु *शब्दकल्पद्रुम* ने दुष्यंत शब्द की व्याख्या कुछ नए दृष्टिकोण से की है। यह कोश कहता है—दुष दोषवती मन्यते शकुंतलाम इति—अर्थात शकुंतला को दोषवती मानने के कारण वह दुष्यंत कहलाया।

महाभारत कहता है : 'महर्षि विश्वामित्र ने अप्सरा मेनका के गर्भ से हिमालय के रमणीय शिखर पर मालिनी नदी के किनारे एक कन्या को उत्पन्न किया। मेनका नवजात गर्भ को मालिनी के तट पर छोड़कर इंद्रलोक चली गई। शिशु का संरक्षण शकुंत पक्षियों ने किया, इसलिए वह शकुंतला कहलाई।'

अथर्ववेद में शकुंत पक्षी का नाम आता है (11.6.8)। *ऋग्वेद*, तथा *वाजसनेयी संहिता* में शकुंतक, शकुंतिका ऐसे अल्पार्थक शब्द हैं, जिस का अर्थ छोटा पक्षी है।

शकुंतला-दुष्यंत आख्यान विस्तृत रूप से प्रथमतः *महाभारत* में आता है। उस का नाट्यीकरण करते समय कालिदास ने नई पात्र सृष्टि कथांशों के साथ जो दो बात प्रमुख रूप से सृजित कीं, वे हैं—मुनि दुर्वासा का शाप और गांधर्व विवाह होने पर राजा का नायिका को स्वयं की मुद्रिका देना।

एक दिन मृगया करते-करते राजा दुष्यंत कण्व के आश्रम में पहुँचता है। शकुंतला का नवलावण्य देख कर वो मोहित हो जाता है। विदूषक के शब्दों में—'जैसे कोई भीगा छुहारा खाते-खाते ऊब कर इमली पर टूट पड़े, वैसे आप भी रनिवास की एक-से-एक बढ़ कर सुंदरियों को भुला कर इस पर लट्टू हो उठे हैं।'

शकुंतला से गांधर्व विवाह करके राजा प्रस्थान करता है। विरह में अनमनी-सी हो कर कुटीर में बैठी शकुंतला को आश्रम में अतिथि बन कर आए महर्षि दुर्वासा के आगमन का पता ही नहीं चलता। तब वे क्रोधी महात्मा उसे शाप देते हैं—'अरी ओ अतिथि का अपमान करने वाली! जिस के ध्यान में इतनी मग्न हो कर तू मुझ जैसे तपस्वी के आने की भी सुध नहीं ले रही है, वह बहुत स्मरण दिलाने पर भी तुझे उसी प्रकार भूल जाएगा, जैसे पागल मनुष्य अपनी पिछली बातें भूल जाता है।'

जब सखी प्रियंवदा ने 'क्रोध से काँपते हुए पैरों से वेग से लौटे चले जा रहे' दुर्वासा से क्षमा की याचना की, तब उन्होंने कहा : 'यह कन्या अपने प्रेमी को कोई पहिचान का आभूषण दिखला दे तो मेरा शाप छूट जाएगा।' नाटक के शब्द हैं—*अभिज्ञानाभरण*।

इस पर सखी अनसूया कहती है—'चलो, कुछ तो जी हलका हुआ, क्योंकि उस राजर्षि ने चलते समय अपने नामवाली अँगूठी दी थी। बस, यह अँगूठी ही शकुंतला के शाप का सहज उपाय है।'

यह प्रसंग चतुर्थ अंक का है।

पंचम अंक में शकुंतला जब राजा दुष्यंत के सामने उस की नगरी में जा कर खड़ी होती है, तब शाप के प्रभाव से वह उसे पहचान नहीं पाता। उस समय 'तुम्हारा संदेह दूर करने के लिए तुम्हें "अभिज्ञान" दिखाती हूँ', यह कह कर शकुंतला अँगुली टटोलती है अँगूठी के लिए। इस से भी ऐसा लगता है कि अँगूठी या राजमुद्रिका ही शकुंतला की पहचान या 'अभिज्ञान' है।

परंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यह स्थूल आभूषण शकुंतला का वास्तविक अभिज्ञान है, ऐसा नहीं लगता।

शकुंतला की पहचान या अभिज्ञान का वास्तविक लक्षण, कालिदास को अभिप्रेत लक्षण, क्या है, यह जानने के लिए नाट्य संहिता का आलोड़न भारतीय समाज की प्रथाओं के, संकेतों के संदर्भ में करना ज़रूरी है। शकुंतला की कथा के जो रूप *महाभारत* और बौद्ध जातक कथा संग्रह में देखने को मिलते हैं, उन का आधार भी हमें लेना पड़ेगा। कारण, ये ही कालिदास के स्रोत रहे हैं। कालिदास की विचारधारा उस के संस्कारों का ही प्रतिफल है। प्राचीन और गुप्तकालीन समाज की स्त्री विषयक धारणाएँ कालिदास के नाटकों में प्रतिबिंबित होती हैं। स्त्री का यथार्थ अभिज्ञान, उस की वास्तविक पहचान क्या है, इस विषय में तत्कालीन समाज और संस्कृति की धारणाएँ क्या थीं, यह जानने पर ही कालिदास के 'अभिज्ञान' शब्द का यथार्थ अर्थ स्पष्ट हो सकेगा।

इन सारे तथ्यों पर विचार करने के पश्चात हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **शकुंतला का यथार्थ 'अभिज्ञान' राजमुद्रिका न हो कर उस का पुत्र भरत है।** संपूर्ण शाकुंतल नाटक ही इस विषय-वस्तु के इर्दगिर्द फिरता है। प्रणय तो केवल बाह्य शरीर है इस नाटक का, परंतु इस में बार-बार स्पंदन करने वाला हृदयभाग पुत्र ही है। शाकुंतल में यही अंतर्वस्तु बार-बार उभरती है जो संपूर्ण नाट्य संहिता का सूत्र संचालन करती है। यह नाटक उर्वरता-अनुष्ठान का भारतीय आविष्कार है। उर्वरता, जो निसर्ग की है। शकुंतला को इसी निसर्ग का सार बना कर प्रस्तुत किया गया है। निसर्ग की उर्वरा शक्ति का रूप है शकुंतला। नाटक में उस का निसर्गव्याप्त रूप देख कर भारतीय शिल्प परंपरा में प्रतीक के रूप में आने वाले शालभंजिका शिल्पों का स्मरण हो आता है। शालभंजिकाएँ उर्वरा शक्ति से स्पंदित वे नारी शिल्प प्रतिमाएँ हैं जो वृक्ष, लता, शाखा, पर्णों से संलग्न रूप में प्रस्तुत की जाती हैं।

शकुंतला ने दुष्यंत से गांधर्व विवाह किया था। *महाभारत* में इस विवाह की व्याख्या करते हुए महर्षि कण्व ने कहा, 'सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः' अर्थात 'एक दूसरे को चाहने वाले स्त्री और पुरुष एकांत में जो मंत्रहीन संबंध प्रणय से प्रेरित हो कर स्थापित करते हैं, उसे गांधर्व विवाह कहते हैं।'

दुष्यंत ने शकुंतला का अनुनय करते समय यह विवाह पद्धति धर्मानुकूल है ऐसा कहा। शायद यह उस का प्रणय-प्रेरित स्वार्थ था। कण्व ने क्षत्रिय के लिए गांधर्व विवाह श्रेष्ठ है, ऐसा कहा है। वात्स्यायन ने यह संयोग सुखद, अल्पप्रयत्न, अल्पक्लेशसाध्य और विधि-विधानों से मुक्त होने के कारण श्रेष्ठ माना है। वह कहते हैं, कन्या को अनुकूल करने के लिए उसे शकुंतला आदि की प्राचीन कहानियाँ सुनानी चाहिए। शकुंतला की कहानी का यह भी विनियोग था। शायद इसलिए कुछ धर्माचार्यों ने गांधर्व को हेय दृष्टि से देख कर ब्राह्म, प्रजापत्य, दैवन और आर्ष विवाहों को ही धर्मसंगत माना।

परंतु इस प्रणयाकूल अवस्था में भी *महाभारत* की शकुंतला निसर्ग-क्रीड़ा के परिणामों के विषय में सजग है। वह कहती है—'महाराज दुष्यंत, मेरे गर्भ से आप के द्वारा जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आप के बाद युवराज हो। यह

शर्त यदि आप को स्वीकार हो तो आप का मेरे साथ समागम हो सकता है।'

महाभारत में भी प्रणय के केन्द्रस्थान में पुत्र है। इस शर्त के लिए शकुंतला को स्वार्थी कहा गया है। परंतु अपने स्वयं की जन्मकथा ने उस को सजग और सचेत किया है। विवाह बाह्य संबंधों से उत्पन्न यह अप्सरा-कन्या जन्मतः ही अनाथ हो गई थी।

तो, पुत्र को केन्द्र में रख कर शकुंतला ने प्रणय-पूर्ति की। यह *महाभारत* में स्पष्ट रूप से लिखा गया है। कालिदास ने उस का विस्तार और विकास अपने ढँग से किया। उस के नाटक में भी यह पुत्रत्व बारंबार उठने वाली अंतर्वस्तु है।

सूत्रकारों में केवल महर्षि वात्स्यायन ही थे जिन्होंने विवाह का उद्देश्य अनुराग माना है। वे कहते हैं—'विवाहानामनुरागः फलं।' परंतु भारतीय परंपरा में वेद काल से ले कर आज तक विवाह का प्रमुख उद्देश्य प्रजोत्पत्ति ही माना गया है। प्रजापति हमारे द्वारा प्रजा उत्पन्न करे, यह *ऋग्वेद* की प्रार्थना है (10.85, 43)। प्रजा में पुत्र को अग्रक्रम दिया गया है। अथर्ववेद में पुत्र प्राप्ति के मंत्र दिए गए हैं और वैदिक साहित्य पुत्र प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले विधानों से परिपूर्ण है।

पुत्र किसी भी मानव कुटुंब की लौकिक आवश्यकता मानी जाती रही है। परंतु कालांतर में उसे पारलौकिक महत्त्व भी प्राप्त हुआ। मनु कहते हैं कि मनुष्य पुत्रवान तभी होता है जब वह ज्येष्ठ पुत्र को जन्म देता है। उसी से वह 'पितृऋण' से मुक्त होता है : ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः। पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति।। (9.106)। परंतु 'धर्मविचार' इस से भी आगे गया। वसिष्ठ अपने धर्मसूत्र में कहते हैं : अनंताः पुत्रिणो लोकाः। नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति श्रूयते। (17.12)। अर्थात जिसे पुत्र है उसे ही अनंत स्वर्गलोक प्राप्त होते हैं। पुत्रहीन को किसी भी लोक में स्थान नहीं मिलता।

व्याख्याकारों ने पुत्र शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'पुनाति पित्रादीनिति' अर्थात जो पितरों को पवित्र करता है, वही पुत्र है। पुन्नामनरकात् त्रायते इति, अर्थात पुं नामक नरक से जो माता-पिता का रक्षण करता है, वही पुत्र है। धीरे-धीरे पुत्र की 'महत्ता' इतनी बढ़ गई कि पौराणिक वाङ्मय में, महाकाव्यों में, लोगों ने पुत्र प्राप्ति के लिए जो धुरंधर प्रयत्न किए, उस के विस्तृत वर्णन आते हैं।

महाभारत में दुष्यंत जब सपुत्र उस के पास आई शकुंतला को नकारता है तब शकुंतला उसे पुत्र का महत्त्व बताती है। वह कहती है : 'पति ही पत्नी के भीतर प्रवेश करके पुत्र रूप में जन्म लेता है। यही जाया का जायत्व है। स्त्रियाँ पति के आत्मा के जन्म लेने का सनातन पुण्यक्षेत्र हैं। पुत्र सब धर्मों में उत्तम है। वही मनुष्य को धर्म और कीर्ति की प्राप्ति कराते हैं। पुत्र धर्मरूपी नौका का आश्रय लेकर अपने पितरों का नरक से उद्धार करता है। सौ कुएँ खुदवाने से एक बावड़ी बनवाना उत्तम, सौ बावड़ियों की अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम, सौ यज्ञ करने की अपेक्षा एक पुत्र को जन्म देना उत्तम। मनुष्य पुत्र से पुण्य लोकों पर विजय पाता है। पुं नामक नरक से पिता का त्राण करता है।'

पुत्र का महत्त्व समझाते हुए महाभारत की शकुंतला यहाँ तक कह देती है कि 'आप चाहते हों तो मैं चली जाती हूँ, परंतु आप पुत्र का त्याग मत कीजिए।'

इसी प्रसंग में *महाभारत* कहता है कि माता तो केवल धौंकनी के समान है, पुत्र पिता का ही होता है : भस्त्रा माता पितुः पुत्रो। येन जातः स एव सः।।

इस प्रदीर्घ विवेचन का प्रयोजन यही है कि यही सामाजिक और सांस्कृतिक संस्कार ले कर कालिदास ने अपना नाटक लिखा। इसलिए अंततः उस ने राजमुद्रिका को नहीं, शकुंतला के गर्भ में पल रहे पुत्र को उस का अभिज्ञान

माना। पुत्र विषयक ये सारे सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्कार कालिदास की कृति में कैसे व्यक्त होते हैं, यह हमें देखना है।

शाकुंतल नाटक के आरंभ में ही राजा को आशीर्वाद मिलता है, वह है पुत्र प्राप्ति का। यही नाटक का बीज है, जिस का पल्लवन आगे होता है।

मृगया कर रहे राजा को आश्रम मृग की हिंसा से परावृत्त करने के लिए तपस्वी वैखानस के नेतृत्व में उपस्थित होते हैं। उन का आदर करते हुए जब दुष्यंत स्वयं को रोकता है तो उसे यह आशीर्वाद मिलता है : वैखानस : जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूप मिदं तव। पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि।।

अन्य उपस्थित तपस्वी इस आशीर्वाद का अनुमोदन करते कहते हैं : सर्वथा चक्रवर्तिन पुत्रमाप्नुहि। पुत्रहीन राजा दुष्यंत यह आशीर्वाद ले कर आश्रम में प्रवेश करता है। वहाँ शकुंतला से संयोग हो कर यह आशीर्वाद फलित होता है।

तात कण्व जब आश्रम में वापस आते हैं तो उन्हें छंदोमयी आकाशवाणी सुनाई दी : 'जैसे शमी वृक्ष के भीतर होता है पावक का वास, वैसे ब्रह्मन इस कन्या में जगहित पौरव-तेज-निवास।'

जब शकुंतला हस्तिनापुर जाने के लिए उद्यत होती है, तब आश्रम की तपस्विनियाँ उसे तिल्ली के दाने ले कर जो आशीर्वाद देती हैं, उन में प्रमुख आशीर्वाद है—वत्से, तुम वीर पुत्र की माता बनो। उस के बाद महर्षि कण्व उसे इस प्रकार आशीर्वाद देते हैं : 'वत्से जैसे ययाति अपनी पत्नी शर्मिष्ठा का आदर करते थे, वैसे ही तेरे पति भी तेरा आदर करें और शर्मिष्ठा के पुत्र पुरु के समान तुझे चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो।' इस पर गौतमी कहती है : 'भगवान आपने तो यह आशीर्वाद नहीं वरदान दिया है।'

विदाई देने के समय पुनश्च यही वक्तव्य उभर आता है कण्व के मुख से। वे विलाप करती कन्या से कहते हैं : 'वत्से, जैसे पूर्व दिशा सूर्य को उत्पन्न करती है, वैसे ही पवित्र पुत्र उत्पन्न करोगी, उस समय तुम मुझ से बिछुड़ने का सब दुख भूल जाओगी।'

इस तरह पुत्र का संदर्भ बार-बार आता रहता है, जैसे वह किसी कविता का ध्रुवपद हो या महत्त्वपूर्ण वक्तव्य। नाटक में वही चीज़ बार-बार दुहराई जाती है, जो कथावस्तु की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो।

महाभारत में शकुंतला पुत्र के साथ राजभवन पहुँचती है, परंतु नाटक में वह केवल गर्भवती ही है। जब दुष्यंत दुर्वासा के शाप के कारण शकुंतला को पहचानने में असमर्थ हो जाता है तो अभिज्ञान के लिए शकुंतला राजमुद्रिका खोजने लगती है। वह न मिलने पर अनावस्था प्रसंग आ खड़ा होता है। तब राजपुरोहित समस्या सुलझाने का प्रयत्न करते हुए कहता है : 'पुत्र होने के समय तक शकुंतला मेरे घर पर रहे। आप पूछेंगे कि क्यों? वह इसलिए कि आप के चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा, यह आशीर्वाद ऋषियों ने पहिले ही आप को दे रखा है। यदि कण्व मुनि के नाती में चक्रवर्ती के लक्षण मिल जाएँ, तब तो उन्हें आदरपूर्वक रनिवास में रख लीजिएगा और यदि लक्षण न मिलें तो इन्हें इन के पिता के पास भेज दिया जाय।'

इस से यह स्पष्ट होता है कि शकुंतला का वास्तविक अभिज्ञान या पहचान मुद्रिका नहीं है। नहीं तो बात मुद्रिका पर ही अड़ी रहती। चक्रवर्ती के लक्षणों वाला पुत्र—यही उस की वास्तविक पहचान है यह बात राजपुरोहित के वक्तव्य से स्पष्ट हो जाती है। ऋषियों के आशीर्वाद देने से यहाँ तक का सूत्र शकुंतला का वास्तविक अभिज्ञान क्या है, वह स्पष्ट करता है और साथ-साथ इस नाटक की केन्द्रीभूत विषयवस्तु क्या है, यह भी स्पष्ट होता है।

षष्ठांक में एक विशेष प्रसंग के द्वारा कालिदास ने पुत्र का माहात्म्य स्पष्ट कर दिया है। यह प्रसंग प्राचीन भारतीय

संस्कृति में पुत्र विषयक जो धारणाएँ हैं उन का कालिदास पर जो प्रभाव था, उस का द्योतक है।

इस अंक में राजा के सम्मुख एक प्रकरण निर्णय के लिए लाया जाता है। यह केस है व्यापारी धनमित्र का। इस संदर्भ में प्रधानमंत्री के द्वारा राजा को भेजी गई फ़ाइल पढ़ कर वे कहते हैं :

राजा : अरे! क्या समुद्र के व्यापारी धनमित्र की नाव डूबने से मृत्यु हो गई। बेचारे के कोई संतान भी नहीं थी। और प्रधानमंत्री लिखते हैं कि उसका सब धन राजकोष में जाना चाहिए। निःसंतान होना भी कितना कष्टदायक है? अच्छा वेत्रवती! सेठ जी के पास कोई कमी तो थी नहीं, इसलिए उनकी बहुत-सी सेठानियाँ होंगी। पता तो लगाओ कि उनमें से कोई गर्भवती है?

प्रतिहारी : हाँ देव! सुना जाता है कि अयोध्या वाले सेठ की जो कन्या उनसे ब्याही थी, उसने अभी थोड़े दिन हुए पुंसवन संस्कार कराया है।

राजा : तब जाकर आमात्य से कहो कि यह गर्भ का बालक ही सेठ के समस्त धन का स्वामी होगा।

प्रतिहारी : जैसी महाराज की आज्ञा।

राजा : (लंबी साँस लेकर) इसी प्रकार निपूतों का कुछ धन उनके न रहने पर दूसरों के हाथ चला जाया करता है। मेरे पीछे पुरुवंश की राज्य-लक्ष्मी की भी यही दशा होने को है।

प्रतिहारी : भगवान ऐसे बुरे दिन न दिखाए!

राजा : घर आई लक्ष्मी का निरादर करने वाले मुझ अभागे को धिक्कार है जैसे समय पर बोई हुई पृथ्वी फल देने वाली होती है, वैसे ही मुझ से गर्भ धारण करके जो मेरे कुल को चलाने वाली धर्मपत्नी थी, उसे ही मैंने निरादर के साथ छोड़ दिया।

चतुरिका : (मलग) अरी प्रतिहारी! इस सेठ वाली बात सुन कर तो राजा का दुःख दूना बढ़ गया है। उनके मन बहलाने के लिए आर्य माटव्य (विदूषक) को बुला तो ला।

प्रतिहारी : यह तो ठीक कहती हो। (जाती है)

राजा : दुष्यंत के पितर भी बेचारे बड़े संदेह में पड़ गए होंगे, क्योंकि वे विकल होकर सोच रहे होंगे कि दुष्यंत के पीछे कौन हमारा वैदिक विधि से तर्पण करेगा और इसी सोच में वे मेरे हाथ से तर्पण किए हुए जल के कुछ भाग से तो अपने आँसू धोते होंगे और जो बच जाता होगा, बस उतना ही पी जाते होंगे। (ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं।)

मछली के पेट में से प्राप्त मुद्रिका पा कर दुर्वासा का शाप विफल हो जाता है और राजा को शकुंतला का स्मरण होता है। विरह से वे व्याकुल ज़रूर होते हैं, परंतु उस की तीव्रता इतनी नहीं है कि वे मूर्च्छित हों। परंतु निपूते होने का दुख इतना अधिक है कि वे बेहोश हो जाते हैं। यह बात भी पुत्र के 'माहात्म्य' की ओर संकेत करती है।

नाटक के सप्तम एवं अंतिम अंक में अपने बालक भरत के हाथ पर दिख रहे चक्रवर्तित्व के लक्षण देख कर उसे उस का और उस की माता का अभिज्ञान हो जाता है। बालक द्वारा ही राजा अपनी पत्नी तक पहुँचता है।

नाटक का प्रायः समापन भी मारीच द्वारा की गई भरत-प्रशस्ति से होता है। बालक के विषय में वह कहता है : 'यह तुम्हारा वंश तो चलाएगा ही, साथ ही चक्रवर्ती राजा भी होगा। देखो यह बालक अपने दृढ़ और सीधे चलने वाले रथ पर चढ़ कर समुद्र पार करके सातों द्वीपों वाली पृथ्वी को इस प्रकार अकेला जीत लेगा कि संसार का कोई भी वीर इसके सामने टिक न सकेगा। यहाँ इसने सारे जीवों का दमन किया है इसीलिए इसका नाम सर्वदमन पड़ गया था। पर आगे चलकर यह सारे संसार का भरणपोषण करेगा, इसलिए इसका नाम *भरत* होगा।'

इस तरह शाकुंतल नाटक के प्रारंभ से अंत तक पुत्रत्व की प्रतिमा पुनरावर्तित होती रहती है। नाट्य संहिता में

अनुस्यूत प्रतिमानों का, कथा-प्रवाहों का तथा उस में व्यक्त होने वाले सांस्कृतिक एवं सामाजिक संस्कारों का सूक्ष्म अध्ययन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि गर्भ से ले कर किशोरावस्था तक पुत्र ही शकुंतला का वास्तव 'अभिज्ञान' या 'पहचान' बन कर उभरता है। मुद्रिका एक स्थूल और गौण अभिज्ञान है। इसलिए उस के न मिलने पर भी शकुंतला की पहचान की जा सकती है यह राजपुरोहित ने स्पष्ट किया। और उस अभिज्ञान का आधार शकुंतला का गर्भस्थ शिशु था। और कई वर्षों के अंतराल से इसी अभिज्ञान के सहारे दुष्यंत शकुंतला तक पहुँचा।

कालिदास की अन्य काव्य-नाट्य कृतियों में भी पुत्रगौरव की भावना कम-ज़्यादा प्रमाण में उभरती रहती है। उन का नाटक *विक्रमोर्वशीयं* कथावस्तु की दृष्टि से वस्तुतः नायक-नायिका के मिलन के साथ संपूर्ण हो जाता है, परंतु कालिदास उस में एक और अंक जोड़ कर उन के पुत्र आयु की गौरवगाथा गाते हैं। *मालविकाग्निमित्र* के अंतिम अंक में नायक के पुत्र की विजय की प्रशस्ति संदर्भ रूप में आती है। उन का महाकाव्य *कुमारसंभव* भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी है। शिव-पार्वती के शृंगार से रसयुक्त हुआ यह काव्य कार्तिकेय को एक स्वतंत्र नायक के रूप में नहीं, शिव-पार्वती के कुमार के रूप में प्रस्तुत करते हैं और नाटक *शाकुंतलम्* में नायिका का अभिज्ञान तो उस का पुत्र है ही।

यह पुत्र-प्रतिमान कालिदास के प्रतिभा विलास की एक विशेष उपज है या इस में अपने आश्रयदाता चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और उन के पुत्र कुमारगुप्त का सुप्त संदर्भ इस में अनुस्यूत है, इस पर मतभेद हो सकता है। जो भी हो, पुत्र-प्रतिमान कालिदास की कृतियों में उभरता है यह एक साहित्यिक या साहित्यगत वास्तविकता है।

कालिदास के *अभिज्ञान शाकुंतलम्* का एक स्रोत इस रूप में हम ने *महाभारत* के दुष्यंत-शकुंतला आख्यान का अध्ययन प्रस्तुत किया और उस में पुत्र-गौरव की भावना कितनी प्रबल है यह भी देखा। इसी आख्यान का एक रूप हमें बौद्ध जातक-कथा संग्रह में भी देखने को मिलता है और मज़े की बात तो यह है कि उस में भी पुत्रत्व का प्रतिमान या पुत्र-गौरव की भावना प्रखर रूप से उभर कर सामने आती है।

इस कथा का नाम है कट्ठहारि जातक। वह इस प्रकार है—

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त राजा बड़े समारोह के साथ उद्यान गया। वह वहाँ पुष्प-फलों की चाह में घूम रहा था, उसी समय उद्यान के वनखंड में गा-गाकर लकड़ी चुनती एक स्त्री को देखा और उस पर आसक्त हो उसने उससे सहवास किया। उसी क्षण बोधिसत्व ने उसकी कोख में प्रवेश किया। उसकी कोख वज्र से भरी गई की तरह भारी हो गई। उसने गर्भ स्थापित हुआ जाना, (राजा से) कहा—'देव मुझे गर्भ हो गया है। राजा ने अँगुली की अँगूठी देकर कहा—"यदि लड़की हो तो इसको बेचकर अपनी लड़की को पालना। यदि लड़का हो तो मेरे पास आना।" इतना कहकर वह चला गया।

गर्भ परिपक्व होने पर उसने बोधिसत्व को जन्म दिया। बोधिसत्व इधर-उधर दौड़-भाग कर क्रीड़ा-भूमि में खेलते समय कोई-कोई (उसके संबंध में) कहते थे, "बिना बाप के ने हमें मारा।"

इसे सुन बोधिसत्व ने माता के पास जाकर पूछा—"माँ मेरा पिता कौन है?"

'तात, तू वाराणसी नरेश का पुत्र है।'

'अम्मा, क्या इसका कोई साक्षी है?'

'तात! राजा यदि लड़की हो तो इस अँगूठी को बेचकर लड़की को पालना, यदि लड़का हो तो अँगूठी के साथ उसे मेरे पास लाना कह कर यह अँगूठी दे गया है।'

'अम्मा! यदि ऐसा है तो मुझे क्यों पिता के पास नहीं ले चलती?'

उसने पुत्र का विचार जान राजद्वार पर जा राजा को कहला भेजा, और राजा के बुलवाने पर राजा को प्रणाम कर

कहा—'देव! यह तुम्हारा पुत्र है।'

राजा ने पहचानते हुए भी सभा में लज्जा के मारे कहा—'यह मेरा पुत्र नहीं है।'

'देव! यह तुम्हारी अँगूठी है इसे पहचानेंगे?'

'यह अँगूठी भी मेरी नहीं है।'

'देव! तब मेरे पास इस क्रिया के अतिरिक्त कोई दूसरा साक्षी नहीं है।'

'यदि यह बालक आप से पैदा हुआ है, तो आकाश में ठहरे, नहीं तो भूमि पर गिर कर मर जाए।' यह कह उसने बोधिसत्व को पैरों से पकड़ आकाश में उछाल दिया।

बोधिसत्व ने आकाश में पालथी मार बैठ, मधुर स्वर में पितृ-धर्म कहते हुए यह गाथा कही—

पुत्तो त्याहं महाराज! त्वं मं पोस जनाधिप। 'महाराज! तुम्हारा पुत्र हूँ। जनाधिप, तुम मेरा पालन करो। देव! तुम औरों का भी पालन करते हो, तो फिर अपनी संतान की तो बात ही क्या?' —(अनुवाद : भदंत आनंद कौसल्यायन)

इस कथा में भी पुत्र गौरव की भावना प्रबल है जो पारंपरिक भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक विचारधारा का वैशिष्ट्य है। 'कन्या हुई तो मेरे पास नहीं लाना और पुत्र हुआ तो उसे ले आना'—यह राजा का वक्तव्य इस संदर्भ में ग़ौर करने लायक़ है।

ज्योतिर्मयी देवी

जननी

चार बेटे, दो बेटी, पोते-पोती, नाती-नातिनों से समृद्ध भरा-पूरा घर। सारे के सारे बेटे मेधावी—एक प्रोफ़ेसर, एक डॉक्टर और दो वकील। घर में छाया रहे आनंद, सुबह से कब शाम हो जाए पता ही न चले और शांति नाम का शब्द तो बातचीत तक ही सीमित था।

देखने में सब ठीक-सा ही लगता था, लेकिन इन सब के पीछे निरंतर एक हल्की-सी खट्-खट् बड़े बेटे के बच्चे जोगेन को ले कर होती रहती थी।

जग्गू को माँ का अभाव महसूस न हो इसलिए दादी ने पोते की जो सम्हाल की और अपना अजस्र स्नेह उस पर ढाला था, वही इन दोनों (दादी-पोते) के लिए काल बन गया। बहस, विरोध, मन-मुटाव, तर्क-वितर्क जो कुछ भी उस घर में घटता वह सब अनायास ही दादी और जोगेन के पल्ले बाँध दिया जाता। ऊपर से नीचे तक सब इस बारे में एकमत थे कि माँ का रवैया जोगेन के प्रति अत्यधिक पक्षपातपूर्ण है।

नाराज़ होने के कई बहाने हो सकते हैं पर नाराज़गी के साथ बहुत सारी बातें भी उठ खड़ी होती हैं। महीने की पहली तारीख़ को ही हिसाब सुलटाते हुए मोदी, हलवाई, ग्वाला, धोबी और दर्ज़ी के साथ गली के नुक्कड़ की सर्वभंडार 'दुकान' से चाय के पैकेट, बिस्कुटों का बक्सा, माचिस के पूड़े, कमीज़ें, साड़ियाँ, धोतियाँ, नहाने के साबुन, कपड़े धोने का साबुन, काग़ज़, पेंसिल, स्याही आदि के साथ भी अनेक चीज़ों के बिल आ जाते थे।

पूरे महीने के बिलों का लेखा-जोखा लेते, किसी को थोड़े रुपए देते, किसी के रुपए अटकाते, किसी का पूरा हिसाब देते बड़े बेटे ने क्षुब्ध भाव से आ कर कहा, 'माँ! पिछले वर्ष ही तो इतने बिस्तर बनवाए थे। फिर इस बार भी क्यों!'

हतप्रभ भाव से माँ ने कहा, 'इस बार जग्गू के लिए बनवाई थी।' इतने में और दोनों बेटे भी वहाँ आ कर बैठ गए। नाराज़गी एक तरह की छूत है, जो बीमारी की तरह फैलती है। विरक्ति भरे स्वर में दूसरे बेटे ने कहा, 'और वे सब क्या किए? दूसरे पोते-पोतियों के लिए पिछले साल वाले?'

वे थे तो पर माँ ने जवाब नहीं दिया। इतने में मँझला बेटा बोला, 'माँ, तुम्हें तो बस जग्गू-जग्गू की रट लगी रहती है। उस दिन ही तो जग्गू के लिए क्या कुछ बनवाया था, और अब यह रजाई?'

माँ बोली, 'वह तकिया जग्गू के लिए था।' और उन्होंने कहना चाहा कि रजाई जोगेन की नहीं बिधू की है, पर

वे चुप रहीं।

माँ जानती थी कि यहाँ कुछ भी कहना निरर्थक है। इसीलिए वे चुप रहीं। बड़े बेटे खगेन्द्र ने कहा, 'ज़रा देखो पिछले महीने का दर्ज़ी का बिल? कितना बड़ा है। दूध का हिसाब दे गया है मोती ग्वाला, इस बार चालीस रुपए लगे हैं दूध के। चारों ओर से ही ख़र्च ज़ोरों से बढ़े हैं। हर बार दस रुपए की बढ़ोत्तरी हुई है। ख़र्च कम कभी नहीं हुआ।'

मँझला जगेन्द्र बोल पड़ा, 'हाँ, मुझे भी लग रहा है कि अब किसी को कोई चिन्ता नहीं है।'

बग़ल के कमरे में इकट्ठी बहू-बेटियाँ सब सुन रही थीं। माँ व्याकुल स्वर में बोलीं, 'अरे भई! इस महीने सगे-संबंधियों का आना-जाना, उन्हें भेंट-पत्र देना, बेटियों को बुलाना, विदाई करना, जमाइयों का आना-जाना और भाई दूज का त्यौहार सभी तो हुआ है, ख़र्च तो होगा ही। इस में इतना घबराने की क्या बात है!'

'और पहले? पहले भी कभी इतना ख़र्च हुआ करता था?' छोटे बेटे ने तमक कर पूछा।

माँ बोलीं, 'चीज़ों के दाम भी तो बढ़ गए हैं।' बात जबान पर आते-आते रह गई कि तब कहाँ सब के इतने बच्चे-कच्चे. . .परिवार भी तो बढ़ा है। यह सोच कर कि ऐसी बात जबान पर तो क्या मन में भी नहीं आनी चाहिए। बाहर से हँसती हुई पर भीतर ही भीतर रोती माँ के हृदयाकाश में उस समय का हिसाब चमक उठा।

किंचित व्यंग से तीसरे नंबर का नरेन्द्र बोला, 'अरे भई! तुम लोग हिसाब नहीं समझते हो!'

सब उसी स्वर में बोले, 'हाँ! ठीक ही है, हम कहाँ हिसाब समझते हैं।'

उन के इस व्यंग ने माँ को हतप्रभ कर दिया पर ऊपर से उन्होंने हँसने की चेष्टा की।

'माँ! तुम ने जग्गू को दुलार कर इतना बिगाड़ दिया है कि उस की बदमाशियों का अंत नहीं है। तुम्हें क्या पता कि अपनी पढ़ाई-लिखाई के बारे में वह कितना लापरवाह हो गया है। तुम्हें उस के हालचाल का कुछ पता भी है?' तीखे स्वर में छोटे बेटे ने कहा।

'छिः कैसी बातें कर रहे हो तुम लोग? क्या तुम्हारे कहने से ही यह बात सही मान ली जाएगी?' जग्गू की दादी ने अकुला कर कहा।

छोटे की बात को सहारा देते जोगेन के पिता बोले, 'ठीक ही कह रहे हो तुम। एक तरफ़ तो यह लड़का खा-खा कर ताड़ की तरह लंबा होता जा रहा है और इधर उस की बदमाशियों का कोई ओर-छोर नहीं है।' झुँझलाए स्वर में इतना कह कर वे भी माँ को तीखी नज़रों से घूरने लगे।

खाने की बात सुनते ही माँ का मन द्रवित हो उठा। सचमुच ही जोगेन को अच्छा खाने का शौक़ था। मातृहीन बच्चे को दादी ने कभी भी इस बारे में नहीं टोका। लेकिन अब अच्छे खाने के साथ उसे गालियाँ भी खानी पड़ती हैं।

कई तरह की चर्चाओं में जोगेन के साथ और दूसरे बच्चों की चर्चा भी हुई और फिर ख़र्च, आमदनी, कोर्ट-कचहरी के ख़र्चे की बात के बाद, कोई बाहर घूमने चला गया तो कोई अपने कमरे में चला गया।

साँझ ढलने लगी थी और रात्रि का अंधकार दालान में छाने लगा था। दीए की मद्धिम रोशनी में माँ माला फेरने लगीं, मानो अपनी वेदना को ही माला के जप के रूप में व्यक्त कर रही हों।

'तुम कुछ भी कहो सँझली, उन्हें इस का दोष कभी दिखता ही नहीं है।'

उस के बेटे के साथ जोगेन का झगड़ा हुआ था। सँझली बहू बोली, 'माँ भी कुछ नहीं कहतीं। एक तो पहला पोता है, फिर इस की माँ भी नहीं है।' (उस की माँ का भी अपने पोते में मोह था।)

'पोते तो सभी हैं।' सँझली बहू ने अप्रसन्नता ज़ाहिर करते हुए गंभीर गले से कहा और दूसरे कामों में लग गई।

निन्दा चाहे जिस की भी हो और चाहे जितनी छुपा कर की जाए पर जिस की बात होती है उस के पास वह पहुँच ही जाती है और केवल पहुँचती ही नहीं है, बहुत सारे मिर्च-मसाले के मिश्रण से सुशोभित भी हो जाती है।

माँ तो जैसे पत्थर हो गईं। उन पर बुढ़ापा नहीं आया लेकिन जड़ता आ गई। धीरे-धीरे घर का सारा काम और दायित्व उन्होंने छोड़ दिया। सुबह से ही ठाकुरबाड़ी के एकांत कोने में जा बैठतीं और शाम होने पर बच्चों को कहानियाँ सुनाने बैठ जातीं। बहुत यत्न से, बहुत आशा से और परम प्रेम से उन्होंने इस घर को सजाया था। पर उसे धीरे-धीरे इस तरह छोड़ दिया मानो उन का उस से कोई लेना-देना ही न हो।

बहुएँ बीच-बीच में पूछतीं, 'माँ यह बताइए? माँ यह कर देंगी?' माँ सारी बातें मृदु हास्य से स्वीकार कर लेतीं, लेकिन ज़रूरत पड़ने पर ठाकुरबाड़ी में ही पाई जातीं।

घर का काम-काज पुराने तरीक़े की जगह नए तौर-तरीक़ों से होने लगा। लेकिन इस से घर के संचालन में कोई फ़र्क़ नहीं आया और आराम से सब कुछ चलता रहा।

माँ के बारे में सब सोचते लेकिन समझ नहीं पाते कि वे बूढ़ी हो गई हैं या बीमार हैं। अब वे ज़्यादा दिन की नहीं हैं। सभी लड़के अपने मन में ऐसी बातें सोचते लेकिन चुप रहते। जो भी हो माँ के लिए मन में एक कसक तो थी ही। आदमी को अपने प्रपितामह द्वारा बनाए हुए तालाब के अचानक सूख जाने का कष्ट होता है तो फिर क्या उन को माँ के लिए दुख नहीं होता।

बेटे-बहू बार-बार पूछते, 'माँ कुछ चाहिए? माँ जग्गू के लिए कुछ चाहिए?' और यह पूछना हार्दिक मन से था इस में कोई अभियोग, व्यंग, दिखावा नहीं था।

'जग्गू को? क्या पता? सब तो है और फिर तुम लोग देख लो। मुझे?' माँ ने हँस कर कहा, 'नहीं बाबा अपने लिए मुझे क्या चाहिए? सब तो है।'

घर नियमानुसार चलता रहा। कइयों को कुछ ख़राब लगा होगा और कइयों को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा होगा।

'माँ को बुख़ार कब हुआ पता नहीं?' बड़े बेटे ने विरक्ति भरे स्वर में अपनी पत्नी से पूछा।

'हमें कैसे पता चलता? रोज़ नहाती हैं, पूजा करती हैं। बस सिर्फ़ खा नहीं पाती हैं। आज सुबह जोगेन ने आ कर कहा दादी बुला रही हैं, उन्हें बुख़ार है, तब हमें पता चला। फिर वे मुझ से कहने लगीं—भगवान भूखे हैं ज़रा पूजा कर दो।' जोगेन की विमाता ने उत्तर दिया।

'चलो, देख आएँ। बड़े विचित्र हो तुम लोग।' कहता हुआ बड़ा बेटा कमरे से बाहर निकला।

एक-एक करके चारों बेटे आ कर बैठ गए। माँ चुपचाप सोई रहीं। जोगेन उन के पास बैठा हुआ उन के माथे पर हाथ फेरता रहा।

बड़े बेटे ने माँ के सिर पर हाथ रखा और डॉ. भाई को कहा, 'सतू देख बुख़ार ज़्यादा लग रहा है।'

बेटे के हाथ का स्पर्श पा कर माँ को शीतलता का अनुभव हुआ। उस ने कहा, 'आह! बुख़ार कहाँ है। यूँ ही बस शरीर में दर्द हो रहा था इसलिए उठ नहीं पाई। तुम लोग बेकार में ही परेशान हो रहे हो।'

सुबह झूठ-मूठ की-परेशानी बता कर टाल जाने वाली माँ चुप्पी साधे सोई ही रहीं। अब वे आँखें भी नहीं खोल पा रही थीं।

तीन दिनों में ही इंजेक्शन, ट्यूब, ऑक्सीजन, ड्रिप आदि जैसे तरह-तरह के सरंजामों से घर की मेज़ें भर गईं।

सभी बेटे स्तब्ध भाव से माँ के मुँह की ओर ताकते रहते। माँ को दवा, दूध, अंगूर का जूस दिया? कितने औंस दिया? लिखा क्यों नहीं?

पैसा, सेवा-टहल, देखभाल, अकुलाहट सब कुछ कपूर की तरह उड़ जाता। इन सब से बेख़बर आँखें मुँदी रहतीं।

'माँ? दीदी को आज बुलवा भेजें। छोटी दीदी आई है।'

माँ ने एक बार आँख खोल कर कहा, 'ठीक है।'

जग्गू घूम-फिर कर बार-बार उसी कमरे के चारों ओर चक्कर काटता रहता। उस की आकुलता की ओर किसी की भी दृष्टि नहीं जाती। रात को जब सब विश्राम के लिए चले जाते, तब दादी की छाती के पास अपना सिर ले आता और वे अनजाने में ही हाथ उस के माथे पर रखतीं। उस के बाद ही फिर आँख मूँद लेतीं। कभी-कभी मन ही मन न जाने क्या-क्या बोलने लगतीं।

काम से छुट्टी पाते ही बेटे माँ के पास आ बैठते। उन के मन के कोने में बचपन के खेल-कूद, दुलार से ले कर मीठी फटकार और बहुत-सी छोटी-मोटी बातें, तर्क-वितर्क उभरते रहते? सचमुच वेदना की झिल्ली के पीछे खड़ी माँ सामने आ जातीं, आघात? वह भी माँ को? सब का मन धक हो रहता, उत्तर नहीं देता? क्या हो गया माँ को? अब तो वह जग्गू के लिए भी कभी कुछ नहीं बोलतीं। तो क्या माँ ने यह घर त्याग देने की ठान ली है।

रोगिणी के उदास, दुबलाए चेहरे की ओर आँख उठाते ही सब की आँखें भर आतीं। सब ने अपने भीतर अपनी बातों को छुपा रखा था। सब माँ की सेवा करने के लिए, देखभाल करने के लिए अंतर मन से लगे हुए थे। सब की बस एक ही आकांक्षा थी। माँ बोले। कारण-अकारण वो माँ के बारे में पूछताछ—कि शायद माँ कभी जवाब दे दे, लेकिन अंत तक मौन रहीं।

बुआजी का चौथा अभी हुआ भी न था कि माँ का कारज शुरू हो गया। पलंग, शारीन के तकिए उसी डिजायन की रजाई और गद्दा, महीन जाली की मच्छरदानी, कलश, बर्तन, कपड़े, गहने आदि अनेकानेक वस्तुओं से आँगन भर गया।

चार बेटों की तरफ़ से दान हुआ ही, लेकिन दादी का विशेष प्रिय पात्र और ज्येष्ठ पौत्र होने के नाते जोगेन की ओर से भी अलग दान का उपक्रम किया गया।

बुआएँ, माएँ, पिता, चाचा सब काम में जुटे हुए थे। जिस माँ को ले कर यह सब आयोजन हुआ था उसे किसी ने भी याद नहीं किया। बस, कभी-कभी किसी नए अतिथि के आ जाने पर ही बात मन में आती थी कि माँ नहीं रहीं।

जग्गू क्या करता है, क्या खाता है, खाता भी है कि नहीं, कहाँ रहता है, कैसे रहता है, इस ओर ध्यान देने का समय किसी के पास नहीं था। कभी-कभार छोटे चाचा आवाज़ देते तो काग उड़ाने-सा हड्डियों का ढाँचा और वैसे ही बाल, लंबी पतली काठी, कंधे पर सादा दुपट्टा रखे जग्गू एक विचित्र लोक का बालक-सा लगता। कारण पूछने पर झूठी हँसी चेहरे पर लाते ही आँसू टपकने लगते।

तीसरा पहर बीतने वाला था कि जग्गू की खोज होने लगी, 'जग्गू-जग्गू अरे, कहाँ है? बुलाओ भई जल्दी से बुलाओ, अब कारज का काम शुरू करना है।'

कीर्तन की सुसज्जित सभा आत्मीय स्वजनों की भीड़ से ठसा-ठस भरी हुई थी। एक दुबले-पतले बालक को वहाँ लाया गया। पिता ने कहा, 'जग्गू कहाँ थे तुम। आओ, यहाँ आओ।'

अचरज से भरी बड़ी आँखों से बच्चे ने पूछा, 'क्यों?'

'आसन पर बैठो।'

पुरोहित ने कहा, 'आओ बेटा यहाँ आ कर बैठो।' जग्गू ने पूछा, 'क्या करना है।' 'तुझे ही तो दादी को दान पुण्य करना है।' सजी हुई अनेकानेक वस्तुओं की ओर इशारा करके उन्होंने कहा।

बच्चे ने उसी लहजे में फिर पूछा, 'किसे? कौन, करेगा दान?'

'ओहो भई, बैठ भी ना और ले यह मंत्र पढ़।'

जग्गू अबोध बच्चे की तरह थोड़ी देर चुपचाप देखता रहा, पर उत्सर्ग के मंत्र पाठ के होते न होते कुश की अँगूठी और सफ़ेद दुपट्टे को एक ओर फेंक वह ज़मीन पर लोटता हुआ ज़ोरों से फूट-फूट कर रो पड़ा, 'दादी माँ। इन लोगों ने यह सब पहले तुम्हें क्यों नहीं दिया. . .।' कीर्तन वाले कमरे में ही अधिक लोग थे। उस में जो भी दो-चार आत्मीय स्वजन थे वे आ कर चाचा से पूछने लगे, 'क्या हुआ? यह इतना रो क्यों रहा है?'

बच्चा तब तक आँखें पोंछ, चुप्पी साध कर बैठ गया था।

'क्या हुआ था? चुप क्यों हो? जवाब क्यों नहीं देते? क्या हो गया था तुम्हें।' आदि स्वर हवा में तैरने लगे।

सब लोग आपस में बतियाने लगे आह बिचारा बहुत दुखी है। छोटे चाचा फुसफुसाते स्वर में पूछने लगे, 'जग्गू क्या हुआ था बेटे? ठीक हो ना?'

जग्गू की आँखों से अविराम अश्रुधारा बहती जा रही थी। धीमी आवाज़ में उस ने जवाब दिया, 'पहले तो तुम लोगों ने उसे कुछ दिया नहीं। सिर्फ़ डाँटते ही रहे, और अब इतना सामान?'

हठात् बालक आसन छोड़ कर यह कहता हुआ उठ खड़ा हुआ कि 'मैं अपनी मरी हुई दादी माँ को कुछ नहीं देना चाहता।'

छोटे चाचा की आँखें भर आईं। बाक़ी के भाई हक्के-बक्के स्तब्ध खड़े देखते रह गए।

बाङ्ला से अनुवाद : **भारतीय भाषा परिषद् के सौजन्य से**

विजयमोहन सिंह

'ग़मे हस्ती का हो किस तरह. . .'

नगर में या कहना चाहिए उस संपूर्ण प्रभाग में उन का बहुत सम्मान था। प्रायः सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति उन के सौध में कभी न कभी आतिथ्य सुख प्राप्त कर चुके थे।

प्रत्येक दिन संध्या होते ही वहाँ चहल-पहल प्रारंभ हो जाती। ऐसा प्रतीत होता मानो कोई विशेष उत्सव हो रहा हो। ग्रीष्म ऋतु में हरी दूर्वा वाला वह विशाल प्रांगण शीतल जल से भली भाँति सिंचित कर दिया जाता था। उस पर यत्र-तत्र अनेक मेज़ें सुव्यवस्थित ढंग से स्थापित कर दी जाती थीं। प्रत्येक पर दुग्ध-धवल आवरण पड़ा होता था और उन पर अनेकानेक वर्णों वाले पुष्पस्तबक पीतल के पात्रों में स्थित कर दिए जाते थे। चतुर्दिक खस, केवड़े तथा गुलाब आदि की सुगंध वातावरण में व्याप्त होती। उन के चारों तरफ़ उस समय की प्रचलित ऊँची पीठाधारों वाली कुर्सियाँ रखी होतीं। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर लंबे पंखों वाले यंत्रचालित पंखे लगे होते। एक स्थल विशेष पर त्रिकोणात्मक काष्ठ-वेदी बना दी जाती जिस पर भाँति-भाँति के विदेशी मद्योपचषक तीव्र प्रकाश में झिलमिलाते रहते।

. . .क्रमशः अतिथियों का आगमन प्रारंभ होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे किस वर्ग या वृत्ति के व्यक्ति होते थे : अभिजात वर्ग के राजपुरुष, उच्च शासन अधिकारी जिन में नगर संचालक ज़िलाधीश आदि से ले कर न्यायाधीश, प्रमुख अधिवक्ता, दंडाधिकारी आदि सभी होते थे। चूँकि उस नगर में इस भद्र लोक के अनुरूप कोई स्तरीय आमोद गृह नहीं था, इसलिए इस सौध के सहज सुलभ आतिथ्य आप्लावित स्थल से अधिक श्रेष्ठ प्रमोद गृह और क्या हो सकता था! . . .यह कहना भी व्यर्थ होगा कि इस अतिथि समूह में सभी व्यक्ति देशज ही होते थे। गौरांग महाप्रभुओं का भी अभाव नहीं होता था।

. . .शनैः शनैः वातावरण में बहुमूल्य तंबाकू वाले पाइप, सिगार, 555 तथा 'स्टेट एक्सप्रेस' की सिगरेटों, विभिन्न प्रकार के मद्यों, प्रसाधन उपकरणों तथा नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों—केसरयुक्त बिरियानी, रोगनजोश आदि—की सुगंधि से युक्त अपूर्व गंध संभार निर्मित हो कर वातावरण में हिलोरें लेने लगता था।

वार्तालाप अपवादहीन रूप से आँग्ल भाषा में ही होता था। यदि भूल से कोई हिन्दी शब्द आता भी था तो 'हाइकू' काव्य में मेंढक की भाँति ही। आयोजन के प्रारंभ में तो ये भद्रजन यूडीकोलोन, लैवेंडर आदि की सुगंधि के बावजूद कार्यालयीय दिनचर्या के पश्चात किंचित श्लथ ही दिखते थे। उन की वार्ता भी अत्यंत औपचारिक होती

थी। किन्तु उन के बीच विचरते मद्यचषक लिए परिचारकों की दो-तीन आवृत्तियों के पश्चात उन्हें अपने ही स्वरों के आरोह-अवरोहों का स्वयं भान नहीं रह जाता था। एक मेज़ की वार्ता दूसरे मेज़ की वार्ता को काटती हुई परस्पर उलझने लगती थी। कभी कोई दूसरी मेज़ की बात को अपनी मेज़ की बात समझ कर उत्तर देने लगता था, फिर अपनी कही हुई बात भूल कर दूसरे की बात को अतिरिक्त गंभीरता से सुनने का यत्न करने लगता। फिर सभी मेज़ें एक दूसरे में उलझ कर गड्डु-मड्डु हो जातीं। शब्दों और दृश्य के बीच एक धुँधलका-सा घिर आता। कुछ ऐसे भी होते थे जो अपने पद तथा स्तर का ध्यान आते ही अधिकारपूर्ण विनम्रता से विदा ले कर प्रस्थान कर जाते।

किन्तु इस से सांध्य सभा में कोई व्यतिक्रम नहीं उपस्थित होता था। वह रात्रि के अंधकार के साथ उत्तरोत्तर प्रकाशपूर्ण होती जाती। वार्ता के विषय अनेकानेक होते : शासन-प्रशासन, स्वतंत्रता, गाँधी, नेहरू, जीवन-मरण आदि से ले कर 'दिस डैम सिटी' और 'रैचेड लाइफ़' तक।

विलंबित से द्रुत होती हुई यह वार्तालय तराने पर आ कर तान तोड़ने लगती। शब्दों, वाक्यों के बीच मौन के अंतराल आने लगते, उच्चरित शब्दों, खंडित वाक्यों के साथ देह-दोलन आदि भी सम्मिलित हो जाते : 'आई डैम केयर, डैम इट, हेल, हू बॉदर्स, नथिंग मैटर्स' आदि शब्दों के बाद शरीर की भल्लूक-नृत्यवत मुद्राएँ भी सहभागिता करती रहतीं।

. . .क्षुधावर्धक सुगंधित भोज्य पदार्थ बिखेर दिए जाते अथवा उन्हें ग्रहण करने का रोचक प्रयास भी चलता रहता : यथा, उद्देश्य तो यह होता कि पैंट या कोट की जेब से रूमाल निकाला जाय, किन्तु हाथ में बिरियानी से भरी चम्मच होने के कारण रूमाल तो वर्हिगत होता नहीं, बिरियानी अवश्य जेब के अंतर्गत हो जाती।

. . .सांध्य प्रमोद के इस स्तर तक आ कर सभा प्रायः विरल होने लगती। लोग यह परिलक्षित करने में भी असमर्थ होने लगते कि कौन किस दशा या स्थिति में विदा हो रहा है। सांध्य सभा का अर्धरात्रि में समापन कर अपने वस्त्रों को मद्य तथा भोज्य पदार्थों की विविधवर्णी गंध से विभूषित कर अतिथिगण अपने वाहन-चालकों अथवा परिचारकों के कंधों को भुजाओं से आवेष्ठित कर पाँवों से प्रायः हवा में क़दम रखते हुए और उन के पाँवों से चलते हुए वाहनों तक पहुँचते। परिचारक साँध-सभाओं के इस पटाक्षेप की कुतूहल से प्रतीक्षा करते। उस रंगमंच पर इसे अभिनीत देखने की अभिलाषा में वे मद्य वितरण की आवृत्तियों को अधिक त्वरित कर देते।

. . .गृहस्वामी की सामान्य दिनचर्या का यह प्रिय खिलवाड़ था। वे स्वयं इन 'नित्य विलासी' व्यक्तियों से प्रायः तटस्थ ही रहते। ऐसे आयोजनों का आनंद वे कम उठाते, उपयोग ही अधिक करते। वे सभी उच्च अधिकारी इन आयोजनों से उपकृत तथा कृत्कृत्य हो कर प्रतिदान के लिए निरंतर प्रस्तुत रहते। फलतः गृहस्वामी को अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाली संपत्ति और संपदा के संचालन में कोई असुविधा नहीं होती थी। कभी उदारमना हो कर यदि अपनी प्रजा के उपकार या उद्धार के लिए कुछ करना चाहते थे तो अधिकारी वर्ग का संपूर्ण सहयोग सहज ही प्राप्त हो जाता था। बल्कि ऐसा करके उन्हें कृतज्ञता-ज्ञापन का सुअवसर ही मिलता था।

. . .दिन ऐसे ही हर्षोल्लास के वातावरण में व्यतीत हो रहे थे। बाहर यदि स्वतंत्रता-प्राप्ति का संघर्ष अपनी परिणति तक पहुँच रहा था तो गृहस्वामी को चिन्ता केवल इस बात की थी कि देश की स्वतंत्रता के पश्चात उन के इस कुटीर उद्योग का क्या होगा। ऐसी अशुभ सूचनाएँ दिन-प्रतिदिन आ रही थीं कि स्वतंत्रता के पश्चात उन के इस स्वायत्त संपत्ति-संस्थान का केन्द्र-शासन में विलयन हो जाएगा।

. . .यह कुटीर उद्योग उन्हें बिना किसी उद्यम के ही प्राप्त हो गया था। इस की भी एक लंबी कथा है जिसे मैं अति संक्षेप में बताने का यत्न करूँगा : वे मूलतः सुदूरपूर्व के निवासी थे। उन के पिता भक्त प्रकृति के धार्मिक व्यक्ति थे। तीर्थाटन करना और लंबी अवधि तक तीर्थस्थलों पर रहना उन का प्रिय व्यसन था। इसी क्रम में उन्हें

इस प्रांतर में पीठासीन एक समृद्ध संत प्राप्त हो गए थे जिन्हें उस शिक्षित तथा राजर्षि, समर्पित भक्त के प्रति अनुराग हो गया था। वृद्धावस्था में जब उन्हें ज्ञात हुआ कि वे एक असाध्य रोग से पीड़ित हैं तो उन्होंने उस भक्त से अनुरोध किया कि वे उन के पश्चात इस पीठ के स्वामी हो जाएँ। किन्तु उस भक्त को किसी भी भाँति यह प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं था। अतः अनुरोध-प्रतिरोध की अनेक आवृत्तियों के पश्चात उन्होंने अपने इस किशोर पुत्र को इस गुरु दायित्व को वहन करने के लिए प्रस्तुत किया। पीठाधीश संत को भी यह प्रस्ताव उचित ही प्रतीत हुआ और कालांतर में वे अपना 'गुरुधाम' इस मेधावी किशोर को सौंप कर स्वर्गवासी हो गए। दैव-दुर्विपाक से इस किशोर के पिताश्री भी शीघ्र ही उसी पथ के अनुगामी हुए।

उस किशोर ने अपनी प्रतिभा तथा अध्यवसाय से उस पीठ का ऐसा आधुनिक रूपांतरण किया।

. . .वे साधना से अधिक शासन में रुचि लेने लगे और इस भाँति शासन-तंत्र के निकट आ कर यशस्वी हुए।

. . .गृहस्वामी को युवराज के अतिरिक्त दो पुत्रियाँ भी थीं : प्रथमा और चपला। गृहस्वामिनी अत्यंत शालीन, मृदुभाषिणी तथा प्रायः अलक्षित ही रह कर गृह-संचालन करने की कला में कुशल थीं। उस समय की परंपरा के अनुरूप ही वे विशेष शिक्षित नहीं थीं किन्तु कुलीनता के कारण इस का अभाव उन के व्यक्तित्व में कहीं परिलक्षित नहीं होता था।

. . .राजकाज की व्यस्तताओं के वावजूद स्वाभाविक रूप से गृहस्वामी को पुत्रियों के विवाह की चिन्ता भी लगी ही रहती थी। प्रथमा और चपला के वय में विशेष अंतर नहीं था और दोनों ही विवाह के योग्य हो चली थीं। चपला का शारीरिक विकास अधिक द्रुत गति से हुआ था। प्रथमा के पीतवर्ण, क्षीण वपु के विपरीत उन में आवेग ऊष्मा तथा यौवन की अरुणाभा थी। उन में जीवन के प्रति उल्लास का भाव भी अनुक्षण परिलक्षित होता रहता था। प्रथमा यदि पीत कनेर थीं तो चपला रक्त-करवी। पुस्तकों से चपला को परहेज़ था। संगीत प्रिय था किन्तु शोख़, थिरकते हुए तथा उच्च स्वर में गाए जाने वाले गीत ही उन्हें प्रिय थे।

विशाल बैठकख़ाने के कोने में रखे उस के आकार के अनुरूप ही विशाल आबनूसी काले पियानो की ध्वनि उन्हें प्रिय न थी, जिसे प्रथमा कभी ग्रीष्म की शांत निश्चल दोपहरी में अनजाने ही धीमे-से छेड़ देती थी। स्वरों का चयन भी वे इस प्रकार करती थीं जो आघातहीन से नीरव-प्राय छोटे-छोटे बुलबुलों की भाँति तरंगें उठाते और विलीन होते रहते थे। उन्होंने किसी श्रोता के सम्मुख पियानो कभी नहीं बजाया और उन के अतिरिक्त उस गृह में किसी ने पियानो बजाना सीखा भी नहीं था। किन्तु पियानो का होना वैसे घरों की अनिवार्यता थी।

चपला को कोई विशेष वाद्ययंत्र प्रिय नहीं था। हाँ, अंतःपुर के प्रांगण में ही निर्मित कोर्ट में वे बैडमिंटन नियमित रूप से खेलती थीं। वह खेल उन के चपल स्वभाव से मेल भी खाता था। अपनी सखियों के संग वे उसे मात्र शारीरिक संचलन द्वारा ही नहीं खेलती थीं बल्कि मौखिक रूप से अपनी जिह्वा को भी उसी गति से संचालित रखती थीं। शब्दों तथा स्वर-फुहारों से गुंजित यह क्रीड़ा दृश्यमान न होने वाले लोगों को भी बाहर से कर्णप्रिय लगती थी।

सहसा सौध में यह सूचना बड़वाग्नि की भाँति फैल गई कि प्रथमा का विवाह शीघ्र होने वाला है। प्रायः सब ने इस सूचना के स्रोत तक पहुँचने का प्रयास किया। पता चला कि उसी क्षेत्र के एक राजकुल के एक पितृविहीन राजपुत्र के साथ प्रथमा का विवाह होना निश्चित हुआ है। स्वाभाविक रूप से इस संबंध में सर्वाधिक जिज्ञासा प्रथमा को ही रही होगी। सर्वप्रथम तो वे इस सूचना से ही प्रसन्न नहीं थीं। वे अपनी वर्तमान स्थिति से इतनी आश्वस्त तथा संतुष्ट थीं कि इस से पृथक किसी अन्य परिवेश में जीने की कल्पना भी नहीं कर सकती थीं। वे इस सूचना से खिन्न तथा अप्रसन्न हुईं।

उन्हें इस राजपुत्र के अनेक चित्र दिखाए गए। प्रत्येक चित्र में वह राजपुरुष ही दीख रहा था : गले तक बंद

शेरवानी में अकड़ कर बैठी हुई सुपुष्ट देह-यष्टि, अंडे के आकार वाला तथा प्रफुल्ल कपोलों वाला मुखानन, विशाल नेत्र, धनुषाकार भौंहें, लघु कुंचित केश। चित्र की सब ने सराहना की। केवल प्रथमा को उस में अभाव ही अभाव दीखा। अर्थात् एक तो उस मुखानन में कोई भावाभिव्यक्ति नहीं थी, मात्र एक दर्पयुक्त उग्रता ही थी। प्रथमा को उस में अपनी पुस्तकों के सहज संवेदनशील 'स्वप्न पुरुष' कहीं नहीं दिखाई पड़े। प्रथमा ने अपनी अनिच्छा को व्यक्त भी किया। स्वभावतः वे अपनी माँ से ही यह कह सकती थीं। इसे गृहस्वामी ने भी सुना तथा अन्य परिजनों ने भी। किन्तु गृहस्वामी के अतिरिक्त सब के विचार थे कि कुलीन कन्या द्वारा ऐसी प्रतिक्रिया स्वाभाविक तथा प्रशंसा के योग्य ही है परंतु इस से कोई विशेष अर्थ नहीं निकालना चाहिए, न इसे गंभीरता से ग्रहण करना चाहिए। गृहस्वामी अपनी पुत्री को जानते थे, उस का प्रतिरोध असंगत तथा अकारण नहीं हो सकता। कुछ दिन इसी उधेड़बुन में व्यतीत हो गए। तत्पश्चात परिजनों ने अपना असंतोष व्यक्त किया : राजपुत्र उत्तम कुल गोत्र का है, यथेष्ट भूमि तथा संपत्ति का स्वामी है, स्वस्थ, युवा एवं रूपवान है। विवाह जैसे सनातन संबंधों के लिए इस के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा जाता। प्रथमा अब पूर्ण युवती हैं। व्यर्थ समय गँवाने की आवश्यकता नहीं है। इस के अतिरिक्त भारत की स्वतंत्रता का संकट आसन्न है। उस के पश्चात न स्वशासन रहेगा, न यथेष्ट धन-जन। दो-दो अविवाहिता पुत्रियों का पिता हो कर जीना कठिन हो जाएगा। शुभ कार्य में विलंब नहीं होना चाहिए। राजपुरुष तथा अन्य शास्त्र-पारंगत पुरुषों ने भी यही राय दी। . . .पश्चिमी परिवेश तथा शिक्षा-दीक्षा में पले-पनपे गृहस्वामी के जीवन में पहली बार उस की निस्सारता का अनुभव हुआ। याद आए पिताश्री तथा उन के ज्ञानी गुरु जिन की 'थाती' उन के सुपुर्द है। उन्होंने स्वयं को प्रताड़ित किया। व्यर्थ गया वह ज्ञान, शिक्षा-दीक्षा, उदार विकासशील विचारों का जगत। वास्तविक युद्ध तो तुम्हें इस भूमि पर इन प्रश्नों, संकटों तथा समस्याओं से करना है। वह सब मानो अवास्तविक तथा मरीचिका थी। निरंतर उन्मथित तथा उद्विग्न रहने के पश्चात अंततः गृहस्वामी ने प्रथमा का विवाह उसी सुयोग्य राजपुरुष से करने का निर्णय किया।

. . .इस के बाद कथा में थोड़ा व्यवधान है। कुछ प्रामाणिक सूचनाओं का भी अभाव है, फिर भी चपला के साथ घटी घटनाओं के पश्चात हम पुनः कथा के इस सूत्र को पकड़ने के लिए प्रत्यावर्तित होंगे।

. . .प्रथमा के विवाहोपरांत स्वभावतः चपला का विवाह भी होना ही था : अनेक स्थलों पर पंडित, पुरोहित, नापित आदि भेजे गए। अनेक स्थलों से चित्रों आदि का आदान-प्रदान हुआ। वैवाहिक संबंध निश्चित रूप से ईश्वर के यहाँ ही निर्धारित होते हैं—कभी तो चट मँगनी पट ब्याह, और कभी वर्ष के उपरांत वर्ष व्यतीत होते रहते हैं लेकिन संबंध नहीं जुड़ते। गृह-नक्षत्र जुड़ भी गए तो कुछ ऐसे व्यावहारिक व्यवधान होते हैं जो अनुलंघ्य ही बने रहते हैं।

चपला के विवाह के संबंध में भी कुछ ऐसा ही हुआ। चपला रूप तथा शरीर-विकास की दृष्टि से श्रेष्ठतर थीं। किन्तु उन की चाल-ढाल में अज्ञात-यौवना बने रहने का भाव था, एक खिलंदड़ापन भी था जो उन्हें इन चर्चाओं से विरत ही रखता था।

. . .अंततः वह 'काल-दिवस' आ ही पहुँचा। समाचारपत्रों तथा आकाशवाणी आदि से ज्ञात हुआ कि भारत स्वतंत्र हो गया। अनेकानेक गृहस्वामियों के लिए यह 'देव संस्कृति' का विनाश था। उन्हें इस सूचना में '. . .गया सभी कुछ गया. . .' का हाहाकार सुनाई पड़ा। ऐसे गृहस्वामियों की संख्या लाखों-करोड़ों में थी। उन पर आश्रित परिवारों, संबंधियों आदि को मिला कर एक तत्कालीन इतिहासकार के अनुसार यह संख्या एक करोड़ तीस लाख थी। यानी देश की इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए यह उन की स्वतंत्रता का अपहरण था। अनेक नगरों, उपनगरों, ग्रामों में अनेकानेक गृहस्वामियों के लिए यह. . .'देव दंभ के महायज्ञ में सब कुछ हो गया हविष्य'. . .था।

. . .गृहस्वामी भी अपना सब कुछ होम होता हुआ देख रहे थे। स्वामित्व की सीमाएँ सहसा अत्यंत सीमित हो गई थीं। राजकरों, शुल्कों आदि का आगमन समाप्त हो गया था। पीत सौध बंद और वीरान-सा हो गया। नित्यविलासी व्यक्तित्वों का आगमन भी समाप्त हो गया और सांध्य समारोह का वह गुंजरित सुवासित परिवेश भी शून्य में विलीन हो गया। 'विकल रागिनी तथा हाहाकार स्वर' ही शेष रह गए। नियति नटी का क्रूर विधान। स्वर्ण-पीत सौध विवर्ण हो कर धूसर हो गया। परिचारक-परिचारिकाओं की संख्या कृष्णपक्ष के चंद्रमा की भाँति घटती जा रही थी। हरित प्रांगण की दूब पीली पड़ कर सूखे तृणों में परिवर्तित होने लगी। चहल-पहल, चुहल का हर्षोल्लासमय वातावरण नीरव हो कर सौध को भयावह बनाने लगा। सौधवासी अकाल-वृद्ध हो कर विभिन्न कोटरों में पंख-विहीन पक्षियों की भाँति सिकुड़े हुए इस 'प्रलय प्रवाह' को देख रहे थे।

. . .अंततः ऐसे ही वातावरण में एक दिन चपला का विवाह संपन्न हुआ। एक राजवंश का कनिष्ठ कुमार ही इस राजकन्या का पाणिग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हुआ था।. . .गृहस्वामी जो अब अपने प्रकोष्ठ तथा निजी कार्यालय से बाहर कम ही आते थे, प्रातःकाल से दिवसावसान के समय तक अपने कुछ विश्वस्त व्यक्तियों के साथ काग़ज़ात के पर्वताकार ढूह में से उन 'सार्थक' दस्तावेज़ों, हुंडियों, भूमि-स्वामित्व संबंधी उन प्रमाण-पत्रों तथा देय-पत्रों को ढूँढते रहते जिन से अब भी अर्थोपार्जन का उपाय हो सकता था। उन के चश्मों के शीशे और मोटे होते जा रहे थे और निरंतर स्फटिक की भाँति धवल रहने वाले वस्त्र अब किंचित मलिन-से दीखने लगे थे।

. . .चपला का विवाह जिस कनिष्ठ राजपुत्र से हुआ, वह वय में उन से प्रायः एक दशक से अधिक वरिष्ठ था और क़द में प्रायः दो इंच छोटा था। राजपुत्रों के अनुरूप उस की देह-यष्टि का विकास नहीं हुआ था और युवा-दीप्ति से युक्त चपला के सम्मुख वह क्षीण वपु तथा विवर्ण ही दीख रहा था।

. . .अग्निकुंड के चतुर्दिक सात पवित्र आवर्तों के समय अंतःपुर से आने वाले मांगलिक गीतों की ध्वनि में मानो प्रच्छन्न आर्तनाद था।. . .गृहस्वामी हल्दी-रंगे पवित्र वस्त्रों में अपनी सुपरिचित आभिजात्य पूर्ण गरिमा के विपरीत एक कातर दीन-हीन-से प्राणी दीख रहे थे। विवाहोत्सव में न उत्सव था न मांगलिक परिवेश का उत्साह। मात्र विधि-विधान के निर्वाह की श्लथ औपचारिकता थी।

इसी क्रम में शीघ्र ही गृहस्वामी की दूसरी कन्या चपला का विवाह भी संपन्न हुआ। चपला अपने वर के साथ पितृ गृह से वियुक्त हो कर पतिगृह चली गई।

. . .चपला की मृत्यु की सूचना अगले ग्रीष्म की दोपहरी में जब गृहस्वामी को दी गई तो वे स्वयं मृत्युशय्या पर थे। इस से पूर्व यह पता चला कि चपला राजयक्ष्मा से पीड़ित है। तब उन्हें श्वसुरगृह से कुछ दिनों के लिए बुला लिया गया था तथा अनेक विख्यात चिकित्सकों से उपचार कराया गया था। जिन्होंने विवाह से पूर्व वाली चपला को देखा था उन के लिए यह विश्वास करना कठिन हो गया था कि यह 'कंकाल कन्या' चपला हो सकती है। विशाल उज्ज्वल नेत्र कोटरों में चले गए थे, कलाइयाँ तथा हथेलियाँ शुष्क चर्म की सिकुड़नों से भरी अस्थियाँ मात्र रह गई थीं। वह निरंतर हाँफती हुई कंकाल काया मात्र थी। मृत्यु जिस प्रकार छलाँग लगाती हुई उस काया में प्रवेश कर रही थी उस में अनुमान लगाने या उम्मीद करने का अवकाश ही नहीं रह गया था। केवल पपड़ी पड़े नील-वर्ण ओठों पर एक क्षीण-सी मुस्कान पड़ी रहती मानो उस के होने का संबंध उन के अस्तित्व से न रह गया हो। चिकित्सकों द्वारा हताश कर दिए जाने के बाद एक दिन राजपुत्र वर आ कर उन्हें पुनः पतिगृह ले गया।

. . .गृहस्वामी विमूढ़ से यह क्रिया-व्यापार देखते रहे थे। क्या ये कृत्य उन्हीं के नहीं हैं? ये परिणतियाँ किस की हैं? उन्होंने उन सांध्य समारोहों को ही जीवन का पर्याय मान लिया था। संपदा तथा सुविधाएँ जिस प्रकार अयाचित ही उन के पास आ गई थीं उन्हें उन्होंने 'सयाने' की भाँति दोनों हाथों उलीचा था। अब वे उस के तल

में कीचड़-सने खड़े थे। क्या जीवन इसी तरह इतनी जल्दी ही रिक्त हो जाता है!

. . .सब कुछ उन्हें अभिशाप की भाँति लग रहा था। वे विक्षिप्त-से हो गए थे : उस पीठासीन महंत की इस अभिशप्त भूमि में ही यह सब निहित था। अन्यथा एक के बाद एक आपदाओं का यह करकापात क्यों होता। कुछ ही दिनों पूर्व सूचना आई थी कि प्रथमा एक पुत्री की माँ बन गई हैं किन्तु प्रसूति-गृह से बाहर आने के बाद से ही वे कुछ विक्षिप्त-सी रहने लगी हैं। वे उस नवजात कन्या को अपनी पुत्री ही नहीं स्वीकार रही हैं। वे यह भी अस्वीकार रही हैं कि वे माँ बन गई हैं।

. . .अतः गृहस्वामी के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि यह भूमि ही अभिशप्त है। अनेक मंत्रसिद्ध योगी, तांत्रिक आदि बुलाए गए। कुछ स्वयं यह दावा करके आए कि वे अवश्य ही शीघ्र इस भूमि को अभिशाप-मुक्त कर देंगे। कई स्थलों पर भूमि को खोदा गया। अहर्निश मंत्रोच्चार, हवन, पूजन आदि का आयोजन किया गया। पत्रं पुष्पम के साथ ही रजत, स्वर्ण आदि का दान भी किया गया। इन सब कार्यों में पर्याप्त धन व्यय हुआ।. . .कुछ काल तक यह क्रम चलता रहा और तत्पश्चात सभी योगी, संत, मंत्रसिद्ध महात्मा, तांत्रिक आदि इस भूमि का शुद्धिकरण करके चले गए। वर्षागम के साथ ही स्थल-स्थल पर खोदे गए उन गड्ढों में अशुद्ध मलिन जल भर गया। सौध तक पहुँचने वाला प्रांगण भी कीचड़ का मैदान बन गया। उस विशाल मैदान को पार करने में कठिनाई ही नहीं होती थी बल्कि कुछ स्थूलकाय व्यक्ति (जिन में दुर्भाग्य से स्त्रियाँ भी होती थीं) उस पिच्छल भूमि में भूलुंठित हो जाते थे। निरंतर खुले रहने वाले द्वारपाल-विहीन द्वारों से कुक्कुर, विलाड़ तथा गाय-भैंस जैसे कुछ पवित्र प्राणी भी निर्बाध रूप से प्रविष्ट होते रहते थे और 'जल-विहार' किया करते थे। वर्षा की अंधकार-ग्रस्त रातों में श्वान वर्षा से त्रस्त हो कर रुदन करते तो गृहस्वामी इसे भी अभिशाप की ही अमंगल ध्वनि मानते थे।. . .वे निरंतर आश्वस्त होते गए कि अतीत में जिस ने भी इस अभिशप्त भूमि को 'धर्मस्व भूमि' के रूप में दान किया होगा वह निश्चय ही इस गोपन रहस्य को जानता होगा।

. . .इसी बीच उन्होंने अपने बचे-खुचे स्रोतों से धन-संचय करके राजनगर में एक भवन क्रय करने का यत्न भी किया। उन के परिवार के एक मित्र ने जो स्वयं राजवंश के थे, अपने एक भवन को बेचने का प्रस्ताव भी रखा। किन्तु गृहस्वामी उसे ख़रीदने का निर्णय करके राजनगर गए और उसी भवन में ठहरे तो सहसा अस्वस्थ हो गए। फलतः भवन ख़रीदने की योजना स्थगित कर दी गई और वे चिकित्सकों से अपनी व्याधि का निदान कराने लगे।

. . .उस भवन में पहुँच कर गृहस्वामी अत्यंत प्रसन्न हो गए थे। राजनगर के उस सुरम्य आभिजात्यमय परिवेश में निर्मित यह दो-मंज़िला भवन अत्यंत शांत तथा सुनिर्मित था : बड़े-बड़े गवाक्ष, जिन में आलिन्द भी बने हुए थे। छह शयन-कक्ष थे, दोनों मंज़िलों पर विशाल हॉल थे। बहुमूल्य लकड़ी तथा पीतल-ताम्र आदि का प्रचुर उपयोग उस के निर्माण में हुआ था। द्वारों के भीतर पदों का स्वागत करती मोटी-मोटी बहुमूल्य क़ालीनें थीं। अर्धचंद्राकार बरामदे तथा क़द्दावर गोल खंभों वाले उस भवन को देख कर ही गृहस्वामी मुग्ध हो गए थे और उन्होंने तत्काल अपना सब कुछ अर्पित कर उसे ख़रीदने का निर्णय कर लिया था।

. . .अब उस भवन के ऊपरी कक्ष में पर्यंक पर गावतकिए के सहारे अधलेटे गृहस्वामी सोच रहे थे वह भूमि तो अभिशापग्रस्त थी, यह तो नहीं!. . .'फिर ऐसा क्यों? ऐसा क्यों?'

. . .वस्तुतः अनेक प्रकार की परीक्षाओं के पश्चात चिकित्सकों ने आज ही निदान किया था कि उन्हें गले का कैंसर है।. . .गृहस्वामी ने मद्यपान बंद कर दिया था किन्तु उन के हाथ में अब भी निरंतर 555 का टिन रहता था। पिछले दिनों पारिवारिक तथा परिवेशजन्य आघातों से चिन्तातुर हो कर उन्होंने उँगलियों में फँसी सिगरेट से ही सिगरेट जलाना प्रारंभ कर दिया था।

उस दिन प्रातः भृत्य उन्हें चाय देने गया तो उन्होंने कहना चाहा कि वह दो क्रीम-क्रैकर बिस्कुट भी ले आए लेकिन उन के कंठ से ध्वनि ही नहीं निकली। झुँझला कर उन्होंने गला साफ़ कर फिर कहने का प्रयास किया किन्तु फिर भी प्रयास विफल ही रहा। अनेक प्रयासों के पश्चात वे पर्यंक पर निढाल हो कर लेट गए और उन्होंने भृत्य से काग़ज़ तथा क़लम मँगवाया। उन्होंने लिख कर अपने चिकित्सक से तत्काल आने का अनुरोध किया।. . .तब से मृत्यु पर्यंत एक मोटी नोटबुक तथा क़लम उन के तकिए के निकट निरंतर रहती थी। जो भी उन्हें देखने या मिलने आता वे काग़ज़ पर लिख कर ही उस से देर तक बातें करना चाहते। बल्कि उसे बातचीत कहना उचित न होगा क्योंकि काग़ज़ की उन चिटों पर वे अपने मन में उन्मथित होने वाले असंगतप्राय विचारों को ही व्यक्त करते। आगंतुक के वय, कुलशील तथा नैकट्य के अनुरूप उस से घर-परिवार आदि का कुशल-क्षेम आदि भी पूछ लिया करते थे। कभी-कभी वे अपने जीवन की उपलब्धियाँ भी बताते : उन्होंने कहाँ-कहाँ, किस के लिए, क्या-क्या किया, कितने प्रलोभनों को अस्वीकार किया, और यदि वे चाहते तो आज अपरिमित वैभव के स्वामी होते, आदि। बीच-बीच में वे आत्मदीनता से भी ग्रस्त हो जाते : अपनी दुर्बलताओं, असफलताओं, विवेकहीन निर्णयों तथा पर्याप्त संकल्प-शक्ति न होने का विलाप भी करते।

. . .ऐसी ही दशा में उन्हें चपला की मृत्यु की सूचना दी गई थी। उन्होंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। केवल असहाय-से शून्य में देखते रहे, मानो वहाँ कुछ ढूँढ रहे हों, जैसे कोई उन के सम्मुख हो और वे उस से मौन ही कुछ प्रश्न कर रहे हों। सारा दिन उन्होंने वैसे ही व्यतीत किया, उसी मुद्रा में। सायं उन्हें दवा दे कर सुला दिया गया।

. . .उन की अस्वस्थता निरंतर बढ़ती ही गई। उन की अस्वस्थता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। बोलने के प्रयास में मुँह से केवल साँय-साँय की ध्वनि ही निकलती। प्रायः विकल हो कर बोलने का यह प्रयास सामने वाले व्यक्ति को भी विकल कर देता। क्रमशः गले के भीतर की शिराओं के सूखने से उन्हें भोजन करने में भी असुविधा होने लगी। अंततः कुछ भी निगल पाना असंभव हो गया। अधिक से अधिक वे अपने किसी प्रिय भोज्य पदार्थ को जिह्वा पर रख कर केवल मुँह चला सकते थे। उस के पश्चात उसे वैसे ही उगल देना पड़ता था।

. . .दिनांत तक वे अशक्त-असहाय सामने के विशाल गवाक्ष से आकाश का रंग परिवर्तित करना देखते रहते थे : कभी नील-लोहित, कभी पीताभा युक्त अरुणिमा, कभी मेघाच्छन्न, कभी शुभ्र नीरभ्र स्वर्णाभा से प्रकाशित और कभी मात्र एक उज्ज्वल ज्योति। आकाश की यह क्रीड़ा उन्हें प्रीतिकर लगती थी। प्रात होते ही गवाक्ष के कपाट खोल दिए जाते। कक्ष की रुग्ण वायु एक आहत पक्षी की तरह लड़खड़ाती हुई बाहर चली जाती और स्वच्छ वायु का प्रसन्न झोंका प्रवेश करता, कुछ कूजित पक्षियों के कलरव भी। ऐसे क्षणों में उन्हें सहसा भान होता कि वे रोग-मुक्त हो गए हैं। शरीर हल्का हो आता और इच्छा होती कि 555 का एक भरपूर कश खींच कर उस का धूम्र-गुंजलक आकाश की ओर कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उछाल दें—उसी के वरदान से तो यह मुक्ति मिली है। किन्तु इस सुखद भ्रम में वे देर तक रह नहीं पाते थे। शीघ्र ही अपने सूखते हुए मुँह में जिह्वा घुमा कर गला तर करने का प्रयास करते तो एक कौंधती पीड़ा की चिलक जकड़ लेती और गवाक्ष पर अपना विशाल विकराल मुख रगड़ता हुआ आकाश अपनी वायु फूत्कारों से त्रस्त करने लगता। कुछ क्षण उपरांत वे शिथिल हो कर भाव-शून्य हो जाते। आकाश में भार-मुक्त-से तिरते पक्षियों को सुखद आतप में विचरते देख कर वे शिथिलता और 'शिथिलता' का अंतर अनुभव करते। यह 'लीला' थोड़े-थोड़े अंतरालों के उपरांत संध्याकाल तक चलती. . .अचानक वे किसी के आने की प्रतीक्षा करने लगते। केवल मनुष्य मात्र को देखने की ललक कितनी बड़ी होती है, इसे वे अब समझ रहे थे। जीवन भर मनुष्यों से घिरे रहने के कारण इस अभाव की यातना को उन्होंने कभी जाना ही नहीं था : मनुष्य का, किसी भी मनुष्य का आसपास होना, उस की ध्वनि सुनना कितना महत्त्वपूर्ण है, कितना

बड़ा सुख है यह! इसे वे अब जान रहे थे। वे लगभग छटपटाती हुई विकलता से किसी पदचाप की प्रतीक्षा करते।

. . .कुछ दिनों पश्चात उन के कंठ में एक छिद्र कर दिया गया और एक नलिका उस में लटका दी गई। उसी से कुछ तरल भोज्य पदार्थ उन के भीतर पहुँचाए जाते। इस प्रकार वे निरंतर बुभुक्षित रहने लगे। सुस्वादु सुगंधित भाँति-भाँति के भोज्य पदार्थ उन के सामने उपस्थित होते और विलीन हो जाते।. . .उन के सम्मुख उन के सांध्य समारोह साकार हो जाते जहाँ बिरियानियों के ढेर, मुर्गों की रानें, तली हुई मछलियाँ, क़ीमा, कबाब आदि निर्दयतापूर्वक मद्यप-चेष्टाओं द्वारा बिखेर दिए जाते या उन्हें हिंसक भाव से चबाते चुगते लोग! लोगों का कारवाँ जैसे प्रतिपल उन के सम्मुख विचरण करता रहता। वे प्रलुब्ध-से उस आमोद-प्रमोद को निरखते जिस में तब उन का सम्मिलित होना मात्र औपचारिक ही होता था। काश! उन्होंने उन प्रमोद-संध्याओं का प्रचुर आनंद उठाया होता। सचमुच तटस्थता कभी-कभी कितनी महँगी पड़ती है। जिसे वे बहुत बड़ी उपलब्धि समझ रहे थे, वह कितनी बड़ी अनुपलब्धि थी! किसी भी कार्य में संलग्नता का सुख उन्होंने कभी नहीं जाना। प्रत्येक अवसर अथवा दायित्व का वे यंत्रवत निर्वाह करते रहे थे।

. . .अचानक उन्हें अपने एकमात्र युवा पुत्र का ध्यान आता। वह संलग्नता तथा आसक्ति से उत्पन्न 'विराग' का जीवन व्यतीत कर रहा है। संभवतः उस में तृषा भी शेष नहीं है। लेकिन यदि वे रुग्ण नहीं होते तो कोई 'तृषा' उन्हें व्यथित करती?. . .अपने ही द्वारा उठाए गए प्रश्नों के बीहड़पन में वे भटकते रहते।

. . .शरीर की अक्षमता के साथ-साथ मस्तिष्क भी शून्य होता गया। प्रायः उन्हें विभ्रमता घेरे रहती : 'यथार्थ' तथा 'विभ्रम' के बीच वहाँ कोई अंतर ही नहीं रह गया था। उन के शरीर तथा अन्य क्रिया-कलापों की देखभाल अन्य लोग ही करते। कोई परिचारक तथा उन का विशेष परिचारक तो निरंतर उपस्थित ही रहता। मस्तिष्क तथा शरीर में कोई तात्कालिक संबंध भी नहीं रह गया था। प्रायः उन्हें पता भी नहीं चलता था कि उन के शरीर में अथवा शरीर के साथ क्या घटित हो रहा है। चेहरे से अथवा शरीर-संकुचन आदि के द्वारा पीड़ा की अभिव्यक्तियाँ अब अचेतन रूप से ही होने लगीं।

. . .राजपुत्र देख रहे थे कि पिता का अंत समीप है : जीवन में कभी उन्होंने पिता के सान्निध्य का अनुभव नहीं किया। उन की देखभाल शैशवकाल से ही परिचारक-परिचारिकाएँ करते आए थे। संवाद या संभाषण माँ के माध्यम से ही हो पाता था। पिता कभी-कभी औपचारिक रूप से किसी को भेज कर उन्हें बुलाते, कुशल-क्षेम पूछते। कभी हल्का-सा परिहास भी कर लेते। किन्तु इन सब में पिता-भाव कभी नहीं होता था। एक अनुलंघ्य दूरी थी जिस के दो छोरों पर दोनों स्थित थे। पिता का यह व्यवहार प्रयत्नपूर्वक था अथवा अनायास, यह भी वे कभी नहीं जान पाए, यद्यपि उन की दिनचर्या, जीवन-पद्धति और आचार-संहिताओं आदि का निर्धारण अलक्षित रूप से पिता के द्वारा ही होता था और इस का पता भी उन्हें चलता रहता था। इन सब के पीछे पिता कितने सतर्क तथा सुनियोजित रूप से उपस्थित रहते थे यह भी क्रमशः जान गए थे।

. . .मृत शय्या पर पिता को देखते हुए वे अनुभव कर रहे थे कि इस व्यक्ति से उन का संबंध कितना अबूझ ही बना रहा। अब जब कभी उन की सेवा सुश्रुषा के लिए निकट आते तो उन की आँखों में एक करुण भाव देखते, मानो पहली बार उन से जुड़ने, उन्हें पुत्र रूप में ग्रहण करने की लालसा झाँक रही हो।

. . .उस संध्या पिता की दशा अचानक अधिक ख़राब हो गई थी। वे दिन भर प्रायः अचेत-से रहे थे। राजपुत्र कई बार उन के कक्ष में जाते, कुछ देर खड़े रह कर उन्हें देखते रहते और वापस आ जाते। उन की कंकाल आकृति पर अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ बन-बिगड़ रही थीं। कभी असह्य पीड़ा से उन का चेहरा विकृत हो जाता और कभी सिकुड़े तथा संक्षिप्त-से हो गए मुख पर एक हल्की-सी मुस्कान बिछ जाती।

. . .अर्धरात्रि के आसपास सहसा वे चैतन्य हो गए। परिवार तथा सगे संबंधियों के चेहरे से चिन्ता छँट गई। पिता ने आसपास घिरे व्यक्तियों को देखा और संकेत से काग़ज़-क़लम माँगा और लिखा : 'तुम लोगों ने मुझे मृत मान लिया था, क्यों?' काग़ज़ जिस ने उठाया उसे देख कर वे मुस्कराए। वह काग़ज़ बारी-बारी से सब ने पढ़ा और तनाव-मुक्त प्रसन्नता सब के चेहरे पर छा गई। पास खड़े तथा आकुलता से सब के चेहरे निहारते एक बालक को उन्होंने पास बुलाया और लिख कर पूछा : 'आज क्या खाया है?' वह हँस पड़ा और ज़ोर से बोला, 'बिरियानी'। सभी हँसने लगे। उन्होंने फिर लिखा : 'युवराज को बुलाओ।' युवराज भागे-भागे आए और सब के चेहरे पर प्रसन्नता देख कर प्रसन्न हुए। पिता ने काग़ज़ पर कुछ लिख कर उन की ओर बढ़ाया। पढ़ते ही वे विवर्ण और विचलित हो गए। लिखा था : 'मेरी मृत्यु के उपरांत तुम शीघ्र विवाह करोगे। पालन कर सकोगे?'

कुछ क्षण अपलक वे युवराज का मुँह निहारते रहे। फिर नेत्रों से दोनों ओर अश्रुओं की धार कानों के पास से बहती हुई तकिए में समा गई। एक परिचारक ने तत्परता से तौलिया ले कर उसे पोंछ दिया।

युवराज अपलक निहारते पिता की दृष्टि को सहन नहीं कर पा रहे थे। उन का मस्तिष्क शून्य और जड़ हो गया था।

. . .समय नहीं था। सहसा लगा कि पिता पुनः अचेतना की ओर जा रहे हैं। शीघ्रता से आगे बढ़ कर वे उन की शय्या के निकट भूमि पर बैठ गए। उन के कर का स्पर्श कर बोले, 'मैं आप की आज्ञा का पालन करूँगा।' और फूट-फूट कर रो पड़े। पिता प्रायः अचेत हो चले थे किन्तु क्षणांश के लिए उन के मुख पर एक क्षीण-सी आभा दिखाई पड़ी।

. . .प्रातः जब गवाक्ष के पट खोले गए तो प्राण-वायु 'गगन के नील विवर में' लीन हो चुकी थी।

. . .उसी वर्ष ग्रीष्म के अंत में निकट के ही एक राजघराने में युवराज का विवाह हो गया। परिवर्तित युग की प्रथा-अनुसार प्रस्ताव आया कि युवराज चाहें तो चल कर विवाह के पूर्व कन्या को देख सकते हैं। युवराज ने मना कर दिया। किन्तु कन्या ने विवाह से बहुत पहले राजनगर में युवराज को अकस्मात देख लिया था। वे युवराज के गौरवर्ण, विशाल नेत्र तथा तेजस्वी व्यक्तित्व से तत्काल प्रभावित हो गई थीं।

युवराज ने अपनी 'पूर्व प्रेमिका' के पश्चात किसी स्त्री को देखना बंद कर दिया था, बल्कि स्वतः ऐसा हो गया था। वे चाहे कितनी निकट क्यों न हों, वे सम्मुख हो कर भी उन्हें देखते नहीं थे।

विवाहोपरांत उन्होंने पत्नी का मुख देखा। राजकुल तथा क्षत्रिय वंश के अनुरूप ही उन का रूप तथा व्यक्तित्व था। सुगठित तथा पर्याप्त विकसित देह-यष्टि। . . .शीघ्र ही युवराज दांपत्य सुख में लीन हो गए। उन्होंने एक स्वस्थ तथा स्वाभाविक जीवन जीना आरंभ कर दिया था।

इस जीवन को उन्होंने संपूर्णता तथा गंभीरता से लिया। पिता के उपरांत अब वे ही गृहस्वामी थे और पिता द्वारा छोड़े गए दायित्वों का अंत नहीं था। उन्हीं दायित्वों में प्रचुर ऋण-राशि भी थी, यद्यपि परंपरा से प्राप्त प्रभूत मात्रा में रत्न, स्वर्ण तथा बहुमूल्य आभूषण आदि स्थान-विशेष में संचित थे। परिचारक-परिचारिकाओं की संख्या पहले ही संक्षिप्त कर दी गई थी। अब वे इक्के-दुक्के ही रह गए थे। सौध के अनेक कक्षों को उपयोगहीन मान कर उन में स्थित वस्तुओं—पर्यंकों, प्रसाधन उपकरणों, मूल्यवान विशाल दर्पणों, झाड़-फानूस, चीनी पुष्पाधारों, दीपाधारों आदि सहित कपाटित कर दिया गया था। उपवन में एक ही रक्षक पर्याप्त समझा गया तथा भवन के अधिकांश हिस्सों को राजकीय कार्यालयों के लिए किराए पर दे दिया गया।

. . .नए गृहस्वामी ने अपना ध्यान नगर से हटा कर ग्रामों पर केन्द्रित किया जहाँ उन की विशाल कृषि-भूमि तथा एक उपेक्षित-प्राय किन्तु सुनिर्मित पैतृक आवास था। उन्होंने इस कृषि-संपदा से कालांतर में पर्याप्त अर्थ

अर्जित किया तथा शीघ्र ही 'पितृ-ऋण' से मुक्त हो गए। उस भूभाग में वे 'सादा जीवन, उच्च विचार' वाले व्यक्ति के रूप में विख्यात हो गए। उन में सादगी वस्तुतः थी किन्तु तब भी दर्प तथा दंभ से पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। अतः ग्रामवासी उन से आतंकित तथा सुदूर भाव का संबंध ही रखते थे। चूँकि ग्राम विकास का नियंत्रण सूत्र नगर में ही था, अतः उन का एक पाँव ग्राम में दूसरा नगर में रहता। अपने पिता के विपरीत उन्होंने अधिकारियों की अपेक्षा राजनेताओं के निकट रहना अधिक उचित समझा। किन्तु वे राजनेताओं का समुचित सत्कार नहीं कर पाते थे, जैसा कि प्रचलन के अनुरूप उन के अन्य पड़ोसी राजपरिवार करते थे। अतः वे उन के प्रिय पात्र भी नहीं हो सके थे। परिणामस्वरूप वे नगर और ग्राम दोनों में 'परदेसी' ही रहे।

. . .समय व्यतीत होते देर नहीं लगती। अपनी आदर्श दिनचर्या के इस क्रम में उन्हें दो पुत्रों तथा दो पुत्रियों का जनक होने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। उन की 'वामा' ने गृह संचालन का सूत्र प्रारंभ से ही कुशलतापूर्वक अपने हाथ में ले रखा था, परंतु गृहस्वामी का मन इन दैनिक, व्यावहारिक क्रिया-कलापों से उचाट हो कर विरत ही रहता। वे यंत्रवत ही इन सब का निर्वाह करते।

. . .शनैः शनैः अनेक वासर तथा वर्ष व्यतीत होते गए। गृहस्थ जीवन सुखी तथा संतुष्ट तब होता है जब वह मात्र आरोपित दायित्व-बोध तथा कर्त्तव्य-भाव से उस का निर्वाह न करता हो, जब वह 'देह, मन और रसना' से उस में रस लेता हो। तभी वह उस में समताल हो कर चल पाता है। अन्यथा प्रत्येक पड़ाव पर एक अंतराल के पश्चात निःश्वास सुनाई पड़ता है, 'चलो यह मोड़ भी आ गया और कितना मार्ग शेष है?' इस के बाहर या इस से इतर कुछ और होने या करने की प्रत्याशा अथवा उत्कंठा भी शेष नहीं रह जाती।

. . .दुर्भाग्य से इस गृहस्थी में कोई प्रत्याशा शेष नहीं रह गई थी, न उस की कोई परिकल्पना ही। उस में 'समरसता' नहीं थी, केवल 'एकरसता' थी। छोटी-बड़ी खुशियाँ थीं, किन्तु कोई आंतरिक उल्लास नहीं था। उस का स्रोत भी जैसे कहीं दूर से शुष्क कर दिया गया हो।. . . बिना किसी 'घटना' या 'दुर्घटना' के सब कुछ ऐसे ही घटित होता रहा।

. . .गृहस्वामी को बहुत दिनों तक यह ज्ञात नहीं हो सका कि अपने पिता की प्रतिक्रिया में वे बहुत दूर तक निकल आए हैं। यद्यपि यह सच था कि उन के पिता ने भी अनेकानेक रंगारंग आयोजनों-उत्सवों के बावजूद उन का आनंद कभी प्राप्त नहीं किया, हमेशा विदेह ही बने रहे। . . .नए गृहस्वामी उन सब का स्वेच्छा से परित्याग कर नितांत निरानंद जीवन ही व्यतीत करते रहे। जीवन में आनंद नहीं है, इस का बोध उन्हें नहीं था लेकिन कहीं कुछ न होने का अभाव उन्हें जीवन के क्रम में प्रतीत तो हो ही रहा था।

. . .इसी बीच माँ की मृत्यु हुई। पिछले वर्षों से जीवित रहने के बावजूद वे प्रायः अनुपस्थित व्यक्तित्व ही बनी रही थीं। उन के होने का बोध किसी को न होता था, यद्यपि वे गृहकार्य में यथासंभव तथा सामर्थ्य के अनुसार सहयोग करतीं, यथा, बच्चों की देखभाल, उन का नहाना-धोना, सुलाना तथा मनोरंजन करना आदि। वे चाहती थीं कि तीज-त्योहार, होली, दीवाली आदि परंपरागत ढंग से ही बिताए जाएँ लेकिन नए गृहस्वामी की उन में कोई अभिरुचि नहीं रह गई थी। वे इन सब को अपव्यय ही समझते थे। माँ ऐसे अवसरों पर कुछ बोलती नहीं थीं किन्तु वे गृह के किसी निर्जन-से भाग में जा कर लुप्त हो जातीं और प्रहरों गवाक्ष से शून्य में देखती रहतीं। भोजनादि के समय जब बुलाया जाता तो निःशब्द ही आ कर वे औपचारिकताएँ भी पूरी कर जातीं और उसी शून्यप्राय प्रकोष्ठ में विलीन हो जातीं। उन के जीवन को नीरस या विरस तो नहीं कहा जा सकता था, पर मानो वह जीवनोपरांत का जीवन था। गृह के अन्य सदस्य भी उन का आना-जाना या यदि वे बैठी रहतीं तो कब उठ कर चली गईं—यह सब लक्ष्य ही नहीं करते थे। पति की मृत्यु के पश्चात वे निरंतर धीरे-धीरे छीज रही थीं। सामान्यतः तो प्रत्येक कार्य

पूर्ववत होता था। समय पर उठना, स्नान, पूजा-अर्चन, भोजनादि—किन्तु सब यंत्रवत ही होता। एक स्थायी थकान, क्लांति तथा करुण भाव चेहरे पर निरंतर व्याप्त रहता। आँखें वैसे ही डबडबाई रहतीं जैसी प्रायः गौओं की होती हैं। कोई रुचि-अभिरुचि उन में शेष नहीं रह गई थी।

. . .उस ऊँचे टीले पर बने उस प्राचीन भवन में मात्र दो परिचारिकाएँ तथा दो परिचारक शेष रह गए थे। अतः कभी तो वे पाकशाला में चली जातीं तथा कोई विशेष व्यंजन बनाने का यत्न करतीं। कभी दिन के किसी भी प्रहर अचानक ऊँघने लगतीं और चौंक कर बतातीं कि उन्होंने कोई अद्‌भुत स्वप्न इस बीच देख डाला जो प्रायः गृहस्वामी से ही संबंधित होता था। गृह के अन्य सदस्यों के लिए यह एक परिहास का उपादान ही होता था। किन्तु इस से स्पष्ट था कि उन्होंने वर्तमान में जीना बंद कर दिया है और अनुक्षण अतीत में ही जी रही थीं। एक काल में रहना और किसी अन्य काल में जीना—यह अवास्तविक-सा प्रतीत हो सकता है, लेकिन अवस्था-विशेष में यह कितना सहज, स्वाभाविक तथा प्रयत्नहीन जीवन हो जाता है इस की कल्पना सभी नहीं कर सकते। संभवतः यही कारण हो कि उन्हें जीने के लिए किसी अतिरिक्त वाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं रह जाती।

. . .इसी क्रम में कुछ वर्ष पश्चात उन की मृत्यु हो गई। उसी तरह जैसे फूल मुरझा जाते हैं, पत्ते झड़ जाते हैं—पीले पड़ते, मुरझाते और फिर एक दिन तिरोहित. . .

. . .माँ की मृत्यु के कुछ दिनों बाद गृहस्वामी को अचानक लगा कि माँ घर में नहीं हैं। एक शून्य-से अवसाद ने उन्हें घेर लिया। मन ही मन वे माँ की बहुत चिन्ता करते थे और उन का ध्यान रखते थे। उन की मृत्यु के बाद उन्हें प्रतीत हुआ कि चिन्ता का एक यह आधार भी था जो उन्हें बाहरी दुनिया से जोड़ता था और सहसा वह विलुप्त हो गया।

. . .पचास वे कब का पार कर चुके थे और उम्र की ढलान पर उन्हें धरती का खिसकना महसूस हो रहा था। अब न कोई व्यथा थी और न कोई चिन्ता। कोई त्वरा या तत्परता भी नहीं थी जो किसी ओर उन्हें खींचे चली जाती हो। वे स्थिर स्वभाव वाले व्यक्ति थे। ऐसी कोई शारीरिक व्याधि भी नहीं कि जो उन्हें निरंतर उन्मथित करती या ध्यानस्थ रखती हो। 'गृहसुख' जिसे कहते हैं उस का प्राचुर्य था। पुत्र सुशील, आज्ञाकारी तथा कर्मठ थे। घृणा वे किसी से करते नहीं थे। एक स्वस्थ, संयमित जीवन मंथर-मंथर बह रहा था।

कुछ दिनों से उन्हें दैनंदिनी लिखने की आदत पड़ गई थी : 'आजकल सुबह उठता हूँ तो बहुत देर तक बिस्तर नहीं छोड़ पाता। मन विचित्र विरक्ति से भरा रहता है। दिन पहाड़ की भाँति प्रतीत होता है। इस दिनचर्या की और कितनी पुनरावृत्तियाँ होंगी। उम्र पचास से अधिक हो गई। कहीं कुछ असह्य नहीं है। मेरे अनेक समवयस्क मधुमेह, रक्तचाप, गठिया आदि से पीड़ित हो कर निष्क्रिय-से हो गए हैं। मेरा स्वास्थ्य मुझे चकित करता है। शायद थोड़ा अस्वस्थ होता तो उस की चिन्ता ही मुझे अपने और अपने आसपास से जोड़ती। मद्यपान, धूम्रपान, द्यूतक्रीड़ा आदि व्यसनों से आजीवन दूर रहा। बहुत दिनों तक आध्यात्मिक चर्चाओं में रुचि लेता रहा। धार्मिक उत्सवों का आयोजन करता रहा। फिर वे सब भी आडंबर लगने लगे। लेकिन प्रातः और संध्याकाल पूजा-अर्चन आदि तो करता ही हूँ। पर न जाने क्यों जीवन दिनोंदिन विरस होता जा रहा है। करने को कुछ रहा नहीं। ग्राम से जी उचटता है तो नगर की ओर भागता हूँ। दोनों ही स्थानों पर अपने को अजनबी पाता हूँ। पिता का वह विशाल भवन जो समस्त नगर के आकर्षण और ईर्ष्या का केन्द्र था—'दिन को होली, रात दिवाली मनाने वाली' मधुशाला था—अब भाँय-भाँय करता है। जैसे अवसाद का एक स्थायी प्रेत वहाँ निरंतर मँडराता हो। वहाँ भी मैं ने अपने को ऊपरी कक्ष तक सीमित कर लिया है। एक बरामदा और छत है। उस की मुँडेरों पर आम के पेड़ झुके रहते हैं। उन के पत्तों की हरीतिमा प्रीतिकर लगती है। विशेषतः जब वे धूप में और वर्षा में धुल कर चमकते हैं।

कभी-कभी मन होता है फिर से चित्र बनाना प्रारंभ कर दूँ। इन पत्तियों के ही दिन और ऋतुओं के अनुरूप न जाने कितने रंग हैं. . .इन्हें ही अंकित करता जाऊँ। . . .लेकिन भीतर सब कुछ बुझ गया है। ईज़ल, पैलेट, रंग, कूँचियाँ न जाने कहाँ टूटे-फूटे पड़े होंगे। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह पिछले जन्म की कथा थी। छत के सामने बड़ा-सा मैदान है। मेरे कुछ पुराने मित्र आते हैं तो सलाह देते हैं कि इतना बड़ा मैदान बंजर पड़ा है। यहाँ एक बढ़िया-सा होटल खोल डालो। वैसे भी इस नगर में कोई अच्छा होटल नहीं है। अभी भी यहाँ 'चाचाजी' द्वारा उपकृत अधिकारियों तथा अधिकारियों की कई पीढ़ियाँ पड़ी हैं।. . . कुछ कहते हैं राजनीति में आ जाओ, युग उसी का है, वही राजपथ है। और तुम्हारे लिए तो सब कुछ सहज-सुलभ है। दो मंत्री तो तुम्हारे निकट संबंधी ही हैं। वैसे भी तुम्हें चुनाव में कोई पराजित तो कर नहीं सकता। फिर मंत्री बनते कितनी देर लगती है!. . .जब तक नगर में रहता हूँ, ऐसे न जाने कितने प्रस्ताव आते रहते हैं : पेट्रोल पंप का लाइसेंस ले लो या बस की परमिट—गाँव से शहर के लिए कोई सीधी बस नहीं है। तुम्हारे परिवार की गौरवशाली परंपरा है।. . . मेरी समझ में नहीं आता कि जब किसी चीज़ की कमी है ही नहीं (जो कि सचमुच नहीं है) तो यह सब क्यों करूँ?. . .अनेक लोग मेरे आलस्य और प्रमाद की भर्त्सना करते हैं और मेरी तुलना संत कबीर के बेटे कमाल से करते हैं। . . .कभी-कभी मेरे मन में भी कुछ स्फुरित होता है और अचानक उत्साह में आ जाता हूँ। . . .सचमुच इस से मेरी जड़ता तो टूटेगी! एक बेहतर तथा व्यस्त जीवन का आनंद ही कुछ और है। मित्र-शुभेच्छु भी सक्रिय हो जाते हैं। लेकिन जब बात कुछ बनने लगती है और कुछ आरंभ करने की घड़ी आ जाती है तो मेरे भीतर का वह स्फुरण सूखी पत्तियों की आग की भाँति बुझ जाता है : इतनी भागदौड़, हाय-हाय—किसलिए? यह सब हो भी जायगा तो क्या हो जायगा। उस हंगामे की कल्पना से ही मिचली आने लगती है. . .।'

. . .ग्राम जीवन के अनुरूप ही उस गृह में भी संध्या का भोजन अंधकार के अनुपात से ही होता था। गृहस्वामी भोजनोपरांत गृह की ऊपरी छत पर कुछ देर भ्रमण करते, तदुपरांत ध्यान-प्रार्थना आदि, फिर शयन-कक्ष में प्रविष्ट हो जाते।. . .उन का गृह एक उस 'चौड़े ऊँचे टीले पर' स्थित था जिस के नीचे चारों ओर ग्रामवासियों के घर थे और उस के बाहर दूर-दूर तक फैली उन की अपनी कृषि-भूमि थी। रात्रि के निविड़ अंधकार में केवल उन के भवन की बत्तियाँ ही देर तक प्रकाशित रहतीं. . .उस के पश्चात श्वानों तथा सियारों की ध्वनियाँ ही प्रसुप्त ग्राम सुनता रहता।

. . .उस संध्या भी भोजन पर गृहस्वामी के कक्ष से बाहर आने की प्रतीक्षा हो रही थी। पुत्र-पुत्रियाँ सभी भोजन उन के साथ ही करते थे। गृहस्वामिनी सब से अंत में भोजन ग्रहण करती थीं। थालियाँ लग गई थीं। केवल चपातियाँ ठंडी न हो जाएँ इसलिए तवा चूल्हे पर नहीं रखा गया था। अतिकाल हो रहा था। पुत्र-पुत्रियाँ बुभुक्षित हो कर उत्सुकता से पिता के कक्ष की ओर देख रहे थे।

. . .अचानक भीषण धमाके से पूरा गृह हिल उठा और खिड़कियों के शीशे देर तक खड़खड़ाते रहे। आतंकित गृहवासी तथा परिचारक-परिचारिकाएँ मुख्य द्वार से बाहर की ओर भागे। संभवतः दस्युओं के दल ने ग्राम पर आक्रमण कर दिया हो, जैसा कि कभी-कभी होता था। बाहर पूरा ग्राम टीले पर स्थित भवन की ओर उमड़ा चला आ रहा था। पता चला कि ग्रामवासियों ने धमाकों की ध्वनि भवन की ओर से ही आती हुई सुनी थी। अतः गृहसदस्य ग्रामवासियों सहित पुनः भवन की ओर दौड़े। संपूर्ण गृह में एक विचित्र गंध व्याप्त थी। पुत्रों ने पहचाना कि यह बारूद की गंध थी। उन्होंने एक दूसरे की ओर देखा। पिता का कक्ष अभी भी बंद था। पिता को पुकारते हुए द्वार पर आघात किया गया। किन्तु कोई उत्तर न मिला। पुत्रों तथा परिचारकों ने बार-बार प्रहार कर द्वार तोड़ दिया। गृहस्वामिनी आर्तनाद कर मूर्छित हो गिर पड़ीं। पुत्रों-पुत्रियों, परिचारक-परिचारिकाओं तथा ग्रामवासियों के

सामूहिक चीत्कार से पूरा घर एक बार फिर प्रकंपित हो उठा। कक्ष के मध्य में गृहस्वामी का विशालकाय शरीर चित पड़ा था। वह शरीर का कबंध ही था, मुंडहीन। स्कंधों के ऊपर रक्त की धार खौलती हुई वेग से प्रवाहित हो रही थी। पीछे की दीवार पर सर्वत्र माँस के लोथड़े चिपके हुए थे। आधी दीवार भी रक्तस्नात थी।. . .जिस आकस्मिकता के साथ सामूहिक चीत्कार उठा था, वैसे ही कुछ पलों के लिए सब कुछ स्तब्ध हो गया। मानो वह स्थान निर्जन हो तथा मनुष्यों के स्थान पर कुछ आकृतियाँ विजड़ित कर दी गई हों।. . .उस शिलीभूत क्षण में लोगों ने देखा मृत देह के एक ओर गृहस्वामी की प्रिय शक्तिशाली 'हॉल-एन हॉल' रायफ़ल पड़ी थी और दूसरी ओर उन की दैनंदिनी. . .।

माधवी कुट्टी

बंजर भूमि

पूरे आठ साल बाद उन दोनों की मुलाक़ात हो रही थी। अब की बार वे प्रेमियों की हैसियत से नहीं, बल्कि इस हैसियत से मिल रहे थे कि कभी वे एक दूसरे से मुहब्बत करते थे। इसलिए हालाँकि वे चाहते थे कि चंद मिनट तक कोई बात न करे, एक दूसरे की आँख में आँख डाल कर खड़े रहें, फिर भी दोनों ही साहस बटोर नहीं पा रहे थे। दोनों के बीच में चुप्पी की जो दीवार खड़ी थी, उसे तोड़ने की कोशिश हो रही थी इक्के-दुक्के शब्दों से।

'क्या मैं ने देर कर दी?'

'नहीं तो। मैं भी अभी-अभी आई हूँ।' उस ने जवाब दिया। वह उसे जताना नहीं चाहती थी कि आधे घंटे से ज़्यादा वक़्त उस के इंतज़ार में बिताया है। वह सोचने लगी, अगर उसे पता चल जाए कि इतने साल बाद भी मैं उस पर मर रही हूँ तो मुमकिन है वह मुझ से नफ़रत करे। उस ने अपनी चिट्ठी में हमारे आपसी प्रेम को 'महज गुड़ियों का खेल' कह डाला था। कितनी जुर्रत की। वह चिट्ठी. . . .

'मैं ऐसी जगह ढूँढता हूँ जहाँ नमी न हो।'

सुन कर वह हँस पड़ी। ऐसी हँसी जो रुलाई की छाया लिए हुए थी।

वह समझ गया, पर उस ने अपने चेहरे में बदलाव नहीं आने दिया।

उधर वह अपने आप से कहने लगी, मेरा अभिनय कमाल का हो रहा है। मेरे हृदय के पर्दे में से वह कुछ नहीं देख सकता। इसलिए मुझ पर यह आरोप भी नहीं लगा सकता कि उसे फिर से चंगुल में फँसाने के लिए मैं ने उसे बुलाया है। हम दोनों के आपसी प्रेम से, जो अनंत और अक्षय लग रहा था, वह मुक्त हो गया। तब मैं भी विजयी क्यों न बनूँ? हाँ, उस ने ख़त में लिखा था—'तुम मेरी ज़िन्दगी ही नहीं, अपनी भी तबाह करने की कोशिश में हो। यह जो तुम्हारी ज़िद है, आपस में मिलने की, उसे मैं वाहियात कहूँगा। इतने अरसे तक हम धैर्य के साथ जिस व्रत का पालन कर रहे हैं, क्या उसे भंग करना बहुत ज़रूरी है?' मैं ने उत्तर लिखा था, 'मैं तुम्हें फिर से अपना प्रियतम बनाने के लिए नहीं बुला रही हूँ। बस, यों ही एक बार तुम्हें देखने के लिए. . .।'

'मैं आ गया न? अब और क्या चाहिए?' पुरानी प्रेयसी का मुँह अपने रूमाल से पोंछते हुए उस ने पूछा। उस समय रूमाल वाले हाथ में उस की शादी की जो अँगूठी पड़ी थी, मोटी-सी मुंदरी, उस पर दृष्टि गई। उस ने पलकें नीचे कर लीं।

हँसने की कोशिश करते हुए वह बोली, 'बिलकुल न डरना। मेरा इरादा न रोने-कलपने का है न तुम्हारा उलाहना करने का। यह सब मैं आठ साल पहले कर चुकी हूँ जब तुम्हारी चिट्ठी पढ़ी थी। अब तो उस का ख़याल करके मुझे हँसी आ रही है. . .।'

यह सुन कर वह नहीं हँसा। उस ने अपने हाथ का रूमाल पास में पड़े एक पत्थर पर बिछाया और उसे बैठने के लिए कहा। उस पत्थर के ऊपर किसी का नाम और एक-दो तारीख़ें खुदी हुई थीं। यह जानते हुए भी कि वह कब्रिस्तान का पत्थर है, वह उस पर बैठ गई। पास ही गढ़े दूसरे पत्थर पर वह भी बैठ गया। उन के सामने एक पत्थर की दीवार के पार, समुंदर की लहरें चलायमान थीं। काले-काले शिलाखंडों के बीच में से रह-रह कर झाग और फेन के साथ उछलती चढ़ती लोल लहरियों पर नज़र गढ़ाए हुए वे काफ़ी देर तक चुपचाप बैठे रहे, बिना हिले बिना डुले। आख़िर उस ने अपनी आवाज़ को ज़रा रूखा बनाते हुए पूछा :

'कुछ भी कहना नहीं है?'

'एक बात पूछना चाहती हूँ।'

'हूँ. . .'

'मुझ से नफ़रत करने लग गए!'

'किसलिए?'

'एक बार मुहब्बत की थी, इसलिए।'

थोड़ी क्रूरता के साथ वह ठहाका मार कर हँसा। फिर अपने कोट की जेब से एक सिगरेट निकाली। सुलगाते हुए कहने लगा :

'तुम पगली हो। तुम जो बोल रही हो उस का अर्थ किसी की भी समझ में नहीं आएगा।'

'तुम्हारी समझ में भी नहीं?'

उस के अंदर की नारी का स्वाभिमान फिर एक बार नर के सामने घुटने टेक रहा था। वह सोचने लगी, हाँ, मैं सनकी हूँ। सनकी ही क्यों, वह अपने पुराने आरोपों को दुहरा सकता है, तुम्हारा बोल-चाल, काम करने का ढंग सब में कृत्रिमता है। मगर अब वह मुझे अजनबी मानता है, इसलिए संभव है, मुझ से नाराज़ नहीं हो सकता।

. . .अगर वह उस पर फिर से नाराज़ होता, उस की निन्दा करने के लिए नए-नए कारण ढूँढता तो वह अपने को खुशनसीब समझती, क्योंकि इस तरह वह अपने उन्हीं पुराने दिनों को आज फिर से जिला सकती है, हू-ब-हू उसी रूप में न सही, उस की एक झलक तो पा सकती है। उस का प्रेम कुछ ऐसा ही था, हमेशा उसे बुरा-भला कहने के लिए तरह-तरह के बहाने ढूँढता। वह कहता, यह जो तुम मुझ से मुहब्बत करती हो, यह भी तुम्हारी ग़लती है, तुम्हारा क़ुसूर है। अंत में सारी कहा-सुनी के बाद वह दयनीय रोदन करती और वह उस के पैरों पर गिर कर पाँव की उँगलियों को चूमने लगता. . .।

'कह लो मैं सनकी हूँ, पागल हूँ। इसीलिए मैं बालों पर कंघी पीछे की तरफ़ से करती हूँ, अंग्रेज़ी में बात करती हूँ, तुम्हें. . .'

उस ने सिगरेट फेंक दी और ज़ोर से हँसा।

'मुझे तुम से हमदर्दी हो रही है। तुम में इतना भी शऊर नहीं है कि एक सामान्य नारी के रूप में रह लेतीं।'

इस टिप्पणी पर उस ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। उस ने अभी जो सिगरेट फेंकी थी, उस टुकड़े की नोंक से उठ रहे धूम्र-वलय पर दृष्टि डालती हुई वह सोचने लगी,

ठीक तो है। किसी को भी हरा देने वाली मेरी अदाओं के झिल्लीदार पर्दे में से वह झाँक ले और वहाँ नंगी

पड़ी हुई मेरी शख़्सियत के कच्चेपन को देखने की क़ाबिलियत उस में है। सिर्फ़ वही जानता है कि मेरे विलायती रंग-ढंग और लच्छेदार अंग्रेज़ी बोलने की प्रवृत्ति के पीछे यह मतलब नहीं है कि मैं अपने देश के प्रति कम निष्ठा रखती हूँ। जान-पहचान की दूसरी महिलाओं से मैं इसलिए दूरी नहीं बरतती कि मुझ में दंभ या अहंकार की भावना है, बल्कि इसलिए कि वे महिलाएँ मेरे निरालेपन को कहीं सूँघ न लें, मुझ से नफ़रत न करने लगें। मेरे इस राज़ का पता उस के अलावा और किसी को नहीं है। मेरे शारीरिक सौन्दर्य, संपन्नता और उदारता ने मुझे दूसरों से विलक्षण बनाया, पर असल में मैं इन्हें अभिशाप समझती थी क्योंकि इन की वजह से मैं दूसरों से अलग रहने को मजबूर हो गई थी। इन्हें मैं गुण कैसे मानूँ? मैं तो प्यार की दो बातों की प्यासी थी जो स्नेह को और भी मृदुल और मधुर बना दें। पर जब-जब मैं अपने एकाकीपन को महसूस करती थी, वह तनहाई मुझे काटने दौड़ती थी. . .। इन बातों को मैं ने किसी पर प्रकट नहीं होने दिया। जैसे वयः संधि की अवस्था में शरीर के कुछ अंगों को दूसरों से यत्नपूर्वक छिपाया जाता है, मैं ने अपने मन को इसी भाँति दूसरों के लिए बंद रखा। बाद में काम की व्यस्तता बढ़ी और मन की हलचलें भी गुप्त ही रहीं। यहाँ तक कि माँ-बाप भी इन हलचलों को नहीं समझ पाए। बाहर से मैं खुशमिज़ाज दिखाई देती थी, हमेशा अपने खूबसूरत उजले दाँतों से मुस्कान बिखेरती रहती थी। माँ-बाप मेरे बारे में क्या जानते थे? मुझे महीने में एक बार सिरदर्द होता है, मैं अपने सिर पर नारियल में पका तेल लगाती हूँ। बस मेरे बारे में उन के पास ऐसी ही दो-चार सूचनाएँ होती थीं। उन्होंने कभी भी यह जानने की कोशिश नहीं की थी कि मैं अपनी संकरी-सी शय्या पर लेटे-लेटे भावी वैवाहिक जीवन के बारे में क्या सोचती थी। . . .अब शादी के बाद भी सवाल जारी है। सिर्फ़ रात के समय लल्लो-चप्पो करते हुए पास में आने वाले पति के बारे में मेरी क्या राय है? क्या मैं ने स्नेह की पवित्रता पा ली है? दूसरे लोगों की नज़र में बेशक उस का वैवाहिक जीवन सफल है।

पर किसी ने मुझ से नहीं पूछा कि मैं खुश हूँ या नहीं। अपने अंदर मैं ने तनहाई का बीज बोया था, अब वह बड़ा बन गया है और उस में फूल और फल लग गए। एक दूसरे को समझने में नाक़ामयाबी की वजह से हारी हुई ज़िन्दगी जीने वाले लोग जब घरों के अंदर या बाहर गलियों में सोते हैं और रात में क्षणिक सुख के लिए एक-दूसरे के शरीर का इस्तेमाल कर लेते हैं, उस समय मैं बिस्तर में लेटे-लेटे आत्म-परीक्षण करती रहती। निर्लिप्त और निष्पक्ष मेरा मन अपने शरीर में से उठ कर निगोड़े हृदय की ग़ौर से जाँच करता और पाता कि हृदय में नमी या आर्द्रता का नामोनिशान नहीं है, वह हरियाली से अनाच्छादित नंगी बंजर भूमि है. . .।

वह सोचती जा रही थी।

'तुम में अब भी कोई बदलाव नहीं आया है। मैं ने सोचा था कि तुम अब तक कुछ तो समझदार बन गई होगी।'

मौन को तोड़ते हुए वह बोला। उस से आँख मिलाने से बचना चाहती थी, इसलिए सिर नीचा कर लिया।

उन दोनों के सामने वर्षा से फूले समुद्र की लहरें किसी कामातुरा रमणी की याद दिला रही थीं जो लंबी साँस लेती है, बेबसी में ज़मीन पर लोटती है और धीमे से सुबकती-सिसकती है। आकाश जो है, वह झीने-झीने छेदों वाले छाते के समान लग रहा था। हल्की बूँदा-बाँदी होने लगी थी।

'तुम आज भी छतरी नहीं लाई हो, है न?'

इस सवाल पर उस ने नकारात्मक सिर हिलाया।

'तुम अब भी वैसी ही हो। न छतरी लेती, न पैसा, न रूमाल. . .। मैं नहीं जानता कि तुम्हारा गुज़ारा कैसे होगा।'

सामने वाली दीवार से बँधी अरगनी पर मछलियाँ रस्सियों पर लटकी सूख रही थीं। इन्हें ले जाने के लिए पास वाली झोंपड़ियों का द्वार खोल कर भागी हुई आ रही थीं मछुआरिनें। खुले दरवाज़े से जलती अँगीठी की ज्वालाएँ

स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। उसे आग की लपटें लाल फूलों के समान सुंदर लगीं।

'देखो' वह बोलने लगी, 'उधर अँगीठी की ज्वाला लाल फूलों के समान लग रही है।'

'या यों कहो, लाल लाल तितलियाँ बैठी पंख हिला रही हैं।' उस ने एक और उपमा जड़ दी।

क्या उन दोनों ने अपना वही पुराना खेल शुरू कर दिया? इसी तरह घंटों बैठ कर पहेलियाँ बुझाना. . .क्या चंद्रमा आसमान की कभी न फूटने वाली आँख है? या चंद्रमा कोई मोटी-सी लड़की है जो कल से उपवास करने वाली है? पुरानी स्मृतियाँ उसे सालने लगीं।

'हम ने आख़िर शादी क्यों की? क्या हम उसी तरह नहीं रह सकते थे, प्रेम में पगे. . . प्रेम में सने. . .?'

वह चुप रहा। इस से शह पा कर वह पूछने लगी, 'बोलो—किस तरह वाली है. . .वह. . .तुम्हारी बीवी?'

वह अब भी चुप्पी साधे बैठा रहा, अपनी उँगली में पड़ी मोटी अँगूठी घुमाता हुआ। उस की पलकें नीचे की ओर थीं।

'तुम काफ़ी बदल गए हो,' वह बोले जा रही थी, 'तुम मोटे हो गए हो, अब तुम अपने बालों में वह क्रीम नहीं लगाते जो पहले तुम लगाया करते थे। उँगली में अँगूठी पहने हुए हो. . .तुम वह शख़्स नहीं रह गए हो जिसे मैं जानती-पहचानती थी।'

'हुम्. . .'

उस के चेहरे की रेखाएँ अँधेरे के कारण अव्यक्त थीं। समुद्रतट पर केवल शिलाखंडों के छोर पर चाँदनी ने अपनी रुपहली रेखा खींची। वह अनुभव करने लगी कि पानी, किसी थके हुए आदमी की तरह हाँफ रहा था, अंदर से कराह रहा था।

उस का मन अतीत के खाँचे में समाए उन दिनों की ओर भागने लगा जब वह कहता था, 'क्या कहा? मैं तुम से मुहब्बत नहीं करता? क्या तुम मेरी आँखों में आँख डाल कर दुबारा कह सकती हो? है इतना साहस?' उस की वे बातें, केवल उस के लिए समर्पित मुस्कान उस प्रेमी युगल को एक ही गर्भाशय में सुलाते हुए मानो सारी दुनिया की नज़रों से छिपा कर विश्राम देने वाली वे संध्याएँ. . .क्या सब के सब मृत हो गए? वह अपने आप को समझाने लगी—आज वह दूसरी का हो चुका है। इस पर विश्वास करना दूभर लग रहा है। लेकिन यह यथार्थ है। अरी पगली, इस यथार्थ को स्वीकार नहीं करोगी तो और दुख पाओगी।

'तुम सचमुच भाग्यवान हो।'

'हु. . .म्'

'इसलिए कि तुम सब कुछ भूल सकते हो।'

वह अपना सिर घुमा कर उसे देखता रहा।

'मैं उन बातों को भूल नहीं पाती। ऐसा क्यों?'

वह क्या जवाब देता? असल में उस की बेबसी से अपनी बेबसी भयानक लग रही थी। क्या वह अपनी बेबसी को छिपा कर उसे दिलासा दे सकता था? वह कैसे कह सकता था कि मैं भी उन दिनों को नहीं भूला हूँ। ऐसे निश्छल प्रेम को भुला दूँ तो मेरे लिए इस जीवन में और क्या बचा है जिसे मैं अपनी उपलब्धि मानूँ? वह चाहता तो उस से सब कुछ खुल कर कह सकता था। कह सकता था कि मैं तुम से बेहद प्यार करता हूँ। इसी प्रेम की वजह से तुम्हारी ज़िन्दगी से निकल गया हूँ। जब भी मैं अपनी बीवी का चेहरा देखता हूँ और उस का चुंबन लेता हूँ, मेरी आँखों के सामने वही तुम्हारा चेहरा रहता है जिस से मैं प्रेम करता था। मेरा धर्म, मेरा ईमान तुम्हीं हो. . .वह इन बातों को खुल कर कैसे कह सकता था?

'मेरे वे दिन नहीं रहे, इस तरह के प्रश्न पूछ कर मुझे परेशान न करो', वह बोलने लगा, 'मेरे पास सामान्य से ज़्यादा धन या बुद्धि नहीं है। मैं एक मामूली आदमी हूँ। प्रेम करने का साहस भी मुझ में नहीं रह गया है।'

सुनते-सुनते उस की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। फिर भी अपनी आवाज़ पर क़ाबू रखते हुए बोली, 'ठीक है, मैं तुम्हें परेशान कर रही थी। तुम्हें और एक बार फँसाना चाहती थी। मुझे माफ़ कर दो।'

उस ने सोचा, वह हमेशा ही अपने प्रेम को सुंदर पिंजड़े के समान मानता था। उन दोनों के जीवन के सुनहरे दिनों में उस की गोद में सिर रख कर लेटे हुए वह कहता था, 'तुम्हें मुझ से प्रेम नहीं करना चाहिए था। मुझे लग रहा है कि मानो पाँवों पर बेड़ियाँ पड़ी हों।'

उस समय वह ऐसी बात को सुन कर हँस देती थी। उस ने सपने में भी नहीं सोचा था, अभी कुछ दिनों बाद पिंजड़ा तोड़ कर मुक्त आकाश में उड़ जाने वाले पंछी की तरह वह भी मेरे प्रेम से मुक्त हो जाएगा। वह क्या जानती थी कि मेरा लाड़-प्यार उस का दम घोंट रहा है। उस ने अपने हृदय रूपी सरोवर में लंबी भुजाओं वाला एक ऐसा पौधा पाल रखा था जो शिकार को चारों तरफ़ से बाँध कर रखता है। फिर वह अपने प्रियतम को यत्नपूर्वक बंदी बना कर आश्वस्त थी कि यह शिकार कहीं नहीं भागेगा, लेकिन जिसे वह पालतू समझती थी, एक दिन वह उसे छोड़ कर भाग गया।

'मैं तुम्हें ठगने की कोशिश में थी', वह बोली, 'फिर से अपने चंगुल में फँसाने के लिए।'

'कौन-से चंगुल में?'

'मेरी बड़ी लालसा थी कि अपना एक बच्चा हो। मेरा और तुम्हारा बच्चा. . .। मुझे क्षमा कर देना।'

उस ने बाएँ हाथ से अपना माथा पोंछा और समुंदर की ओर देखने लगा। देखा कि केंचुलियाँ उतार कर लौटने वाले साँपों की भाँति झाग और फेन भरी रुपहली लहरें चट्टानों से टकराने के बाद हार कर लौटी जा रही थीं। वर्षा थम चुकी थी। उस ने छाता बंद किया और एक बार ज़ोर से उसे झटक दिया। फिर उठ खड़ा हुआ और उदासीन स्वर में कहने लगा :

'बहुत देर हो चुकी है। घर में तुम्हारा पति क्या सोच रहा होगा?' वह उस का हाथ पकड़ते हुए हँसा। वह जान गई कि वह आज के लिए विदा नहीं माँग रहा है, हमेशा-हमेशा के लिए विदा माँग रहा है। एक समापन। वे चंचल हँसियाँ, रहस्यमयी बातें, मधुर चुंबन—सब की स्मृतियाँ उसे घेरे हुए थीं। लेकिन, अब उन में से हर एक बेजान-सा, अधमरा-सा लगने लगा। वह उठी और अपनी गीली साड़ी को पिंडलियों से हटा कर पूरी तरह से निचोड़ दिया। फिर अपना हाथ आगे बढ़ा कर बोली, 'मुझे दुअन्नी का एक सिक्का दो, पर्स भूल आई हूँ। बस टिकट के लिए चाहिए।'

वह हँसा। उस का दिया हुआ सिक्का सँभाले उसे अँधेरे में ओझल होते हुए वह देख रहा था। जब वह चली गई, तो वह अपने को सँभाल नहीं पाया। रोने लगा, पर मूक रूप से। दर्शन देने के बाद अंतर्धान होने वाली देवी की तरह वह चली गई है, अपने एकांत और एकाकीपन के सुनसान लोक की ओर, दुख की गंध से परिपूर्ण अपने पत्थर के मंदिर की ओर। उसे फिर से बुलाने और उस के पाँवों की उँगलियाँ चूमते हुए रोने को मन कर रहा था।

पत्थरों और मिट्टी के चबूतरों से पटे उस श्मशान और फिर मैदान को पार कर, पीली झिलमिलाती बत्तियाँ जल रहे बाज़ार के बस स्टॉप पर पहुँच कर उस ने तृषित नयनों से पीछे मुड़ कर देखा। पर, खोखले अँधेरे के सिवाय उसे कुछ नज़र नहीं आया।

और फिर उस के कमरे में उगा पेड़, बढ़ता गया और छत तक पहुँच गया। पेड़ की डालें दीवारों से रगड़ खाती गईं और दरारें बनाती गईं। रात की ज़हरीली वायु में वह पेड़ अपनी असंख्य भुजाएँ फैलाते हुए और बढ़ने की चेष्टा में था। वह अपने बिस्तर पर पेड़ की श्वास-प्रक्रिया पर ग़ौर करती हुई लेटी थी। अपने हृदय की तनहाई भी उसे काट रही थी। ऐसे में मौत को भी वरदान मानने लगी।

मलयाळम से अनुवाद : **डॉ. एच. बालसुब्रह्मण्यम्**

हर्षद त्रिवेदी

झरोखा

नूर भैया ने किराए के पैसे नहीं लिए। कहने लगे, 'बौरा गए हो क्या भले मानुस, तेरे से किराया लूँगा? कितने सालों बाद देखा है तुझे। जब बित्ते भर का था तब भी तेरे से किराया नहीं लिया तो अब कैसे लूँगा?' उन्होंने फतूही की जेब में से बीड़ी निकाल कर सुलगाई। खट से लाइटर बंद किया और बोले, 'लौटोगे कब?'

'कुछ तय नहीं, गर बुआ जाने देगी तो कल वरना परसों तो पक्का।' उन के मुँह से धुँए का गुबार निकला। 'अच्छा फिर अगर कल चलना हो तो ग्यारह बजे यहाँ खड़े रहना और परसों चलना हो तो साढ़े सात बजे!' मैं ने सिर हिलाया। चाबुक की आवाज़ और फिर चर्रऽऽमर्रऽऽ. . .ताँगा चल पड़ा।

मुझे उस घर को देखने की उतावली थी। कुछ-कुछ उड़ते क़दमों से मैं गली तक पहुँचा। अचानक सब कुछ जाग गया हो ऐसी किसी के घर से बछड़े के रंभाने की आवाज़ आई। जैसे ही मैं ने घर की चौखट पर क़दम रखा कि बुआ भागती हुई लेने आईं। झुक कर पा लागन किया। बुआ बलैया ले उस के पहले ही मैं ने सिर ऊँचा कर दिया। सो उन के माथे से मेरा सिर टकराया—धड़ाम आवाज़ आई। हम दोनों को बराबर-बराबर चोट आई। मैं कुछ बोलूँ उस के पहले वे बोल उठीं, 'हाय रे मुए, तू तो अब भी वैसे का वैसा ही रहा। नासपीटे, तू ने तो मेरी मुंडी ही तोड़ डाली।' मैं ने उन के माथे पर हाथ रखा। वे हँस पड़ीं। मैं झूले पर बैठ गया। बुआ ने पूछा, ''बेटे, तुझे ठीक से खाने को नहीं मिलता क्या?' उन की आवाज़ में चिन्ता थी। फिर आगे जोड़ा, 'एकदम सूख कर काँटा हो गया है।' मैं ने बात बदलते हुए कहा, 'बुआ मेरी बात तो जाने दीजिए, पर तुम इतनी दुबली क्यों हो गई हो, ये तो बताओ!'

उन्होंने सिर पीटते हुए कहा, 'अब मुझे तो मसान में जाना है, मोटी हो कर मुझे कौन से काम करने हैं। बैठ, मैं तेरे वास्ते चाय रक्खूँ!' बुआ अँधेरी सीलन भरी रसोई में गईं। मैं ने भगवान की तस्वीर के पीछे फँसाए पोस्टकार्ड को निकाला। सुगंधी के हस्ताक्षर कुछ-कुछ बिगड़ गए हैं, पर मैं तुरंत पहचान गया। कुशल समाचार के अलावा कुछ नहीं था। वह बुआ को बुला रही है ताकि बीमारी-शीमारी में उन की देखभाल हो और अपने बच्चे भी सँभल जाएँ। पर ये बुआ—उन से ये घर कैसे छूट सकता है!

बुआ चाय ले आईं। मैं ने पोस्टकार्ड परे रखा। सिर पर ली हुई सफ़ेद सूती साड़ी में से काफ़ी सारे छोटे-छोटे बाल दिखाई दे रहे थे। उन के बढ़े हुए बाल देख कर मैं ने पूछा, 'बुआ यह गनेशी नाई अब नहीं आता?' एक

हाथ में थाली पकड़ कर और दूसरा हाथ फैलाते बोलीं, 'अरे उस गनेशी ने जोरावरनगर में नई दुकान डाल ली है। बीवी-बच्चे सब को ले कर चला गया वहाँ रहने।' फिर थाली से चाय का घूँट लेते हुए बोली, 'है एक कलुआ, उस का चचेरा भाई। बड़ा तीस मारखाँ बनता है। मन हो तो आ कर मूँड जाता है वरना फिर राम राम।' मेरा उन के सिर पर हाथ फेरने का मन हुआ पर पता नहीं अब उन्हें ऐसा अच्छा लगे या नहीं, यह सोच कर चुपचाप चाय पीने लगा।

ब्यालू करने के बाद थोड़ी बातें हुईं। बुआ ने पूरे गाँव का बहीखाता सुना दिया। फिर उन्होंने अपनी खटिया दालान में डाली। मुझे तो ड्योढ़ी के निकसार में खुले आकाश के नीचे ही सोना अच्छा लगा। इतने वर्षों में पहली बार इस घर में रात भर रुका। वैसे तो यहाँ से तीसरा घर हमारा था। वह आख़िरी था। उस के बाद गली बंद हो जाती थी। जब यहाँ रहते थे तब जितनी भी बार बाहर जाना होता था तो हमें इसी ड्योढ़ी के पास से गुज़रना होता था। कौन कितनी बार मैदान को गया, से ले कर सारी हरकतें इन दो-तीन घरों की निगाहों से बाहर नहीं होती थी।

पहले तो हर हफ़्ते मैं यहाँ आता था। फिर पढ़ाई और नौकरी की ज़िम्मेदारी बढ़ी इसलिए आना कम हो गया। फिर भी दिल तो इसी ओर खिंचा रहता। आख़िरी बार कब आया था—हूँ. . .सुगंधी की शादी में। लड़की का भाई जो था। सब राह देख रहे थे। सुगंधी ने मुझे एक तरफ़ बुलाया, फिर मेरा हाथ पकड़ कर बोली, 'मेरे मन में कहीं था कि शायद तुम न आओ!' उस की मेंहदी रची लाल सुर्ख हथेलियाँ देख कर घड़ी भर तो मेरे रोएँ खड़े हो गए। पर तुरंत गला खँखारते हुए कहा, 'बड़ी आई तुम! तुम्हारे जैसी बहन की शादी हो और मैं न आऊँ, ये कैसे हो सकता है?' वह डबडबाई आँखें ले कर भीतर कमरे में चली गई। सुगंधी नाम उस के पिताजी ने रखा था। यूँ कहिए कि नाम रखते ही गुज़र गए। कुछ साल सब ठीक-ठाक चला फिर उस की माँ पगला गई। आठ-दस साल पहले वो भी मुक्त हो गई। यानि असली मर्द तो थीं ये बुआ। खुद बाल विधवा थीं सो सब कुछ छोड़ कर यहाँ आ गईं। उन्होंने सुगंधी को तो पाला, साथ ही साथ उस की माँ का भी आख़िर तक ख़याल रखा।

बुआ ने मेरी ओर करवट बदली। खटिया चिंचिया उठी। मेरा उस ओर ध्यान गया। वे उठीं और पानी पिया। उन्हें पता था कि मैं जाग रहा हूँ। मुझ से पूछा, 'बेटा पीना है तो ले आऊँ।' मैं ने ना कहा, फिर भी लोटा भर लाईं, उस पर कटोरी ढँकी, मेरी खाट के नीचे रखते हुए बोलीं, 'रात में प्यास लगे तो घूँट भर पी लेना। जाते-जाते मेरे सिर पर हाथ फेरती गईं, 'अब तुझे शादी कब क़रनी है। ऐसे ही रहेगा तो फिर रोटी कौन पका कर देगा?' मैं ने कुछ जवाब नहीं दिया सो धीरे-धीरे पैर घसीटते हुए खटिया पर गईं।

मेरे सामने सुगंधी के अक्षर तैर गए। फिर एक बार पोस्टकार्ड पढ़ने की इच्छा हुई, पर खड़ा नहीं हो सका। सुगंधी इस घर में और मैं पास के घर में। तीन-चार वर्ष के थे तब से साथ-साथ बड़े हुए। स्कूल भी साथ ही जाते थे। मैं तो शुरू से ही शरारती माना जाता। मेरी शरारत के बाद सुगंधी कभी खिलखिला कर, कभी खुराफ़ात से तो कभी कनख़ियों से हँस लेती। स्कूल से लौटते हुए कई बार मैं अपना बस्ता सुगंधी से उठवाता। घर क़रीब आते ही वापस ले लेता। अगर बुआ देख ले तो शामत ही आ जाए! हाई स्कूल में भी हम साथ-साथ थे। पर बाद में लगता था कि सुगंधी का व्यवहार कुछ बदलने लगा है।

एक-दूसरे को छू कर बात करना या बातों-बातों में धोल-धप्पा करना हमारे लिए सहज था। जब बुआ ने आँखें तरेरीं तब जा कर होश आया कि बड़े हो रहे हैं। एक बार मैं सीधे ही ड्योढ़ी में घुसा। सुगंधी सामने औसारे में बैठी थी। मैं भाग कर वहाँ पहुँचा। उस का हाथ पकड़ कर उठाने ही जा रहा था कि बुआ चिल्लाई, 'छूना मत!' मैं हड़बड़ा कर रुक गया। फिर ख़याल आया कि सुगंधी तो टाट का बोरा बिछा कर बैठी थी। उस के पास में पानी का गिलास पड़ा था। उस ने एकदम सिर झुका दिया और दोनों हाथ आँखों पर रख दिए। मैं हैरत में पड़ गया।

आगे चल कर दो-तीन दिन तक मैं ने देखा कि बुआ को मेरा आना अच्छा नहीं लगता था। सुगंधी भी मानो मुझे पहचानती न हो, यों मेरी ओर देखा करती। उन दिनों मैं झूले से आगे बढ़ नहीं सकता था। बीच में ही बुआ बैठी रहतीं। फिर तो सुगंधी मुझ से पहले स्कूल चली जाती। मैं निकलता और झरोखे में से झाँकने पर पता चल जाता कि सुगंधी घर में नहीं है। भीतर जाने की ज़रूरत ही नहीं रहती।

स्कूल में तो वही पुराना घुलना-मिलना। परंतु सुगंधी अब आँखें मिला कर बात नहीं करती थी। कुर्ते के बटन से खेलती या कुर्ते का गला ऊपर खींचती रहती। कभी-कभी तो आँख उठा कर देखती भी नहीं। पैर से ज़मीन पर लकीरें खींचती रहती। एक दिन आईना ले कर मैं अपने औसारे में उठंग बैठे-बैठे चेहरा देख रहा था। हल्के रोओं को सहला रहा था। थोड़ी-थोड़ी देर में मूँछ पर उँगली और अँगूठा फेरता जाता। गोपाल मंदिर की आरती के लिए रुई की बत्तियाँ तो बहुत बँटी, पर यह मूँछ का अनुभव—साला मज़ा आ गया। सुगंधी सामने खड़ी-खड़ी कब से मुझे टुकुर-टुकुर ताक रही है इस का ख़याल तो जब वह खिलखिला कर हँस पड़ी, तब आया। मैं झेंप गया। चड्डी को ठीक से समेट कर दोनों पैर सटा लिए। मैं ने देखा कि उस की निग़ाह सिर्फ़ मूँछ पर ही नहीं, मेरी चड्डी और जाँघों पर दिखाई दे रहे रोओं पर भी थी। उस की आँखों पर शीशा चिलका कर मैं खड़ा हो गया। अपनी एकमात्र पतलून पहन कर बाहर निकल गया। मैं ने देख लिया था कि सुगंधी ने मुझे झरोखे से देखा है।

दूसरे दिन मैं ने माँ से कह दिया, 'मेरी सारी चड्डियाँ किसी को दे देना, मैं नहीं पहनूँगा।' मेरे चड्डी विरोध के दंगे की ख़बर पूरी गली में सब को हो गई थी। सुगंधी भी जानती होगी न? तो फिर उस ने क्यों नहीं कुछ कहा! पर वह तो दिन-ब-दिन बदलती ही जा रही थी। पहले की तरह लिपटती नहीं थी और बिना किसी काम के ज़्यादा बोलती भी नहीं थी। पारे जैसी बनती जा रही थी। गर मैं इस ओर से उस के सामने जाता तो वह उस ओर होती और अगर मैं उस ओर से जाता तो वह. . .एक बार मैं ने उसे पूछ ही लिया, 'सुगी, तू मेरे से नाराज़ है क्या?'

'ना रे! तुम से कैसी नाराज़गी?' वह आगे कुछ नहीं बोली, बस आँखें झुका लीं। फिर मैं भी कुछ नहीं बोल पाया। वह चली गई। मैं जैसे ही गली में क़दम रखता कि सीधे ही बुआ की ड्योढ़ी के पास वाले झरोखे में दिखाई देता! सुगंधी को झरोखे से पता चल जाता कि मैं गली में हूँ। हमारे बीच कॉपियों का लेन-देन इसी झरोखे से होता। वैसे मैं सुगंधी में बदलाव ज़रूर महसूस कर रहा था। मुझे लगता था कि उस की निग़ाह हर घड़ी मेरी प्रतीक्षा में रहती हैं। अपनी सहेलियों के बीच घिरी होने के बावजूद वह मुझे देख लेती। फिर बाद में पता चलता कि उन की बातों का केन्द्र मैं ही होता था। दिन में चार-पाँच बार तो उस के घर जाना ही पड़ता, कभी कुछ देने-लेने या बुआ को बाज़ार से कोई चीज़ ला कर देने के लिए। हालाँकि मैं ने देखा कि अब उस का चेहरा पहले-सा स्वस्थ प्रसन्न नहीं लगता था। एक रात नींद में कुछ अजीब बात हुई। दिन भर दूर-दूर रहने वाली सुगंधी मेरी खाट की पाटी पर बैठी है। मैं चैन से सो रहा हूँ। वह मेरा माथा सहलाती है तो लगता है कि जल रहा है। फिर उस ने मेरे गले पर हाथ फेरा। कुछ देर यों ही रहने दिया तो लगा कि जैसे उस में झुलसती हुई धरती की प्यास तड़प रही है। उस का हाथ धीरे-धीरे मेरी छाती पर घूम रहा है, लगता है वह गाजर के छोटे से पौधे पर हाथ फेर रही है। मुझे लगा कि इतने सारे बाल मेरे सीने पर अचानक कैसे उग आए? उस का हाथ लगातार घूम रहा था। मैं ने आँखें नहीं खोलीं तो वह गुस्सा हो गई। मेरे सिर के बाल दोनों हाथों से कस कर पकड़े और फिर माथे पर अपना माथा रख दिया। फिर मुझे भींचने लगी। उस की छाती का दायाँ हिस्सा मुझे छू रहा था। दो-चार दिन का जन्मा कोई बछड़ा धीरे-धीरे अपना सिर छाती से रगड़ रहा हो ऐसा लगा। मेरी साँस एकदम बढ़ गई। अचानक पूरी देह महक उठी, फिर सकुचाई, तंग हुई और समग्र अस्तित्व एक ही जगह पर इकट्ठा हो कर, बँध कर फिर एक साथ बिखर गया. . .

उस दिन की तरह आज भी जाग पड़ा। मैं ने खाट के नीचे से पानी का लोटा लिया। घूँट भर पीया। लगा कि

अब नींद नहीं आएगी। पर ऐसे ही लेटे रहने के अलावा कोई चारा नहीं था। सामने खटिया पर बुआ सोई थीं। यहाँ से सीधे-सीधे उन का सिर दिखाई दे रहा था। हल्के अँधेरे में उन के बढ़े हुए बालों के कारण सिर के बदले एक बड़ी-सी साही हो, ऐसा लग रहा था। खेत में जाते समय कई बार साही देखने को मिलती। मैं उसे पकड़ता। वह मुँह अंदर खींच लेती, पूरा बदन ऐसे समेट लेती कि उस के सारे काँटे अपनी हथेलियों में चुभ जाते। तुरंत हाथ खुल जाता और धप्प से साही धूल में गिर पड़ती। देर तक हिलती नहीं। गेंद की माफ़िक पड़ी रहती। बुआ ने फिर करवट बदली। सफ़ेद साड़ी का पल्लू सिर पर लिया। मैं ने उन पर से अपनी निगाह हटाई। सामने झरोखा दिखाई दे रहा था। उस में सुगंधी का चेहरा हँस रहा था। मैं जब बाहर से गुज़रता था तब ऐसे ही सुगंधी मुझे देखती होगी। मैं ने आज तक बाहर से झरोखे के भीतर देखा था पर भीतर से बाहर देखने का यह पहला अनुभव था! मैं झरोखे की ओर ताकता रहा। सुगंधी का चेहरा एकदम क्यों लटक गया?

उस दिन राखी थी। सुगंधी ने सुबह से कलपना शुरू कर दिया था। उस के एक भी भाई नहीं था फिर भी राखी ख़रीद लाई थी। बुआ ने देवघर की ओर हाथ बढ़ा कर कहा, 'गोपाल को बाँध दे!' पर सुगंधी को हाथ बढ़ा कर सामने खड़ा रहे, ऐसा भाई चाहिए था। रोते-रोते बोली, 'मुझे एक भाई देने में भगवान का क्या जाता था?' उस का रोना चालू ही था कि मैं जा पहुँचा। बुआ बोल उठीं, 'सुबह से भाई-भाई की रट लगा रखी है, ले आ गया तेरा भाई! बाँध इसे राखी! ये भाई ही है। अरे, कहावत में कहा है न कि साथ-साथ रहे वो भाई!' सुगंधी खड़ी नहीं हुई। उस की हिचकियाँ बढ़ गईं। खुद चल कर बुआ पानी के मटके के पास रखी हुई राखी ले आईं और सुगंधी को ज़बरदस्ती पकड़ा दी। पहले तो मुझे कुछ समझ में नहीं आया फिर बाद में तो उन्होंने सुगंधी को हाथ पकड़ कर खड़ा कर ही दिया। वह आँख उठा कर देख नहीं सकी। चुपचाप मुझे राखी बाँध दी। पोपले मुँह से बुआ 'हें हें हें हें' करके हँसीं, 'देखो कितनी बढ़िया सज रही है! अब तू उस का भाई हुआ, दे उसे आसिरबाद तो दे!' मैं झेंप गया। उल्लू की तरह खड़ा रहा। हाथ पर नज़र गई। राखी बहुत सुंदर लग रही थी पर हाथ तो मानो बबूल का ठूँठ!

उन का 'हें हें हें हें' हँसता चेहरा मेरी आँखों में मढ़ गया। मुझे आँखें फोड़ देने की तीव्र इच्छा हुई। उन्होंने मुझे मुस्कराते हुए देखा। मुझे सामने की दीवार से सिर पटकने का मन हुआ। मेरे माथे पर उन का हाथ घूमा तो उन के हाथ की तमाम रेखाएँ वहीं चिपक गईं। मेरा राखी बँधा हाथ मुट्ठी बन गया। पल भर में तन कर सूखे हुए तालाब जैसे बुआ के माथे पर टूट पड़े। मैं ड्योढ़ी के बाहर निकल गया।

दूसरे दिन सुबह नहा-धो कर बाहर निकला। मुझे यक़ीन था कि सुगंधी झरोखे पर निग़ाह रखे बैठी होगी। पर यह क्या? सुगंधी ने झरोखे में एक आड़ी ईंट रख दी थी। उस पर दूसरी रखने को उस का हाथ बढ़ा हुआ था। आधे झरोखे में से उस ने मेरी ओर देखा। उस की आँखों में से नूर ग़ायब था। पल भर में वह दूसरी ईंट रखे और झरोखा बंद हो जाए, उस के पहले मैं वहाँ से हट गया।

थोड़े दिनों पहले बुआ ने आगे की दीवार फिर से बनवाई तो झरोखा पूरा बंद हो गया। पर मुझे वह जगह आज भी ठीक-ठाक याद है। ए ये रहा. . .यहाँ था—मैं बड़बड़ाता हुआ झरोखा टटोलने को खाट से खड़ा हो गया कि बुआ बोलीं, 'भैया, अभी तो सुबह होने में बहुत देर है। बड़ी मुश्किल से तीन साढ़े तीन हुए होंगे। सो जा। खाट बदल गई है, इसलिए शायद नींद नहीं आ रही होगी।'

मैं ने पानी का लोटा मुँह से लगा लिया।

गुजराती से अनुवाद : **बिन्दु भट्ट**

लखमी खिलाणी

काकातूआ

विशाखा तय नहीं कर पा रही थी कि अपने भाग्य पर हँसे या रोए! इस घर में उसे वह सब कुछ मिला था, जिस की विवाह से पूर्व हर लड़की कल्पना करती है। सुंदर पति, आधुनिक ढंग से सजाया हुआ वातानुकूलित फ़्लैट, नौकर-चाकर, घर में केवल दो अन्य सदस्य—सास और ससुर, वे भी ज़्यादातर अपने कमरे में बंद रहने वाले। उन्होंने विशाखा को यहाँ कॉलिज में नौकरी करने की इजाज़त भी दे दी थी। बाहर आने-जाने, घूमने-फिरने पर भी कोई रोक-टोक नहीं थी। फिर भी इस घर में उसे इतनी घुटन क्यों हो रही है? वह बाहर निकलने के लिए छटपटा रही थी। शादी हुए अभी तो केवल छह महीने बीते हैं, पूरी उम्र कैसे कटेगी?

अभी थोड़ी देर पहले ही उस की मम्मी का बंबई से ट्रंककॉल आया था। हर रविवार को वह फ़ोन पर उस का कुशल-क्षेम पूछती है, 'बेटी! तुम ठीक तो हो ना? तुम्हारे सास-ससुर कैसे हैं? जयंत कहाँ है? घर के लोगों का व्यवहार तुम्हारे साथ ठीक तो है! तुम्हें कोई तकलीफ़. . .?'

विशाखा माँ के पूछे गए हर प्रश्न का उत्तर उसी मशीनी अंदाज़ में देती जाती है। 'हाँ माँ! मैं बिल्कुल ठीक हूँ। यहाँ मुझे कोई तकलीफ़ नहीं है। तुम अब मेरी चिन्ता करना छोड़ दो। अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखो। खाना तो ठीक से खाती हो ना? दवा सही वक़्त पर लेती हो या. . .?' माँ से फ़ोन पर बात करने के बाद विशाखा बेडरूम में आ कर लेट जाती है। एयर कंडीशनर की हवा उसे ज़्यादा गर्म लगती है। वह पैरों के पास पड़ा हुआ कंबल खींच कर अपने चारों ओर कस कर लपेट लेती है। रविवार के दिन उसे दोपहर को एक-दो घंटे लेटने का मौक़ा मिलता है। जयंत रविवार को पूरा दिन घर से ग़ायब रहता है। विशाखा आँखें बंद करके नींद लेना चाहती है। पर उसे नींद नहीं आ रही। वह सिर्फ़ करवटें बदलती रह जाती है। अपनी अवस्था पर आँसू बहाना चाहती है परंतु वे निगोड़े भी आँखों के भीतर ही सूख गए हैं। उसे सिर्फ़ एक ही बात की खुशी है कि माँ के सिर से उस का बोझ उतर गया। अब उस की माँ शांति से आँखें मूँद सकेगी। वरना उसे दिन-रात यही चिन्ता रहती थी कि मेरे मरने के बाद विशाखा का क्या होगा?

विशाखा के पिताजी तो उस के बचपन में ही गुज़र गए थे। उसे उन का चेहरा भी ठीक से याद नहीं है। माँ ने ही उसे पाल-पोस कर बड़ा किया, पढ़ाया-लिखाया। अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. करने के बाद कॉलिज में नौकरी भी मिल गई। उस दिन वह बहुत खुश थी। उस ने सोचा था कि अब वह माँ के सभी दुख दूर कर देगी; अब

वह माँ की बेटी नहीं; बेटा है; पर माँ की नींद तो वैसी ही उड़ी रही। दिन-रात विशाखा के विवाह और उसे वर-घर के साथ देखने की ही इच्छा और चिन्ता। अख़बार में आए एक विज्ञापन पर उस की ही नज़र पड़ी थी : 'मद्रास निवासी, विदेश सेवा से निवृत्त हुए, वन-विभाग अधिकारी के ऑक्सफ़ोर्ड से शिक्षा प्राप्त बेटे के लिए एक खुदाबादी आमिल घर की पढ़ी-लिखी सुंदर लड़की. . . .'

यह विज्ञापन माँ के मन को छू गया। भेजा गया फ़ोटो और बॉयोडाटा स्वीकार किए गए। जुहू बीच के एक रेस्तराँ में राजकुमार और राजकुमारी ने एक दूसरे को देख कर स्वीकृति की वरमाला पहनानी थी। ताजमहल होटल के रिसेप्शन हॉल में आई सभी सहेलियों को विशाखा के भाग्य से ईर्ष्या हो रही थी।

'तुम भाग्यवान हो। भगवान के घर देर है, अँधेर नहीं। उस ने तुम्हारे सभी दुख दूर कर दिए हैं। तुम्हारी सभी इच्छाएँ पूरी हो गईं।' रिश्तेदारों के उस समय कहे गए ये वाक्य विशाखा के कानों पर इस समय हथौड़े मार रहे हैं।

दीवार पर लगी घड़ी ने चार बजाए। ठीक पाँच बजे उस के सास-ससुर अपने कमरे से बाहर निकल कर, चाय के लिए घंटी बजाते हैं। उन्हें ठीक वक़्त पर चाय चाहिए। चाय पी कर साढ़े पाँच बजे वे पार्क में घूमने जाते हैं और ठीक सात बजे लौट आते हैं। पूरी उम्र फ़ॉरेन सर्विस में गुज़ारने के कारण उन्होंने अपने रोज़मर्रा के कार्य, घड़ी की सुइयों के हिसाब से निर्धारित कर लिए हैं। घड़ी की ये सुइयाँ, अपनी घंटी की आवाज़ के साथ, घर के अन्य सदस्यों और नौकर-चाकरों को भी अपने साथ हमक़दम होने के लिए घसीटती रहती हैं।

विशाखा बिस्तर से उठ, ड्रेसिंग टेबल के सामने खड़ी हो कर, अपने बाल सँवारती है। रविवार के दिन दोपहर के बाद घर के नौकर छुट्टी पर होते हैं। शाम की चाय और रात का हल्का खाना बनाने की ज़िम्मेदारी विशाखा पर होती है।

पूरे पाँच बजे घंटी बजने पर विशाखा रसोईघर से सूखा मेवा, चाय और बिस्कुट ट्रे में ला कर ड्राइंग रूम की सेंटर टेबल पर निहायत सलीक़े से बिना कोई आवाज़ किए रख देती है। अब उसे इस बात का अभ्यास हो गया है। वरना पहले तो उस के हाथ काँपते रहते थे। डर लगता था कि कहीं ये जापानी कप-प्लेटें हाथ से छूट फ़र्श पर गिर कर चूर-चूर न हो जाएँ और क़ीमती ईरानी कालीन को ख़राब न कर दें। चम्मच गिरने की आवाज़ से भी उस के ससुर की सर्द आँखें अख़बार से उठ कर उसे अंदर तक चीर देती हैं।

वह चाय के कप तैयार करके सुसर के आगे रखती है। ससुर की नज़र शाम वाले अख़बार पर और सास की दोनों हाथों में पकड़ी हुई सलाइयों पर केन्द्रित है जिन से वह तेज़ी से कुछ बुन रही है। उस की आँखों की पुतलियाँ सिर्फ़ एक बार ऊपर उठ कर, सीधी उस की आँखों में घूर कर फिर अपने काम में व्यस्त हो जाती हैं। विशाखा को इस ड्राइंग रूम में अपना दम घुटता-सा महसूस होता है। उसे लगता रहता है कि दीवार पर टँगे शेर-चीते के सिर अपने खूँखार दाँत भींचे मानो अभी उस पर छलाँग लगा देंगे। इन का शिकार ज़रूर उस के ससुर ने अपनी अफ़्रीका पोस्टिंग के दौरान किया होगा। इस ड्राइंग रूम में उन्होंने दुनिया भर की अद्‌भुत वस्तुओं को शो-केस में सजा कर रखा है। अपनी एकत्र की हुई इन अज़ीबोगरीब चीज़ों से सास-ससुर को बड़ा मोह है। वे स्वयं उन की झाड़-पोंछ करते हैं। उन्हें न नौकरों पर भरोसा है, न विशाखा पर।

वह अपना चाय का कप उठा कर बाहर बाल्कनी में शीशे की खिड़कियों में से छन कर आती धूप में बैठती है। यह धूप उसे अच्छी लगती है। अंदर तो बंद मक़बरे जैसी ठंड और सीलन है। सर्द लाशों को अपनी क़ब्रों में से उठ कर चलने-फिरने की कल्पना, उस के बदन में झुरझुरी पैदा कर देती है।

'गुड आफ़्टरनून, विशाखा! हाउ डू यू डू?' बाल्कनी की छत से टँगे लोहे के झूले पर बैठा काकातूआ पक्षियों का जोड़ा खुशी से चिल्ला कर उस का स्वागत करता है। वह अपने होठों पर अँगुली रख कर उन्हें चुप रहने की

हिदायत देती है। इंसानों की तरह बात करने वाले ये तोते, उस के सास-ससुर ब्राजील से ले आए थे। जब भी कोई मेहमान उन के घर आता है, ये दोनों काकातूआ उड़ कर उस के कंधों पर आ बैठते हैं और 'गुड मॉर्निंग', 'गुड ईवनिंग', 'हाउ डू यू डू?' कह कर उस का स्वागत करते हैं और प्यार से उस के गालों को चूम लेते हैं। आने वाला मेहमान एकदम हक्का-बक्का हो जाता है।

'डरो मत! हमारे पाले हुए ये काकातूआ हार्मलेस हैं।' सास-ससुर मेहमान को आश्वासन देते हैं और उसे ड्राइंग रूम में सजी हुई अपनी अद्भुत चीज़ें दिखाने में मशगूल हो जाते हैं। यही उन का पसंदीदा कार्य है। उन के जमा किए हुए इन खिलौनों की जब कोई प्रशंसा करता है तो वे खुश हो कर उस का अधिक आदर-सत्कार करते हैं।

दोनों काकातूआ उड़ कर विशाखा के कंधों पर आ बैठते हैं। विशाखा उन के लाल-हरे पंख सहलाती है। ये दोनों उस से काफ़ी हिल-मिल गए हैं। उस का नाम कहना भी सीख गए हैं। उसे देखते ही 'विशाखा, विशाखा' चिल्लाना शुरू कर देते हैं। यह देख विशाखा के सास-ससुर की आँखें नापसंदगी का इज़हार करती हैं, 'तुम ने इन्हें अपने लाड़-प्यार से बिगाड़ दिया है।'

इस घर के सदस्य बहुत कम बातचीत करते हैं। ज़्यादा समय इंग्लैंड में बिताने के कारण वहाँ के लोगों की तरह इन्हें भी अपने होंठ खोलने में तकलीफ़ होती है। बोलने का काम भी अधिकतर आँखों से करते हैं।

काकातूआ को भी ऐसा अनुमान हो गया है कि आज विशाखा का मूड ठीक नहीं है। न तो वह उन्हें बिस्कुट खिला रही है, न ही उन्हें प्यार कर रही है। ज़रूर उसे अपने मायके की याद सता रही है। जब यहाँ ठंड बढ़ जाती है, तब उन्हें भी अपने देश के गर्म नम जंगलों की याद सताती है। वे बेचैन हो कर अपने पंख फड़फड़ा कर फ़्लैट में यहाँ से वहाँ चक्कर लगाते हैं। इस घर से बाहर निकलने का रास्ता ढूँढते हैं। शीशे की बंद खिड़कियों पर अपनी चोंच से हमला करते हैं। थक-हार कर फिर अपने लोहे के झूले पर लौट आते हैं।

'खट' से दरवाज़ा बंद होने की आवाज़ पर विशाखा चौंक जाती है। उस के सास-ससुर घूमने के लिए बाहर निकले हैं। अब रात को आठ बजे खाने की घंटी बजने तक उसे कोई काम नहीं है। उसे अब अकेले बाहर जाने की इच्छा नहीं होती। इस से तो वह घंटे-दो घंटे किताब पढ़ेगी।

वह उठ कर जयंत की स्टडी में आती है और हाल ही में उस के द्वारा ख़रीदी गई किताबों को उलटती-पलटती है। जयंत लंदन में फ्रीलांस जर्नलिस्ट था, यहाँ भी है। प्राप्त होने वाली आय से उस का शराब, सिगरेट आदि का ख़र्च निकल आता है। उस के लिए उसे अपने पिता के आगे हाथ नहीं पसारना पड़ता। सास-ससुर ने तो चाहा था कि जयंत भी उन्हीं की तरह फ़ॉरेन सर्विस ज्वाइन करता या कंप्यूटर इंजीनियर बन कर कोई बड़ी इंडस्ट्री लगाता, पर वह पढ़ाई में 'ड्रॉप-आउट' साबित हुआ। उस ने अपने हाथ-पाँव चला कर कभी कोई मेहनत का काम करने की ज़रूरत महसूस नहीं की।

टेबल पर रखी एश-ट्रे सिगरेट के ख़ाली टुकड़ों से भरी हुई है। चाय का ख़ाली कप भी नौकर ने हटाया नहीं है, न ही तख़्त पर पड़ी मैली चादर को बदला है। जयंत अक्सर रात को देर से लौटता है। विशाखा को डिस्टर्ब करने के बजाय वह स्टडी में ही सो जाता है। घर के हर सदस्य के पास फ़्लैट की अपनी चाबी है। जयंत के अनुसार हर इंसान को अपनी ज़िन्दगी अपनी इच्छानुसार बिताने का हक़ है। उसे दूसरे की ज़िन्दगी में टाँग अड़ाने की ज़रूरत नहीं है।

विशाखा सोच रही है कि काश! वह जयंत को यह अहसास करवा सकती कि ज़िन्दगी सिर्फ़ सैर-सपाटे और मौज़-मस्ती का नाम ही नहीं है। वह एक ज़िम्मेदारी का नाम भी है—अपने प्रति, साथ ही अपने आसपास के प्रति भी। पर ये उत्तरदायित्व वही पूरे कर सकेगा, जिस में ऐसी शक्ति है। जयंत की बातें तो हमेशा आसमान को छूती

हुई होती हैं, पर उड़ने के लिए अभी उस के पंख ही नहीं निकले हैं। माता-पिता अब भी उस पर अपनी छाँव किए हुए हैं।

रात के खाने के बाद, किताब पढ़ती हुई विशाखा को न जाने किस समय नींद ने घेर लिया। आधी रात को बाल्कनी में काकातूआ की चीख़-पुकार ने उसे जगा दिया है। वह हाथ बढ़ा कर अपने नज़दीक जयंत की मौजूदगी का अहसास करना चाहती है। वह जगह अभी भी ख़ाली है।

वह गाउन पहन कर स्टडी में जा कर झाँकती है। जयंत बिना कपड़े बदले स्टडी में औंधा पड़ा हुआ है। जूते भी नहीं उतारे हैं। एश-ट्रे में रखी सिगरेट धीरे-धीरे जल कर राख हो गई है। तिपाई पर व्हिस्की का ख़ाली गिलास पड़ा है।

बाल्कनी में पक्षियों का शोरगुल बढ़ता चला जा रहा है। विशाखा का मन सुलगने लगा है। क्यों न वह सामने रखा क्रिकेट बैट उठा कर इस घर की शीशे की सभी खिड़कियाँ तोड़ डाले! इन काकातूआ को खिड़की से बाहर उड़ा दे। ये पक्षी इस सर्द माहौल में और अधिक वक़्त रहे तो इन के पंख भी जम कर बर्फ़ हो जाएँगे।

सिन्धी से अनुवाद : **विमी सदारंगाणी**

बलराज कोमल

मिट्टी का बोझ

जब वह 'सादातां' पहुँची, दोपहर हो चुकी थी। बड़े ज़ोरों की गर्मी थी! सिर पर रखी गठरी को सँभालते हुए आहिस्ता-आहिस्ता क़दम उठाती हुई जब वह गोगी के दरवाज़े पर पहुँची, उस की हिम्मत जवाब दे चुकी थी। उस ने बड़ी मुश्किल से गठरी सिर से उतार कर ज़मीन पर रखी। दरवाज़े पर दस्तक दी और बेहोश हो कर ठीक दरवाज़े के पास ढेर हो गई। दस्तक घर के अंदर रहने वालों तक पहुँच तो गई लेकिन चूँकि वह अपने मामूल के कामों में व्यस्त थे, इसलिए उन में तुरंत तो कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, या फिर तेज़ गर्मी ने उन्हें बैचेन कर रखा था। बहरहाल थोड़ी देर के बाद गोगी ने आ कर दरवाज़ा खोला और दरवाज़े के बाहर का दृश्य देख कर जहाँ खड़ी थी वहीं खड़ी की खड़ी रह गई। गली की ऊबड़-खाबड़ मिट्टी पर एक गठरी पड़ी थी जिस में से एक तरबूज़, कुछ खरबूजे, दो चार अलग-अलग रंगों के कपड़े गठरी की खिड़कियों में से बाहर झाँकने की कोशिश कर रहे थे और गठरी के पड़ोस में ठीक गठरी ही की तरह एक बूढ़ी औरत बेहोश पड़ी थी। इस दौरान में गोगी के अलावा उस मंज़र को देखने वालों में गोगी की नौ-दस बरस की बेटी पूर्ति और तेरह बरस का बेटा माल्टू और गली में से गुज़रते हुए कुछ राहगीर भी शामिल हो गए थे। गोगी के मुँह से बेअख़्तियार निकला—'हाय, यह तो माटी है।' सब लोग झुक कर उसे देखने लगे। अचानक गोगी बुलंद आवाज़ में चिल्लाई—'देख क्या रहे हैं, हम लोग! आओ हाथ बँटाओ। इस को उठा कर अंदर कहीं छाया में ले चलें।' गोगी, पूर्ति, माल्टू और दो-एक दूसरे लोगों ने बढ़ कर बूढ़ी औरत को उठाया और घर के अंदर ले जा कर नीम के छायादार पेड़ के नीचे पड़ी हुई चारपाई पर लिटा दिया। एक व्यक्ति गठरी को भी उठा कर अंदर ले आया। पूर्ति बूढ़ी औरत को पंखा करने लगी। गोगी ने उस के मुँह पर ठंडे पानी के छींटे दिए और चंद ही मिनट में उस ने आँखें खोल दीं और फिर उठ के बैठ गई, 'मुझ जनम-जली को आज तक कुछ नहीं हुआ—ये आज क्या हो गया? गोगी, देख तेरे लिए देसावरी चाचा ने क्या भेजा है और पूर्ति और माल्टू तुम्हारे लिए भी। और यह तरबूज़ और खरबूजे तुम्हारी नानी ने भेजे हैं।' बच्चे ये सुनते ही गठरी पर झपटे और देखते-देखते सब कुछ नोच-बटोर कर घर में इधर-उधर बिखेरने लगे। माटी कुछ देर तो इधर-उधर की बातें करती रही, पानी पिया और फिर सिर पकड़ कर बैठ गई। गोगी बोली, 'यहाँ भी ख़ासी गर्मी है। आओ इस की चारपाई उठा कर अंदर ले चलें। बहुत-से हाथ आगे बढ़े और चारपाई को उठा कर अंदर कमरे में ले गए। माटी फिर किसी हद तक बेहतर महसूस करने लगी और इधर-उधर की बातें करने लगी।

'मुझे लगता है मुझे बुखार चढ़ रहा है।' माटी अपने माथे पर हाथ रख कर गर्मी महसूस करते हुए बोली।

गोगी, पूर्ति, माल्टू और मुहल्ले की दो-एक और औरतें जो इस बीच वहाँ पहुँच गई थी, सब ने माटी के माथे को छू कर देखा और कहने लगीं, 'हाँ, इसे तो सचमुच बुखार हो रहा है।'

देखते-देखते माटी का चेहरा सुर्ख़ हो गया और नीम बेहोश-सी हो गई और उसी में बड़बड़ाने लगी। इधर-उधर के घरेलू इलाज़ के टोटके बताने के बाद ज़्यादातर लोग अपने-अपने घर चले गए और गोगी, पूर्ति, माल्टू और कुछ-एक माटी की देखभाल के लिए उस के पास रह गए—माटी मूर्च्छा में बराबर बड़बड़ा रही थी। गोगी थोड़ी-थोड़ी देर के बाद उस के मुँह में पानी की कुछ बूँदें टपकाती थी और पूर्ति उसे लगातार पंखा कर रही थी।

इस गाँव का नाम 'माजरा' था और जहाँ की माटी रहने वाली थी उस का 'बादल'! अजीब गाँव था वह! माजरा में तो कुछ मकान पक्के बन गए थे, कुछ गलियाँ भी ठीक-ठाक हो गई थीं। दो-एक ट्यूबवेल भी चलने लगे थे, लेकिन बादल तो ऐसा गाँव था, जहाँ सिर्फ़ मौसमों की बौछार होती थी। लोग एक-दूसरे को छोटी-छोटी बातों पर क़त्ल कर देते थे या फ़ुर्सत में खेतों में थोड़ा-बहुत काम कर लेते थे। माटी उस गाँव में पैदा हुई, पली, बढ़ी। पहले उस के पिता का क़त्ल हुआ, फिर भाई का। फिर एक क़ातिल से उस ने शादी कर ली और फिर वह क़ातिल भी क़त्ल हो गया। सिर्फ़ माँ बची रह गई और उस की बेटी माटी। माँ-बेटी खेत में कुछ काम कर लेतीं या फिर आसमान की तरफ़ देखती रहतीं, जहाँ साल के ज़्यादातर मौसमों में ख़ून बरसता रहता था। माँ और बेटी के वैधव्य के कई वर्ष बीत जाने के बाद ऐसा महसूस होता था, उन की उम्र में कोई फ़र्क़ नहीं। माँ तो उम्र की वजह से कुछ झुक गई थी। माटी ने छोटा-मोटा सामान एक घर से दूसरे घर तक, एक गाँव से दूसरे गाँव तक, गठरी में बाँध कर अपने सिर पर रख कर पहुँचाना शुरू कर दिया था और सिर पर रखे वज़न के बावजूद संतुलित अंदाज़ में चलने की आदी हो गई थी। जिस दिन उस की माँ ने आख़िरी साँस ली, माटी उस को कुछ देर टुकुर-टुकुर देखती रही और फिर सूखी लकड़ियाँ आस-पड़ोस या जंगल में बटोर कर एक जगह जमा करने लगी और गाँव के कुछ लोगों के सामने बिना रोए-धोए माँ का अंतिम संस्कार कर दिया।

लोगों का ख़याल है यह भी बरसों पुरानी बात है! अंतिम संस्कार करके माटी अपने घर लौटी, दो-चार कौर हलक़ से नीचे उतारे, पानी पिया और पास पड़ी हुई किसी की गठरी किसी के घर तक पहुँचाने के लिए निकल पड़ी। फिर यह उस का मामूल बन गया। वह सुबह-सवेरे उठती, गाँव का चक्कर लगाती, लोगों के खुले दरवाज़ों में गर्दन डाल या दस्तक दे कर घरों के अंदर रहने वालों से कहीं पहुँचाने के उद्देश्य से किसी संभावित गठरी के बारे में पूछती और मिलते ही गठरी सिर पर रखती और निकल पड़ती। माजरा, बादल और सब आसपास के गाँवों में माटी को बच्चा-बच्चा जानता था। जब वह गठरी सिर पर उठा कर निकलती तो कुछ बच्चे उस के पीछे-पीछे चलने लगते। कुछ औरतें दरवाज़ों में आ कर खड़ी हो जातीं और उस से उस की ख़ैर-ख़बर पूछ लेतीं। माटी बच्चों को हँस-हँस कर, तरह-तरह के मुँह बना-बना कर खुश करने की कोशिश करती। इक्का-दुक्का मर्द कोई फ़ब्ती कसता तो वह भी उसी तरह उस का जवाब दे कर आगे बढ़ जाती। काम पर निकलने से पहले या मंज़िल पर पहुँच कर सामान पहुँचाने की सेवा के बदले में उसे कुछ न कुछ खाने को भी मिल जाता। खा कर जो बच जाता वह उसे एक पोटली में सुरक्षित कर लेती।

उस इलाक़े में ग़ज़ब की गर्मी पड़ती थी। गाँव का नाम तो बादल था, लेकिन न सिर्फ़ यह गाँव बिल्कुल गर्म, सूखा और ख़ून-आलूदा था बल्कि इस से निकल कर आसपास के गाँव तक पहुँचने वाले तमाम रास्ते भी आसमान से ज़मीन तक लू, गर्द और एक सुर्ख़ ख़ून-आलूदा-से ग़ुबार में घिरे रहते थे। माटी आम तौर पर घर

से सुबह-सवेरे निकलती थी, इस मक़सद से कि वह दोपहर से पहले अपनी मंज़िल तक पहुँच जाए, लेकिन उस इलाक़े का मौसम ही कुछ इतना तेज़ गर्म था कि सुबह से आसमान से आग बरसने लगती। गर्द व ग़ुबार का सिलसिला शुरू हो जाता और दोपहर होते-होते जहन्नुम अपने पूरे रंग में आ जाता। माटी इस माहौल में रहते-रहते इस का हिस्सा बन गई थी। उस का रंग ताँबे जैसा हो गया था। पाँव के तलवे झुलस-झुलस कर तहदार, खुरदुरे और बेहिस हो गए थे। पानी के दो-चार घूँट पी कर और कुछ रूखा-सूखा खा कर वह शारीरिक रूप से स्वस्थ हो जाती थी और जलते हुए वीरान रास्तों पर गर्म हवाओं में सिर पर गठरी सँभाले, बग़ल में पोटली लटकाए वह एक ऐसी रहस्यमय आकृति की तरह लगती थी जो किसी जादुई दुनिया में हो सकती थी। किसी ने आज तक न यह देखा था न सुना था कि वह बीमार पड़ी हो या उस के गठरी ढोने के मामूल में व्यवधान आ गया हो—गठरी और माटी मिल कर एक ही आकृति में ढल गई थीं और यह आकृति इलाक़े के दुश्मन मौसम का अटूट हिस्सा बन गई थी।

गोगी, पूर्ति, माल्टू और आस-पड़ोस के वहाँ मौजूद लोग बेहोशी में बड़बड़ाती माटी पर अपने आज़माए हुए घरेलू नुस्ख़े एक के बाद एक इस्तेमाल करते गए और जब शाम को गोगी का घर वाला 'मोटा' पास के गाँव से ज़रूरत का सामान ले कर लौटा, तो माटी चारपाई पर बैठी धीमी लेकिन जादुई आवाज़ में चारपाई के पास बैठे हुए चार-पाँच साल के एक बच्चे को सदियों पुरानी एक कहानी सुना रही थी। मोटे को देख कर माटी पहले मुस्कराई और फिर क़हक़हा लगा कर हँसी। मोटे को इशारे से अपने पास बुलाया और उस के सिर पर आशीर्वाद देने के अंदाज़ में अपना हाथ रख दिया।

शाम हो गई। शाम ढलने लगी—अँधेरा होने से पहले सब ने मिल कर खाना खाया। माटी भी हँस-हँस कर खाती रही। सोने से पहले उस ने पूर्ति और माल्टू को कहानियाँ भी सुनाईं। रात गहरी होने लगी। सब लोग सो गए।

गोगी का मामूल था वह पौ फटने से पहले ही चारपाई छोड़ देती थी और जब तक सूरज की पहली किरन पूर्वी क्षितिज से निकलती, वह घर के झाड़ू-पोंछे का काम कर चुकी होती। आज अभी वह नींद में ही थी कि उस ने घर के दालान में झाड़ू दिए जाने की आवाज़ सुनी। उस ने आँखें खोलीं तो देखा माटी हाथ में झाड़ू लिए अँधेरे में ही आँगन की सफ़ाई में जुटी हुई थी। गोगी लपक कर उठी और माटी के हाथ से झाड़ू छीन ली, 'कल तो तू बुख़ार में तप रही थी, अब ये क्या कर रही है, सुबह सवेरे! किस ने कहा है तुझ से यह सब करने के लिए!'

'मैं रोज़ ऐसा ही करती हूँ—ठीक यही वक़्त होता है। आज क्या हुआ है! आज क्यों न करूँ?'

गोगी उसे घसीट कर चारपाई तक ले गई और बार-बार उस के इंकार करने के बावजूद उसे ज़बरदस्ती चारपाई पर लिटा दिया, लेकिन वह फ़ौरन ही फिर उठ कर बैठ गई।

'नहीं लेटना चाहती तो टिक कर यहीं बैठी रह। अगर उठी तो. . .' गोगी ने तनिक ग़ुस्से से कहा।

'नहीं तो तू मेरी टाँगें तोड़ देगी!' माटी हँस कर बोली।

अब सूरज निकल आया था। गोगी का घर वाला, पूर्ति, माल्टू सब लोग जाग गए थे। गोगी सब के लिए नाश्ता तैयार कर रही थी। थोड़ी देर में सब लोग हाथ-मुँह धो कर नाश्ते के लिए वहीं चौके में आ कर गोगी के पास बैठ गए। अचानक एक साथ सभी लोग बोल उठे—'माटी-माटी कहाँ गई?' माटी उसी क्षण आँगन को पार करती हुई उन की तरफ़ आई।

'तू कहाँ गई थी माटी?' गोगी ने पूछा, 'और सो भी इतने सुबह-सवेरे! अभी तो दिन भी पूरी तरह नहीं निकला।'

'अभी बताती हूँ! अभी बताती हूँ!' माटी बोली, 'कुछ खा तो लूँ', और फिर माटी एक पूरी रोटी और लस्सी

का गिलास पी गई। जब सभी लोग नाश्ता कर अपने-अपने कामों का ध्यान करने लगे तो माटी बोली, 'गोगी मैं अब चलूँगी। मेरी गठरी तैयार कर दी तू ने?'

'कौन-सी गठरी? आज मुझे वहाँ कुछ नहीं भिजवाना और फिर कल तो तू बुखार से तप रही थी। आज यहीं रह जा, आराम कर ले थोड़ा, कल चली जाना!'

'आराम? बेटी मैं ठीक-ठाक हूँ। अब मुझे कुछ नहीं है। मैं जाऊँगी, कुछ तो गठरी में बाँध दे मुझे। मैं तो गली का चक्कर भी लगा आई हूँ। किसी ने भिजवाने के लिए कुछ नहीं दिया। लेकिन मैं तो बिना बोझ उठाए, गठरी सिर पर थामे यहाँ से जाऊँगी ही नहीं।' माटी बोलती गई।

'कह दिया ना, आज कुछ नहीं है! आज बिना बोझ उठाए, बिना गठरी के जा। एक दिन अपने इस शरीर को दुख न दे!' गोगी बोली।

माटी कुछ देर टकटकी बाँधे गोगी, मोटे, पूर्ति और माल्टू को घूरती रही। फिर उस ने आँगन में पड़ा हुआ एक फावड़ा उठाया। कुछ दूर जा कर एक कोने में अपनी चादर ज़मीन पर फैला दी और पूरी ताक़त से फावड़ा चला मिट्टी खोद-खोद कर चादर पर डालने लगी। सभी लोग हैरान और अचंभित अपनी जगह खड़े हो गए। जब चादर पर अच्छी-ख़ासी मात्रा में मिट्टी जमा हो गई तो माटी ने बड़ी सावधानी से उसे समेट कर चादर में मज़बूत गाँठें लगा कर एक गोल-मटोल सी गठरी बनाई। उसे एक तरफ़ रखा और गोगी, मोटू, पूर्ति और माल्टू के सिर पर हाथ फेरने और आशीर्वाद देने के लिए उन की तरफ़ बढ़ी।

'यह क्या बनाया है तुम ने?' गोगी चिल्लाई।

'गठरी, और क्या?'

'क्यों, किस ने कहा तुझ से?'

'किसी ने नहीं कहा मुझ से।'

'तो फिर?'

तुम ने मुझे ले जाने के लिए कोई सामान नहीं दिया। गली में भी चक्कर लगा कर ख़ाली हाथ लौट आई हूँ। अब करूँ तो क्या करूँ!'

सभी लोग आश्चर्य-चकित खड़े थे। इस से पहले कि गोगी या घर का कोई दूसरा व्यक्ति उसे रोकता, माटी ने झुक कर मिट्टी की गठरी सिर पर रख ली, अपने कंधों से लटकाई हुई पोटली को एक हाथ से टटोला और आँगन को पार करती हुई दरवाज़े की तरफ़ बढ़ने लगी।

गोगी चिल्लाई और उसे रोकने के लिए आगे बढ़ी।

'रुक जा, मैं कहती हूँ रुक जा! मिट्टी की गठरी सिर पर उठाने का मतलब—और फिर आज तो तुम ने बड़ी वज़नी गठरी सिर पर उठा ली है। मैं कहती हूँ रुक जा!'

'गोगिए, मेरिए, धी ए, बेटिए! मैं अपनी आदत नहीं ख़राब करना चाहती। आख़िर मुझे इसी गठरी के साथ जीना है और फिर मिट्टी तो मिट्टी है। मिट्टी का भी कोई बोझ होता है! नहीं बिल्कुल नहीं! यह तो हल्की फूल जैसी है—बिल्कुल हल्की, मेरे अपने शरीर, मेरे अपने जिस्म का हिस्सा।'

यह कहते-कहते माटी दहलीज़ पार करके गली से होती हुई तेज़ी से धूप, गर्मी और गर्द व गुबार की ज़द में आते हुए अपने जाने-पहचाने रास्ते पर क़दम बढ़ाती आहिस्ता-आहिस्ता नज़रों से ओझल हो गई।

उर्दू से हिन्दी लिप्यंतरण : **खुर्शीद आलम**

रमेश पारेख

अनपढ़ अमरेलवी ने कहा

युद्ध, यातनाशिविरों, हादसों
हाहाकारों,
अस्पताल के दोज़ख़ में गलते मनुष्य,
भुखमरी
मौत. . .
ये सब क्या, गधे जैसे ईश्वर का सर्जन है?
होगा।
इस प्रश्न का जवाब मुझे आता नहीं,
क्योंकि यह तो पाठ्यक्रम के बाहर का सवाल है।

श्रीमद्भागवत पूरे का पूरा चबा जाने वाली भूखी गाय
दूसरे दिन क़साईख़ाने धकेली जाय
वह गाय, जिस ने गोकुल, मथुरा, वृंदावन और
श्रीकृष्ण सहित सारा ज्ञान पचाया,
उसे दूध न देने के गुनाह के लिए
क़साईख़ाने के दरवाज़े पर क्यों खड़ा रहना पड़ता है?
इस प्रश्न का जवाब भी मुझे नहीं आता।

मैं अनपढ़ हूँ
मेरे नसीब में अँधेरा लिखने वाले ईश्वर को
गधे जैसा न कहूँ तो क्या करूँ?

बालक, फूल, तुषार, सुबह, गीत, पंछी
और माता
इतनी सारी चीज़ों का सर्जक ईश्वर है
इस की मुझे ख़बर है।

इस ख़बर को साक्षी मान कर
मैं संदेह का लाभ दे कर
सर्जक को कहता हूँ ईश्वर।

मैं ईश्वर को मुआफ़ नहीं करूँगा।

किन्तु सर्जक को ईश्वर कहता हूँ
इसलिए ईश्वर को उस के गुनाह बख़्श देता हूँ।

गुजराती से भावानुवाद : **हेमंत देसाई**

उर्दू कविता

बलराज कोमल

एक पुरानी तसवीर

इस में शामिल लोगों में
एक पुराना साथी है मेरा
जो मुझ से मिल कर यादों में खो जाता था

इक लड़का है जो हवा से बातें करता था
वह पाँव से चलना भूल गया

इक लड़की है जो लमहा भर को
खिलखिला कर ज़ोर-ज़ोर से हँसती थी
फिर पहरों रोया करती थी

इक माँ है बादल जैसी माँ
जो चौराहे पर बैठी आने-जाने वालों को
भूली बिसरी इक बात सुनाया करती थी

इक बरगद है
जो उम्र की धूप में सूख-सूख कर ठूँठ हुआ
जब जलने लगा तो जल कर राख का ढेर हुआ

इक नन्हा-मुन्ना बच्चा है
जिस के सारे के सारे खिलौने टूट गए

इक मैं हूँ जो
सड़कों की उमड़ती भीड़ में अपने घर का रस्ता भूल गया

पसमंज़र में
इक फूल है जिस का कोई भी अब नाम नहीं
जिस की खुशबू की कोई भी पहचान नहीं

इक ख़ाब है रंगों में सोया
कल चला तो सब के साथ चला
अब एक अपाहिज जैसा है
अब लाठी टेक के चलता है
और ख़ून से लिथड़ी राहों पर
तनहा, तनहा
हर वक़्त भटकता रहता है।

लिप्यंतरण : **स्वयं कवि**

पंजाबी कविता

राजिन्दर सुलतान

वह अभी खड़ा है

मेरे तेरे बीच
वह खड़ा है
अभी भी
एक चलता-फ़िरता पहाड़ बन कर
कभी पीछे
कभी आगे
कभी स्थिर, अडिग चुनौती बन कर।
कभी
तेज़ ताक़तवर मांसाहारी परिन्दा बन कर
कभी
सागर का भाटा-ज्वार बन कर।
वह खड़ा है
अभी भी
कभी
फ़ालतू विवेक का बापू

कभी
उलझी ज्ञान की गठरी बन कर
खड़ा है
अल्हड़ बोझ और बेअदब आकार बन कर।
बढ़ती तृष्णा
भटकती चाहत
सहस्त्र डैनों की असीम शक्ति समेटे।
वह खड़ा है
अभी भी
महीन हवाओं में चुप जैसी कायनात-सा
शून्य में भी
बिना साँस जीने वाला
वह खड़ा है
अभी भी
एक छलावा
एक जादूगर
बिना साज़ संगत करने वाला।

वह खड़ा है
अभी भी
वासना के पेंग पर झोंटे लेने के बाद
पैरों के तलुए सूरज को दिखाने के पश्चात
और
पानी में छप-छप
पैरों को स्नान कराने के बाद
नहरों के किनारों पर
घास के तिनके मुँह में चबाते हुए
अंबर का मुँह चिढ़ाते हुए
कभी चुप्पी के
गीत गाते हुए
वह खड़ा है
अभी भी
सुघड़ सड़कों पर
मतभेदों की रिमझिम में
तंग क़दमी करने के बाद
तंग तहज़ीब के घूँघट सरकाता
तंग पलकों में
तंग नज़रों की पहेलियाँ बुझाने के बाद।

वह खड़ा है
अभी भी
बंद दरवाज़ा बन कर
दीवार बन कर
धूल का झंझावात बन कर
काले बादलों की काली पर्त बन कर।

वह खड़ा है
अभी भी
तेरे-मेरे बीच
एक अँधेरे की चादर बन कर।
पर हम मिलेंगे ज़रूर
एक दिन
अँधेरों में सुराख़ बना कर
फ़ालतू विवेक
व्यर्थ का ज्ञान
और उलझे फ़लसफ़े जैसे
परिन्दों के पंख सुखा कर
हम मिलेंगे ज़रूर
सरल सादगी का लिबास पहन कर!

पंजाबी से अनुवाद : **घनश्याम रंजन**

कन्नड कविता

तिरुमलेश

पतंगों को पकड़ना

पतंगों को पकड़ने के पहले
एक फुलवारी चाहिए। फुलवारी में
फूल चाहिए। फूलों पर बैठने के लिए
पतंगे चाहिए।

अब निकलिए धीरे से। कितना
धीरे से याने. . .सूखे पत्तों पर
बिल्ली के चलने की तरह। आगे
एक बड़ी डेलिया है। उस में

शुद्ध पीले रंग का पतंगा है। इधर-उधर
देखना नहीं. . .काँपना नहीं हाथ।
अब पतंगों के सिवाय कुछ भी नहीं
इस विश्व में. . .आप के मन में

हो गया? आप की उँगलियों के बीच
फँस गया? छटपटा रहा है?
उस के पंख फट रहे हैं? क्या
छोड़ दिया? तो फिर

उँगली से चिपके रंग को
और उस के पंख के टुकड़ों को
पोंछ डालिए. . .अपने शरीर पर, कपड़े पर
नहीं तो और कहाँ?

एच.एस. वेंकटेशमूर्ति

अंतर

कल की तरह आज भी सूर्य उगा था
रंगों की होली खेल कर
तरह-तरह के फूलों में रंग भर कर

कल की तरह आज. . .आज की तरह कल
कल और आज में ऐसा क्या अंतर
कह कर पूछ मत प्रिय मित्र

कल और आज के सूर्योदय के बीच
घना अँधेरा पूर बन उमड़ा था
विस्मृत किया उसे इतने में?

एम.एन. जयप्रकाश

रिक्त छायाएँ

गोधूली—
आ गई कह कर लाल छाया
नहीं आएगी? कह कर पीली धूप
मिट्टी के सपनों में नीलेपन तक छाया हुआ कोहरा

अँधेरे-उजाले के बीच
आँखें मशाल
दिशाहीन शून्यभर में लटकने वाले
चमगादड़ों की तरह तारे
ये घेर कर अपने बीच मरते हैं
आख़िर
बिन्दु के भीतर का शून्य टूट कर
घबराता है
मैं कौन?

इस से मेरा नाता शायद
मेरे जन्म से
पहला घूँट हवा का पी कर
इसे श्वासकोश के नीचे धकेला तब से
बाद में ये मेरे आसपास घिर कर
जीवन को बढ़ाया तब से
दोस्त, इस के उस पार तू तू
है यह मानने के कारण
यह शून्यभरी दुनिया
खड़े रहोगे मेरी तरह?

मैं जिसे चाहता हूँ उस हृदय को ही केवल
रेगिस्तान की प्यास मिटाने के लिए
हल उठाने का काम

जीवन को मृत्यु के मोल
ख़रीदने का काम

सविता नागभूषण

सुन, मैं. . .आऊँगी!. . .आऊँगी!. . .

एक न एक दिन तेरे
सपने में आहट बिना चक्कर लगा
घूमूँगी ही. . .मैं
लताड़ कर भगाया तो
दरवाज़ा खटखटाऊँगी
तेरी कांतिमय बातें
हवा में उड़ जाने की तरह पायल
झंकृत करूँगी, आँख
बचा कर ही क्यों न हो भीतर प्रवेश करूँगी
चाहे तो कहो
'हठीली लड़की' लेकिन
इधर-उधर गर्दन हिला कर
नटखट आँखों में धूल मत फेंक
कृपया. . .कृपया रास्ता छोड़
चिढ़ूँगी नहीं
भीतर क्या है झाँक कर देखूँगी। गुलाबी
कोमल पाँवों से धीरे-धीरे क़दम रखते
चलूँगी. . .घूमूँगी. . .पीड़ा नहीं दूँगी
ख़ाली लगा तो
थोड़ी-सी हरियाली उगाऊँगी

देख : कल के दिन आँख का धुँधलापन
दूर हो कर, स्मृति स्पष्ट हो कर
धुँधले क़दमों से टकरा कर तू
सिसकते समय हज़ारों मील पार
समश्रुति में झंकृत होगा
मेरी पायल का स्वर

तब शहनाई-ढोलक बजा कर
'सुस्वागत' का फलक लटकाया तो भी
मुड़ कर देखूँगी नहीं मैं

दोनों हाथ पसार कर
'आ' कह कर
बुलाया तो भी आऊँगी नहीं मैं

सुन. . .आने की इच्छा हो तो भी
आना नहीं होगा

लौट कर न आने जितना दूर जाने पर
लौट कर आना कैसे. . .बता?

जयंत कैकिणी

सफ़ेद वस्त्र

ऑपरेशन थिएटर के बाहर प्रतीक्षा करने वालों के
बारे में कविता लिखते समय, थिएटर के
दरवाज़े के पास सफ़ेद वस्त्रों में
काला समय आ कर खड़ा हो जाता है
पक्षियों के फड़फड़ाते पंखों की आवाज़
खिड़की के आकाश की चौखट से
चिपकी रहती है
सफ़ेद अमृतशिलामयी ज़मीन के
चरणों के नीचे
ठंडे खून के बहाव की तरह पाँव के साथ
नब्ज़ की धड़कन ऊपर उठ कर
हृदय से मिलती है

जाने कितने रंग मिल कर
सफ़ेद रंग को बनना है
जाने कितने स्नायुओं के सलूक से
एक मुसकान
हज़ार झूठ बोल कर एक शादी
और
सब झूठ के सिर पर मारने जैसा
एक बच्चा।

सभी कविताओं का कन्नड से अनुवाद : **मुकुंद जोशी**

भारतीय अंग्रेज़ी कविता

जयंत महापात्र

लैंडस्केप

समय घूम गया है
और काट फेंके हैं उस ने
चमड़ी से सटे
सुख ऐश्वर्य के। पतझड़ है।
धान अभी गीला है ओड़ीशी खेतों में।
अद्‌भुत अवशेष, हृदय की धड़कन यह,
अब भी जो खींच लेता रंग
पर-से सफ़ेद फूलों वाली
उस ऊँची घास से।
बस ये सफ़ेदी के गुच्छे ही हैं जो
शरण नहीं खोजते—
छिपा रखे प्रिय स्मृतिचिह्न की तरह—
कवच-से अँधेरे की।
फिर से मनुष्य के क्षेत्र
विषम हैं भय से
और नवलाओं की छातियाँ
उठती-गिरती नहीं
खुद उन की साँसों के साथ।
और जब हवा की विरल देह में से
गुज़रती है सिहरन,
देखती कितना कुछ,
तब हम तैयार हो जाते हैं
ईश्वर पर अपनी नाराज़गी सहने को।
एक बार फिर
समय देता है अपने उत्तर निर्विकार
यहाँ किसी अनजाने व्यक्ति की मज़ार पर,
कौओं की उड़ान के विषण्ण बुनाव में।
और समय के
प्रतिशोधी महाजाल में पिछड़ी
चुप्पी देती है अभिशाप।

आषाढ़ की बारिश

गर्मी के लंबे महीनों के बाद
बारिश आषाढ़ की,
अँधेरे-उजाले को जैविक एकत्व
देने में जुटी हुई।
गीलेपन में उठती भभक
बलात्कृत स्त्री की,
खुद उस के रक्त के विष में रुँधी-बँधी;
और वाहियातपन
गुपचुप गुज़र जाते लोगों का,
कौए असंपृक्त,
सड़ते आमों पर कलौंछ मक्खियों की,
सत्ता की मिथ्याएँ गढ़ते अख़बार।
क्या हैं ये चीज़ें जो सक्षम हैं
मुझे दंड देने में?
या कि किसी जीवन का अभिनंदन करने में?
हवा है नम और
हिना की महक से बोझिल।
कितनी सारी चीज़ें हैं जो
जैसी की तैसी मर जाती हैं
बिना संताप के।
अप्रवर्तित क़ानूनों वाले
इस अपने देश में
लिखता हूँ मैं अपनी कविता निरर्थ,
खाता हूँ मछली ख़रीद कर हाट से,
सुनता समझता बहस संसद-चुनावों पर,
और देखता हूँ वह खोया भूखंड
अपनी पुरानी मटमैली 'एटलस' में।
कभी कह पाता था
लड़ता हूँ न्याय के लिए ही मैं।
इन दिनों कभी-कभी
खिड़की के शीशों पर खेलते प्रकाश में
मुझे याद आते हैं झुंड के झुंड
योरुप में देखे 'स्टारलिंग' पंछी,
घूमते-चकराते जो ऐसे
जैसे हो एक ही दिमाग़ उन सब का।

फिर देखता अपनी धुँधली सदाशयता—
जो महज़ अनिच्छा है
वे शब्द कहने की
जो हैं दरकार इस
अफ़रा-तफ़री के दुःखांत में।

देर

देर तक सोता है घर
बंद दरवाज़ों और खिंचे हुए परदों के पीछे।
आँख है उस की मेरी ही आँख में।
समय को एक अहंकार-सा है यहाँ
जो चिपका रहता है हमारी तमाम
रीती आकृतियों से

आज इतने क़रीब है मेरे जीवन का मर्म
कि मैं इसे छू लूँ। पक्षियों का वृंदगान।
गर्मी की एक और सुबह की नीरवता।
याद नहीं आता कि कैसे शुरू हुआ मेरा जीवन,
शायद तभी, गाल पर थपकी दी जब मुझ को दादी ने!

ठीक ही तो है यह
कि ईश्वर मेरा दिल बहलाता है, मैं खेलता रहता हूँ।
हलचल मचाता घर बाँहें उठा-उठा,
मानो परे रखने को कोई अनिष्ट।
मैं चीज़ें देख नहीं पाता अब ठीक से।

कैसे रखें ठाँव पर अपना संसार?
ढोंग से, झूठे आश्वासन से, लचर मिथ्याओं से?
क्या उन की याद से, जिन्हें था हम पर यक़ीन?
देर हुई,
चखे नहीं जा सकते मृतकों के फल,
ग्रीष्म है जिसे मैं अदा कर नहीं सकता।

निश्चल बने रहने की कोशिश

पर फिर निराले में बजती-सी लगती हैं
जले हुए धान के खेतों की

बिलखती बाँसुरियाँ,
धड़कनें बच्चों के दिल की
जिन के पिता नहीं,
और उस एक का मौन
जो खुद को कहता है ईश्वर।

इतराती हवा में उड़ते रहते कौए
लेकिन अंतराल हैं सूने
अब नहीं भरता उन्हें कुछ भी।
निश्चल बने रहने की कोशिश में
समय ने गवाँ दिए हाथ,
नम बादलों की तरह विधवाएँ
सूर्य के उजाले को करतीं मुरदार।

अभ्यस्त हो गए हैं हम अनकिए कामों के दरिद्र अवशेषों के,
बरसाती दुपहर में मरने के देह के डर के,
और तुम्हारी, मेरी यादों में बसी स्त्री!
जहाँ तुम सपने देख रही अब भी, उद्धत निग़ाहों से,
जबकि खींच रहा है समाज फिर
दैवी घेरा तुम्हारे इर्द-गिर्द।

क्या वह वैदिकी भारत है जिसे
धारे हुए हो तुम अपनी मज्जा में?
क्या उन शब्दों में तुम कठपुतली
बन जाने देते हो
नाचती जो उदासीन मंदिरों के द्वारों पर?
बहुत सुन चुके हम उन लोगों की बातें
जो बोलते हैं भगवान की तरह
जब कि मौन सुनता है लहूलुहान होता,
केवल वही जो वह चाहता है सुनना।

फिर से निराले में सुन पड़ती हैं
आदमी की बेहूदा माँगें, उस के ऐश्वर्य का भयानक प्रसंग,
और उस के पीछे फूटती हँसी में
डूबती हवा अल्हड़।

अंग्रेज़ी से अनुवाद : **मधु बी. जोशी**

रक्षत पुरी

जनवरी

(बारह-मासा का एक अंश)

नव वर्ष कर जाता है मुझे तर-ब-तर,
सिर से पैरों तक,
जैसे नहला जाता है वह, पवन को
यादों की तेज़-तुंद बौछार में।
और विदाइयाँ जो लगती थीं कभी
नित्यक्रम-सी, आम-सी
अब कर जाती हैं अस्थिर-अशांत उसे,
समय ने बना दिया था अभिन्न जिसे!

हाथ और आँख के लिए
सहसा ही, दिन की निगहबानी में
वर्षा से बचा, रीति-रिवाज के
लबादे में लिपटा, मैं अनभीगा-सा,
शक-संदेह से सुरक्षित।

वर्षा उतरती है, ठंडी-ठिठुरी सी
और कर जाती है, जादू-सा एक
उन भू-दृश्यों पर, जिन से निकल
मैं भटक गया हूँ, बनी-सँवरी
और फ़्रेमों में जड़ी,
जानी-पहचानी पनाहगाहों में
मुँह अपना दीवार की ओर किए,

जानता हूँ, खूब अच्छी तरह,
एक प्रेमी की वेदना-संवेदना को
बँधी है जो शब्दों के जाल में,
बच कर निकलने का,
नहीं है, कोई भी तो रास्ता,
यादों के छल-बल,
दाँव-पेच से।

(रक्षत पुरी का यह 'बारह-मासा' अंग्रेज़ी भाषा में संभवतः पहला ही है।—सं.)

अनगढ़ा-सा विश्वास

पूर्वजों ने उस के, बनाए थे घरौंदे,
अनगढ़े से विश्वास के
रहता था, जहाँ वह, अमन और चैन से,
आकाश, चाँद और पहाड़ की
मिथ से संतुष्ट।
बेदाग़-कुँवारे दिन को, किया नहीं था खंडित,
दोष की किसी भी भावना ने,
किसी भी नीच उद्देश्य ने
कि तभी एक अकल्पित-सी
चरमराती हुई दरार ने
दिखलाया अंधकार।
काली रेखा ने जकड़ लिया
कोने से कोने को,
जटिल जड़ों से
चीर डाला शब्दों को
और दुबक गई,
एक विशालतर महराब में,
छत लड़खड़ाती हुई गिर पड़ी
और गगन ने झाड़ फेंके
बेजान पंछी-परिन्दे कई।

बेघर भटकता है, अभी तक वह,
उसी रात से, भागा था जिस रात वह
राहगीर रोक अपने तोड़ते-मरोड़ते
हाथ को,
गुमशुदा रूप और आकार जो
रहे दूर तैरता, मानव की पहुँच से
मृतक तक
और पड़ा सड़ता रहे गुफ़ाओं में
जहाँ जन्म और मृत्यु
नितांत निजी हैं,

बहती है चुपचाप, ख़ामोश
सरिता जहाँ,
और जा मिलती है
प्रकाशहीन सागर में
रोशनी-रहित धरा के उस पार।

अंग्रेज़ी से अनुवाद : गुलवंत फ़ारिग़

अनिल साहरी

कविता-1

दो नक़्शे हैं
भारत के
जो घूम रहे हैं
दुनिया में

एक है हमारे विश्वासों के मर्म का,
दूसरा चित्त के चैन के
शत्रु का।

यक़ीन है ऐसा हमें इस फ़र्क़ पर—
देख नहीं पाते हम
अपने ही मर्म के नक़्शे दो
नाः अपनी ताक़त के पीछे दरिद्रता।

कविता-2

किसलिए उभरते हैं बार-बार
मन में प्रणयचिह्न?

क्या तेरी आँखों की
कोरों पर मुस्काती सौम्य-मृदुल रेखाएँ
मुरझा सकती हैं कभी?
मेरी त्वचा पर
गूँजता फूल तेरी लार का—
क्षण
जो अनंत है।

किसलिए होते हैं
प्रणयचिह्न?

कविता-3

जब कभी सोचा है
तुम्हारी जाँघ की चिलकन के बारे में

खुरदुरी नन्ही चट्टान-सी हुमकती—
भीगती हमारी कनबतियों में,

याद नहीं आते वे शब्द
जो हमें रखते थे
कभी, बहुत पहले
सोहबत के बादल में,

भावना का बादल, जो
उड़ता चला आता है कमरे में
जहाँ जोड़-तोड़ और होड़ की,
नफ़ा-नुकसान की
सरल-सी गणनाएँ
हो जातीं भारहीन।

हालाँकि याद नहीं आते वे शब्द
जिन्होंने छिपाया था
उस दोपहरी से चिपके रहने का
मेरा आवेग,
थी वह दोपहर ही
फड़की थी जाँघ जब तुम्हारी
मेरी आँखों के अबोले संगीत पर,

वह एक बादल था बरसा जो वहाँ
तुम्हारी मुस्कान के उभारों पर,
देह थी तुम्हारी
शिल्पित चट्टान-सी
हमारी कनबतियों की अनवरत
कलकल में नहाती।

क्या स्मृतियों का सत्त्व डायरी से बढ़ कर है?
क्या मन की तरंगें बिला जाती हैं
जान-माल के घाटे जैसी ही?
क्या अब भी चिलकती है तुम्हारी जाँघ
बेधड़क आँखों के सामने पड़ते ही?
क्या खोए सपने
बेकार जाते हैं?

अंग्रेज़ी से अनुवाद : **मधु बी. जोशी और स्वयं कवि**

नेपाली कविता

मोहन ठकुरी

मन

कल्पना के अनगिनत
आत्मविस्तृत रंग
इंद्रधनुषी रंग
उँडेले हुए
पोते हुए
पंखों में मेरे।
नीला आकाश हूँ
आकाश हूँ नीला
अदम्य आकांक्षा के शिखर पर खड़ा
शीर्षबिन्दु हूँ
ऊपर हूँ।
गोप्य संभावनाओं का गहरा
सागर हूँ
सागर हूँ गहरा
कुछ क्षण शांत
अनेक क्षण तरंगित हूँ।
कचरे का कंस
करुणा का कृष्ण
दुःसाहस का दुःशासन
प्रेम-प्रणय का प्रतिबिम्ब
बुद्ध का वैराग्य-बीज
मैं हूँ ऐसा
ऐसा मैं हूँ।
कल्पना के आकाश में
यानविहीन असीमित उड़ान
आगे-आगे शब्दों का हूँ मैं
मैं हूँ शब्दों का आगे-आगे।
तरुणी के यौवन की
चंचलता सदा
सिकुड़े हुए चेहरे में भी
वसंत सदा

असंख्य अभिप्राप्तियों में भी
असंतुष्ट सदा।
नरक-भोग का कारण मैं
मैं ही कारण मोक्ष-प्राप्ति का
रत्नाकर भी मैं
वाल्मीकि भी मैं
इच्छा और विचारों का
समूह मैं।
समय को आधार बना कर
ऐसे ही एक क्षण
विश्राम भी नहीं लेता,
ध्यानमग्न भी होना नहीं है,
सुन रहा हूँ आज भी मैं
पायल की मधुर झंकार
मेनका की।

नेपाली से अनुवाद : **बिर्ख खड़का डुवर्सेली**

बाङ्ला कविता

सुबोध सरकार

मेरा अंतिम अनुरोध

यह मेरा आख़िरी भोजन है,
भोजन ख़त्म होने पर इस थाली को नष्ट कर देना
और किसी को इस में खाना मत देना।

यह लो, मैं ने आख़िरी, नई क़मीज़ उतार दी।
लेकिन देखना मेरा कोई दोस्त
कभी भी यह क़मीज़ न पहने,
यह क़मीज़ भी अभिशप्त है।

यह मेरा बिस्तर, प्रिय तकिया
सुबह होने से पहले ही इन्हें नष्ट कर देना
देखना तकिया फट न जाए
तकिया फटने से भाग फूट जाता है।

यह जो नदी है, तुम लोग इस की सफ़ाई करना
इस की नावों को चाँद के नीचे रखना
भूल से भी इस में किसी नारी को ले कर मत सोना,
नाव आज भी इस देश का देवता है।

बाहर रक्खे गए मेरे जूते
वह किस का बच्चा है जो बकैयाँ चल रहा है?
क्या दीदी का लड़का?
मना करो, तुम लोग उसे रोको
मत आने दो मेरी ओर।

छोड़ कर जा रहा हूँ अपने पैरों की छाप
जिस लड़की से बहुत-बहुत प्यार करता था
उसे दिखाना, लेकिन छूने मत देना
छूते ही उस का एक हाथ नष्ट हो जाएगा।

दनुज-दानव

मछली वाला कविता नहीं पढ़ता,
शहद बेचने वाला भी कविता नहीं पढ़ता।

मरणासन्न किशोर, भई तुम भी नहीं पढ़ते!
ज्योति बाबू कविता नहीं पढ़ते।

कविता के प्रकाशक कविता नहीं पढ़ते!
कॉलिज में पढ़ाते हैं, वे भी कविता नहीं पढ़ते।

तब क्या दनुज पढ़ते हैं सारी कविताएँ?
तब क्या दानव ख़रीदते हैं कविता की किताबें?

ब्रत चक्रवर्ती

पिता से

(हार्ट अटैक के बाद)

कम घूमो-फिरो।
ठहरो। देखो।

छाती बाईं ओर
चूर-चूर होते-होते बच गई है
तहस-नहस होते-होते बच गई है
कम घूमो-फिरो
ठहरो। देखो।

बहुत किया है अनुवाद आग का
अपनी भाषा में,
अब बाक़ी मुझे दो।
मैं बक़लम खुद कर दूँगा।
तुम सिर निकाल कर खिड़की से देखो
क्या कहती है धूप, हवा
घने बादल, वर्षा या तूफ़ान।

मैं आग के भाषांतर में प्रतिदिन
जो भी पाऊँगा,
उस की दरारों में, दरारों और गड्ढों में,
बादल, वर्षा, हवा या धूप
जो बटोरोगे,
भर देना।

धूप में आग मिल
आग में धूप पिघल
बाक़ी दिन जाएँगे।

आग के बीच

आग के बीचोबीच खड़े हो जाएँ तो
आग फिर नहीं लगती।

पहले पास-पास रहते थे।
हाथ जल जाएगा, मुँह जल जाएगा, छाती जल जाएगी,
हर वक़्त डर था।
अब आ खड़े हैं आग के बीचोबीच।
हाथ जला जाता है, मुँह जला जाता है, छाती जली जाती है,
अब और डर नहीं।

अब हरेक डैने में, हर पर में आग है।
लेकिन अचंभित-सा देख रहा :
मुझ को जलाते-जलाते पहली बार,
आग खुद भी जल रही!

मल्लिका सेन गुप्त

फ़्रॉयड के नाम खुली चिट्ठी

एक अतिरिक्त प्रत्यंग है पुरुष की देह में
दी है शाश्वत शक्ति, पृथ्वी का आधिपत्य उसे
फ़्रॉयड बाबू के मत में उस के न होने से
नारी हीन होती है
पाँवों के नीचे रह पौरुष पर ईर्ष्या करती है

प्रकृति सदय नहीं
पुरुष सदय नहीं
संतान सदय नहीं
औरतों के प्रति सिर्फ़ फ़्रॉयड सहृदय है।

किस ने माँगी है यह दया! चित्रांगदा! जोन आॅफ़ आर्क!
सिमोन द बुआ या श्यामल द्रौपदी ने!

'पीनिस-एन्वी' है एक शब्द
जिसे फ़्रॉयड साहब पृथ्वी पर लाए हैं
वह जो अतिरिक्त सिर्फ़ पुरुष का है
वही तो औरतों को छोटा कर देता है
इसी से वे शैशव में टलमल करती रहतीं
बाल्यावस्था में अकौए से शिवलिंग सजाती हैं
गुड़ियों और बर्तनों से भर उठता है उन का खेल घर

क्योंकि वही तो है उन की माँ की प्रतिभू।

दूसरी ओर रोहित के लिए है शौर्य प्रस्तुति
जंगली-हरी वर्दी
उस के कमरे में अमेरिकी सेना
छोटी मशीन गन, ट्रा रा रा रा रा सुर में
हो उठता है पुरुष का आक्रमण
नुकीले नाखूनों से गाल यदि खरोंच दें
नानी खुश होती हैं अतिरिक्त वीरत्व पर।
वह जो शरीर का अतिरिक्त अंग है, वही पार-पत्र है
वही उसे पृथ्वी का मालिक बनाएगा

रोहित मालिक होगा किस पृथ्वी का?
जहाँ रोहिता उस की सहकारी है! अधम लिंग!
दौड़ते घोड़े के ऊपर खुली तलवार
विश्व-विजय को जाए रोहित सम्राट
और उसे रण साज पहनाएँगी उस की माँ, बहन, पत्नी
आप ने सिर्फ़ यही चाहा था न फ़्रॉयड!
दूसरी ओर यदि घोड़ी की पीठ पर कोई नारी योद्धा आ जाए
क्या वह अस्त्र रख देगा भीष्म की तरह—
'नारी के विरुद्ध मैं अस्त्र नहीं धारूँगा'
अर्थात नारी को मैं नहीं दूँगा अस्त्र का अधिकार—

यह लिंग-राजनीति है आदि-पुरुष की
फ़्रॉयड, आप खुद उस अतिरिक्त के दल में हैं
मान लिया आप ने औरतें हीन हैं,
और इसी से वे पुरुषों से ईर्ष्यालु हैं।

शैशव में कभी भी कोई लिंग-ईर्ष्या नहीं थी मुझ में
आत्म-परिचय में मैं संपूर्ण थी
आज भी मैं द्विधाहीन संपूर्ण मानुषी
तीसरी दुनिया की एक स्पर्श-कातर काली लड़की
आज से ही आप के विरुद्ध खड़ी होऊँगी
कौन उत्तम कौन अधम कौन अतिरिक्त कौन कम—
इस कूट तुलना की मीमांसा करने का अधिकार
आप को किस ने दिया फ़्रॉयड साहेब!

देबी राय

याद रखना

मानव की जाति का जो-जो अपमान,
जातीय चेतना की जितनी भी अवहेलना—
कुछ भी मत भूलना, छोड़ना कुछ नहीं,
सब कुछ सीने में सहेज कर रखना

किस ने बढ़ाया तेरी ओर
उल्टे हाथ से सिगरेट का पैकेट?

कौन था वह जिस ने
घर के भीतर से कहा
बोली बदल कर
—'नहीं है!'

स ऽ ऽ ऽ ब याद रखना
एक-एक जातीय अपमान. . .

लात-झाड़ू, अनादर
ऊँचे तबके की उपेक्षा
नकचढ़ा बर्ताव. . .
याद रखना,
सब कुछ सीने में सहेज कर रखना।

यह सारी यंत्रणा एक दिन नदी बन कर
दोनों किनारे बहा ले जाएगी. . .
तब तक एकाग्र हो खुद को
कुरेद!

बाङ्ला से सभी अनुवाद : **करुणानिधान**

श्रीराम वर्मा

दो गीत

(1)

नींद की मारी मैं कैसे सुनाऊँ
बिथा की कहानी मैं कैसे सुनाऊँ

तंत्र न जानूँ मैं, मंत्र न जानूँ
जोग की मारी मैं कैसे सुनाऊँ
बिथा की कहानी मैं कैसे सुनाऊँ

रूप न मेरे, अरूप न मेरे
कर्म के नाते प्रीतम मेरे
नेरे न मेरे, अनेरे न मेरे
नेह की मारी मैं कैसे सुनाऊँ
बिथा की कहानी मैं कैसे सुनाऊँ

सबद न जानूँ मैं, अरथ न जानूँ
मर्म की मारी मैं कैसे सुनाऊँ
बिथा की कहानी मैं कैसे सुनाऊँ

कैसे सुनाऊँ सखी अपनी कहानी
मर्म की मारी मैं
नेह की मारी
जोग की मारी मैं
नींद की मारी
कैसे सुनाऊँ सखी
बिथा की कहानी।

(2)

खेतवा बिकाइ गइले
घरवा ऊजरि गइले
केहू नाहीं देला धीयान

अपनो पराया भइलें
बेचि-बेचि खाइ गइलें
कनवों ना देलँऽ बेईमान

कौअन के साथे हंसा
कइंसे रहि पाई संसा
उड़ि चला उड़ि चला उड़ि चला
अपने जहान

ओड़िया नाटक

जगन्नाथ प्रसाद दास

सुंदरदास

अनुवाद : स्मितरेखा राय

पात्र परिचय :

पुरुष पात्र :

साधु सुंदरदास
विलियम बांपटन
चार्ल्स लेसी
आमोस सॉटन
गंगाधर सारंगी
रामचंद्र जी याचक
बलभद्र डेविड
कृपासिन्धु साहू
रघु
राधूदास
इरन सेनापति
ब्रदर पियर्स
बुदामुंडा
रतना पाण
कमली का पति
डाआनी का पति
शिष्य, ब्राह्मण
फ़िरंगी सिपाही
फ़कीर, पंडित, पागल
एवं अनेक गाँव वाले

स्त्री पात्र :

मरुआ/मेरी
देविका, कमली, डाआनी
ऐन लेसी
रामचंद्र की पत्नी, माँ और पुत्र

भूमिका

सुंदरदास ओडिशा के एक जाने-माने साधु थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में कटक शहर के निकट कुजीवर में स्थित आश्रम उन का एक सक्रिय प्रतिष्ठान था। इस आश्रम में किसी प्रकार का जाति-भेद नहीं था, न ही यहाँ स्त्री-पुरुषों में कोई भेदभाव था। यहाँ प्रतिमा-पूजा नहीं की जाती थी तथा अन्य धर्मों की नैतिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी।

1803 ईसवी में अंग्रेज़ों ने ओड़िशा को अपने आधीन कर लिया एवं 1822 ईसवी में ईसाई पादरी ने आ कर ओड़िशा में बैपटिस्ट-मिशन का कार्य आरंभ किया। सुंदरदास ईसाई धर्म की पुस्तिकाओं को पढ़ कर अत्यधिक प्रभावित हुए। अक्तूबर 1826 में उन की भेंट पादरी आमोस सॉटन, चार्ल्स लेसी से हुई। सुंदरदास ने अपने शिष्यों को भी ईसाई धर्म के सिद्धांतों की शिक्षा देना प्रारंभ कर दिया। पादरियों को पूर्ण आशा थी कि धर्म-परिवर्तन करके सुंदरदास प्रथम ओड़िया ईसाई बन जाएँगे। लेकिन सुंदरदास का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था। अंत में पादरीगण सुंदरदास के अधिकांश निकटतम शिष्यों को ईसाई बनाने में सफल हो गए। लेकिन सुंदरदास अपने निर्णय पर अटल रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी के ओड़िशा की पृष्ठभूमि में सुंदरदास एवं ईसाई धर्म प्रचारक पादरियों का यह द्वंद्व ही है *सुंदरदास* नाटक की विषयवस्तु। नाटक के मुख्य चरित्र जैसे—पादरी बांपटन, लेसी व सॉटन और सुंदरदास के शिष्य गंगाधर, रामचंद्र, कृपासिन्धु, राधूदास ये सब ऐतिहासिक चरित्र हैं। नाटक में वर्णित मुख्य घटना का आधार ऐतिहासिक है तथा इस से संबद्ध विवरण उस समय के पादरियों द्वारा लिखित दैनन्दिनी, पुस्तक एवं कलकत्ता से प्रकाशित क्रिश्चियन पत्र-पत्रिकाओं से संग्रहीत किया गया है।

सन् 1838 में सुंदरदास जी का देहांत हुआ। कुजीवर में अभी तक उन के द्वारा निर्मित आश्रम स्थित है।

—जगन्नाथ प्रसाद दास

प्रथम अंक

पहला दृश्य

(साधु सुंदरदास का कुजीवर आश्रम। आश्रम के बराबर ही में आम रास्ता। पास में पेड़ के नीचे एक चबूतरा जिस के चारों तरफ़ बैठने की जगह है।

सुबह का समय। सुंदरदास के शिष्य एवं कुछ अन्य व्यक्ति बाबा के आने की प्रतीक्षा में बैठे हैं। आज के विभिन्न शिष्यों में हैं—गंगाधर सारंगी, रामचंद्रजी याचक एवं उन की पत्नी लक्ष्मी, कृपासिन्धु की पत्नी देविका तथा अन्य कुछ महिलाएँ—कमली, कमली की माँ डाआनी एवं मरुआ। इन के अलावा पास के गाँव (चौदुआर) के दो ब्राह्मण एवं कंधमाल से भाग कर आया हुआ मेरिया बलभद्र।

(गंगाधर बैठे ताड़ के पत्तों की गड्डी और लेखनी लिए कुछ लिख रहे हैं, और उन के पास बैठे बलभद्र उन से कुछ कहने की चेष्टा कर रहे हैं।)

गंगाधर : तुम तनिक चुपचाप तो बैठो बेटे बलभद्र। मैं पहले कुछ लिख लूँ फिर तुम्हारी बात सुनता हूँ।

बलभद्र : आप बैठ कर लिखते रहिए, मैं चला।

गंगाधर : *(ताड़ के पत्तों की गड्डी बंद करते हुए उस की ओर देखते हैं)* तुम कहाँ चले? क्या कंध लोगों के पास जा कर फिर से मेरिया बन कर बलि चढ़ना चाहते हो?

बलभद्र : वे लोग चाहते तो मुझे कब का बलि चढ़ा देते, लेकिन कितनी अच्छी तरह रखा था मुझे। वहाँ मेरे लिए न कोई नियम था न क़ानून, जब जी चाहा खाया, जो दिल चाहा किया। किसी के घर में कोई मनाही नहीं थी मेरे लिए। लेकिन यहाँ, सुबह उठ कर ये करो, वो करो। दिन में दो बार ठीक से स्नान करो, केवल शाकाहार करो। पान, तमाखू का सेवन मत करो। हज़ार नियम क़ानून मानने पड़ते हैं।

गंगाधर : देखो बलभद्र, ये कंधगाँव नहीं है, ये कुजीवर आश्रम है।

(दो ब्राह्मण बैठे इन की बातचीत सुन रहे थे। उन में से एक उठ कर उन के पास आता है।)

ब्राह्मण : यह भला कैसा आश्रम है? न तो यहाँ कोई देवी-देवता की मूर्ति है और न कोई पूजा न पुजारी।

गंगाधर : हमारा आश्रम तुम पंडितों के आश्रम जैसा नहीं है। हमारे यहाँ जात-पात, छुआ-छूत नाम की कोई चीज़ नहीं है। बाबा का कहना है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सब एक हैं। सब एक साथ मिल-बैठ कर उपासना कर सकते हैं।

ब्राह्मण : *(दूसरा ब्राह्मण भी इन के पास आता है।)* उपासना तो करोगे लेकिन तुम्हारा मंदिर है कहाँ?

गंगाधर : बाबा कहते हैं—मंदिर झूठ है, मूर्ति झूठ है, धर्म झूठ है, व्रत, पूजा, पाठ, तीर्थ सब झूठ हैं। तिलक, चंदन, जनेऊ, तुलसीमाला, कमंडल सब झूठ हैं। बाबा कहते हैं—उपासना के लिए तीर्थ करना, गौ ब्राह्मण पूजा, महाप्रसाद, निर्माल्य, शालिग्राम विग्रह, प्रतिमा-पुतला—किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।

ब्राह्मण : तब आप का धर्म है क्या?

गंगाधर : हमारा धर्म है—झूठ मत बोलो। भेद-भाव, जात-पात, ऊँच-नीच—ये कुछ मत मानो। सब से मिल-जुल कर रहो। जीव-जंतु, पशु-पक्षी—किसी का वध मत करो। वृक्ष मत काटो। चोरी मत करो। क्रोध, ईर्ष्या, घृणा मत करो।

ब्राह्मण : इस का मतलब हुआ कि आप आज कल ऐसे धर्म को मानते हैं!

रामचंद्र : हाँ यही हमारा धर्म है। हम लोग बाबा की आज्ञा के अनुसार सुबह स्नान करते हैं। मांस, मछली, पान, धूम्रपान—इन सब का सेवन छोड़ दिया है। झूठ बोलने से, परदारागमन से डरते हैं। इसी को धर्म मान कर हम लोगों ने देवपूजा बंद कर दी है। तुलसी का पौधा उखाड़ फेंका है। तीर्थ यात्रा करनी छोड़ दी है। श्राद्ध और उपवास समाप्त कर दिए हैं। प्रसाद सेवन छोड़ दिया है, दुर्जनों की संगति, ब्राह्मण-भक्ति छोड़ दी है।

ब्राह्मण : विधर्मी की तरह बातें करते हो? कौन-से शास्त्र में लिखी हैं ऐसी बातें?

गंगाधर : भला आप को शास्त्र की बातों का क्या पता? अगर प्रतिदिन घड़ी दो घड़ी यहाँ आ कर बाबा के पास बैठते तो मालूम होता कि किस शास्त्र में क्या लिखा है।

ब्राह्मण : हम तो पक्के ब्राह्मण हैं। जनमेजय के सर्पयज्ञ के समय हम लोग कान्यकुब्ज से आए थे। हमें आप लोगों से कुछ नहीं सीखना है। यहाँ के आश्रम में जिस तरह का व्यभिचार होता है, हमें सब मालूम है। आप लोग यहाँ पर जात-अजात लोगों को लाते हैं। काग़ज़ पर लिखी क़िताबें छूते हैं। किरिस्तानियों के शास्त्र पढ़ते हैं। आप लोग तो हिन्दुत्व के शत्रु हैं। हमारे सनातन हिन्दू-धर्म को आप लोग नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे। इस के लिए सिर्फ़ पुरुषों को ही नहीं, बल्कि स्त्रियों को भी आप उकसा रहे हैं।

(स्त्रियों के बारे में सुनते ही मरुआ उठ खड़ी हुई।)

मरुआ : स्त्रियों के बारे में क्या कहा रे जनेऊ वाले?

ब्राह्मण : ऐ मरुआ, दूर खड़ी रह और क़रीब मत आना; सुबह-सुबह हमारी जात लेगी क्या?

मरुआ : हाँ-हाँ, मैं तेरी जात लूँगी। क्यों? रात में तो जात की बात याद नहीं आती। सिर्फ़ सुबह होते ही जात याद आने लगती है। कमली, तुम क्यों नहीं बताती कैसे ये ब्राह्मण तुम्हारे पीछे पड़ा था। सुंदराबाबा कहते हैं स्त्री-पुरुष एक समान हैं—ये बात तुम लोगों से सुनी नहीं जाती।

ब्राह्मण : तेरी तो कोई जात ही नहीं है, तू क्या जाने जात-पात?

मरुआ : तुम ब्राह्मणों के लिए तो जैसे शूद्र वैसे हम स्त्रियाँ। तुम्हारे लिए तो स्त्रियाँ जात बाहर हैं।

ब्राह्मण : जानती नहीं, तुझे जात बाहर क्यों किया गया है?

मरुआ : हाँ। मैं फ़िरंगी के घर काम करती थी न, इसीलिए तो? पर ये जो तुम्हारे ब्राह्मण, कायस्थ और भूमिहार फ़िरंगियों के घर में रसोईया, माली, मसालची, बेयरों का काम करते हैं, उन को तुम जात बाहर नहीं करते? मैं स्त्री हूँ; मेरा कोई नहीं है इसलिए तुम लोगों ने मुझे जात से निकाल दिया। उसी पर इतना घमंड है तुम लोगों को। वैसे मुझे जात से बाहर कर दिया तो मेरा क्या बिगड़ा? गाँव के एक छोर पर मैं अपना घर बना कर रहने लगी, वो भी तुम सब से अच्छा।

ब्राह्मण : क्यों नहीं रहोगी। कंपनी से पैसे जो मिलते हैं तुम को।

गंगाधर : भैया, कंपनी के पैसों की बात तो तुम मत ही करो। तुम्हारा पुरी का जगन्नाथ मंदिर भी उन्हीं के पैसों से चलता है।

मरुआ : जब कंपनी फ़ौज़ ले कर ओड़ीसा आई थी, तब उस समय कौन गया था उन के पास बुलावा ले कर? तुम्हारे जगन्नाथ के पंडे पुजारी।

ब्राह्मण : इस औरत से निबटना मुश्किल है। औरतों को मुँह लगाने से. . .

मरुआ : औरत-औरत क्या लगा रखा है? अरी ओ लक्ष्मी, देविका, कमली, डाआनी बैठी-बैठी क्या देख रही हो। यहाँ आ कर इस ब्राह्मण की गर्दन क्यों नहीं दबातीं? कमली यहाँ आना तो ज़रा।

(कमली उस के पास आती है।)

ब्राह्मण : *(पीछे हटते हुए)* ठीक है, ठीक है। अपने सुंदराबाबा को आने दो। देखते हैं उन की चलती है या हमारी। अब यहाँ हम से इतना अधर्म सहन नहीं होगा। यहाँ तो दिन-रात नौटंकी चल रही है। औरतें क्यों अपना घर-बार छोड़ कर यहाँ आ कर बैठेंगी?

कमली : धर्म क्या सिर्फ़ तुम पुरुषों के लिए है? महिलाओं के लिए केवल घर। रसोई बनाओ, पति सेवा करो, बच्चे पैदा करो, घर-संसार सँभालो। सब लोगों के खाने के बाद बचा-खुचा भोजन करो, उस पर गाली-गलौच सुनो, लात-घूँसा खाओ और घर के अंदर क़ैद रहो। सुंदराबाबा हम लोगों को पुरुषों के समान मानते हैं। इसलिए इन को इतना क्रोध है हम स्त्रियों पर, इसी वजह से सुंदराबाबा को इतना सुनाते हैं। क्या कहती हो लक्ष्मी?

लक्ष्मी : मैं क्या कहूँ? सुंदराबाबा तो हम सब के साक्षात भगवान हैं। *(लक्ष्मी रामचंद्र के पास आती है)* यदि बाबा नहीं कहते तो क्या मैं इन से विवाह कर सकती थी? जब मेरा विवाह पसेरी भर धान और पचास रुपल्ली पर तय हुआ था, उस समय मैं ने तो इस तरह बिकने से साफ़ मना कर दिया था। *(रामचंद्र लक्ष्मी के सिर पर हाथ रखते हैं)* बाबा ने ही सब कुछ तय किया।

देविका : हमारे बच्चे पैदा होते ही मर जाते थे। इसी कारण ब्राह्मणों ने हमारा विवाह दुबारा करवाया। उस से भी कुछ नहीं हो सका। अंत में सुंदराबाबा के पास आने से हमारे बच्चे हुए। अब हमारी तीन संतान हैं।

मरुआ : जो कुछ भी कहो, फ़िरंगियों को यह पता है कि स्त्रियों की इज़्ज़त कैसे की जाती है। एक तो फ़िरंगियों के यहाँ और दूसरा बाबा के यहाँ, स्त्री-पुरुष में कोई भेदभाव नहीं।

ब्राह्मण : अच्छा! तुम्हारे बाबा को आने दो। उन्हें आज हम दो बातें सुना कर ही जाएँगे।

गंगाधर : तुम लोग क्या सुनाओगे, बल्कि तुम कुछ सुन कर ही जाओगे। जिस से तुम्हें कुछ ज्ञान प्राप्ति होगी।

(बलभद्र अंदर से एक पोटली ले कर आता है। सब के चुप हो जाने पर वह गंगाधर से कहता है।)

बलभद्र : मैं चलता हूँ। बाबा आ जाएँ तो उन से कह देना मुझे आश्रम में अच्छा नहीं लग रहा था इसलिए चला गया।

गंगाधर : क्या तुम्हें यहाँ किसी ने बुलाया था? कंधों से छुटकारा पाने के लिए तुम खुद यहाँ आए थे। अगर तुम्हारा मन रहने का नहीं है तो चले जाओ। तुम्हें यहाँ कोई बाँध के तो रखा नहीं है।

मरुआ : कहाँ जाओगे बेटे? क्या यहाँ छह महीने रहने के बाद मेरिया बन कर रहने की बात भूल गए हो? तुम कहते थे कि कंधों के पास सुख-चैन से रहते थे। कारण जानते हो? वे लोग बलि चढ़ाने के लिए तुम्हें खिला-पिला कर मोटा-ताज़ा कर रहे थे। तुम्हारे शरीर में जान रहने तक शरीर की बोटी-बोटी काट कर सब

अपने-अपने गाँव ले जा कर हल्दी के खेत में डाल देते, जिस से हल्दी की उपज अच्छी और अधिक हो।

जा बेटे जा। फिर से कंधों के पास चला जा। फिर खा-पी कर जल्दी से मोटा-ताजा हो कर बलि का बकरा बन जा।

(बलभद्र तेज़ी से बाहर निकल जाता है लेकिन कुछ ही क्षणों में उतनी ही तेज़ी से वापस लौट आता है।)

बलभद्र : एक फ़िरंगी इधर आ रहा है।

मरुआ : इतने में डर गए? फ़िरंगी आ रहा है तो आने दो। तुम्हें क्या वह खा जाएगा?

(देसी पोशाक धोती-कुर्ता, नंगे पाँव प्रौढ़ पादरी बांपटन का प्रवेश।)

बांपटन : *(मन ही मन)* मेरा घोड़ा कहाँ है? किधर चला गया मेरा घोड़ा? *(वो घोड़े को ढूँढने लगता है। अचानक वहाँ इतने सारे लोगों को देख कर खुश होते हुए उस ने सोच लिया कि यहाँ पर धर्मोपदेश दिया जा सकता है। वह गाने लगता है।)*

कौन उतारे पार
लॉर्ड जीजस क्राइस्ट बिना, हे!
पातक सिन्धु अपार
लॉर्ड जीजस क्राइस्ट बिना, हे!
ईश्वर-पुत्र महान
वही पापों से त्राण करे!
जो करता गुणगान
वही भव-सागर पार तरे!

मेरे प्रिय भाई एवं बहनो, जानते हैं मैं यहाँ क्यों आया हूँ?

मरुआ : घोड़ा ढूँढने। अहा, कहाँ है रे मेरा घोड़ा!

बांपटन : मेरा घोड़ा तो यहाँ है नहीं। सिर्फ़ आप लोग हैं।

मरुआ : क्यों हम पर चढ़ोगे क्या?

बांपटन : मैं आप लोगों को मुक्ति का मार्ग दिखाऊँगा। मुक्ति है नरक से उद्धार, नरक में हर समय अग्नि और गंधक रहती है। पवित्र शास्त्र में लिखा है—सारे पापी नरक में जाएँगे और मनुष्यमात्र पापी ही है। परंतु हमारे पास उद्धार पाने का उपाय है। अब आप लोग उद्धार पाने का उपाय सुनिए। ईश्वर केवल एक है; पूरी मानव जाति से उन्हें प्रेम है।

मरुआ : हाँ वे आप के किरस्तानों को प्रेम करते होंगे।

बांपटन : वे हिन्दुओं को भी प्रेम करते हैं। उन का एक ही पुत्र है। उन का नाम है—जीसस क्राइस्ट, ईसा मसीह।

ईसा मसीह, पहले ईश्वर के पास रहते थे। लेकिन ईश्वर को पृथ्वी से बहुत लगाव था जिस की वजह से उन्होंने अपने इकलौते पुत्र को पृथ्वी पर भेज दिया। उन पर जो आस्था रखेगा उसे चिरजीवन प्राप्त होगा।

ईसा मसीह ने हमारे पापों के लिए अपने को समर्पित कर दिया; उन्होंने अपने प्राण त्याग दिए। यदि हम उन पर आस्था रखेंगे तब उन के रक्त से हम लोगों को अपने सारे पापों से छुटकारा मिलेगा। यही है मुक्ति का

मार्ग। इस के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। न ही कोई दूसरा उद्धार करने वाला। आमेन्। घोड़ा लाओ।

(उन्होंने अपनी कमर में लटकी घड़ी निकाल कर देखी, मानो उन्हें कहीं और जाने की जल्दी हो। जाने लगते हैं। 'कौन उतारे पार' गाते हुए। थोड़ी ही देर में वे वापस लौट आते हैं, सब की तरफ़ देखते हुए अपने आप से कहने लगते हैं। 'घोड़ा यहाँ नहीं है।' पुनः जाने लगते हैं।)

मरुआ : नहीं, यहाँ घोड़ा नहीं है। इंसान हैं।

रामचंद्र : ये कौन है मरुआ? फ़िरंगी होते हुए ऐसे कपड़े क्यों पहने हैं?

मरुआ : मुझे क्या मालूम, मैं क्या दुनिया भर के फ़िरंगियों को पहचानती हूँ। वैसे यह आदमी बात तो कर रहा है पादरियों की तरह, लेकिन पादरियों के जैसी पोशाक नहीं पहनी है इस ने। हो सकता है कोई पगला पादरी हो। जैसे हम लोगों के बीच तरह-तरह के लोग हैं वैसे ही गोरों के बीच भी तरह-तरह के लोग हैं। बस घोड़ा लाओ, घोड़ा लाओ की रट लगाए हुए है।

(बलभद्र झाँक कर देखता है। बांपटन दूर निकल गए हैं।)

बलभद्र : अब और नहीं रुक सकता। जाना ही होगा।

गंगाधर : अच्छा बेटे जाना चाहते हो तो चले जाओ।

बलभद्र : रुक तो जाता, लेकिन घर की याद बहुत सता रही है।

गंगाधर : तब तुम घर लौट जाओ।

बलभद्र : नहीं, अब मैं घर वापस नहीं जाऊँगा। जिन घर वालों ने मुझे पैसों के लिए दुष्टों के हाथों बेच डाला, उन के पास मैं नहीं जा सकता। कहीं और चला जाऊँगा। सब को मेरा प्रणाम। मैं चला।

मरुआ : अच्छा, बेटा जाओ। ऐसा न हो कि फ़िरंगियों को देख कर डर से फिर वापस आ जाओ।

(बलभद्र तेज़ी से जाता है। अभी कुछ पल भी नहीं बीतते कि वह पुनः तेज़ी से अंदर आता है। अब की उस के हाथ में पोटली नहीं है, शायद वह कहीं गिरा आया है। वो रामचंद्र के गले लगता है।)

रामचंद्र : क्या हुआ?

बलभद्र : मुझे पकड़ने के लिए आ रहे हैं।

रामचंद्र : कौन आ रहा है?

बलभद्र : उसी कंध ग्राम के लोग।

(रतना पाण एवं बुदामुंडा का प्रवेश। उन्हें देख कर बलभद्र छिपने लगता है।)

बुदामुंडा : बुदामुंडा को धोखा दे कर चला आया था। हम सब नशे में थे, यह मौक़ा देख कर, अपने पैर में पड़ी ज़ंजीर तोड़ कर भाग निकला। क्यों बेटे। मैं ने क्या कहा था? आख़िरकार ढूँढ निकाला कि नहीं?

रतना : अब कैसे भाग निकलेगा?

बुदामुंडा : अब की तो मैं इस को अपने हाथों से हलाल करूँगा।

(वे लोग बलभद्र को पकड़ने के लिए भागते हैं।)

गंगाधर : यह आश्रम है। यहाँ भाग-दौड़ नहीं चलेगी। चुपचाप बैठ जाइए।

बुदामुंडा : हमारा मेरिया हमें दे दो। हम चले जाएँगे।

(गंगाधर, मरुआ की ओर देख कर इशारे से पूछते हैं—'क्यों बलभद्र को इन्हें दे दिया जाए?' *मरुआ इशारे से हाँ कहती है। बलभद्र, गंगाधर और मरुआ के सामने कभी कान पकड़ता है तो कभी हाथ जोड़ने लगता है। जैसे कह रहा हो कि अब वह कभी वहाँ जाने का नाम भी नहीं लेगा।)*

गंगाधर : यह तुम लोगों का कंध ग्राम नहीं है, समझे! इसलिए चुपचाप चले जाओ। नहीं तो पुलिस आ कर पकड़ लेगी।

(वे लोग बलभद्र को पकड़ने फिर दौड़ने लगते हैं। बलभद्र भाग कर एक ब्राह्मण के पीछे छिपते हुए एक दूसरे ब्राह्मण को बुदामुंडा के ऊपर धकेल देता है। बुदामुंडा ब्राह्मण को बलभद्र समझ कर पकड़ लेता है लेकिन ग़लत व्यक्ति देख कर उसे छोड़ देता है। ब्राह्मण 'अरे मेरी तो जात चली गई' *कहता हुआ चिल्लाने लगता है। थोड़ी ही देर में यह शोरगुल समाप्त हो जाता है।*

अब हम देखते हैं कि साधु सुंदरदास चबूतरे पर खड़े हैं। मुँडा हुआ सिर, दमकता चेहरा। आयु से वृद्ध पर चेहरे पर चंचलता और मुस्कान है।)

सुंदरदास : आज़ तो आश्रम में बहुत लोग हैं। *(एक-एक करके सब को)* गंगाधर, रामचंद्र, लक्ष्मी, देविका, कमली, डाआनी, मरुआ, बलभद्र। ये नए लोग कौन हैं, गंगाधर?

गंगाधर : ये दोनों चौदुआर के ब्राह्मण हैं। यहाँ शास्त्रार्थ करने आए हैं। *(दोनों ब्राह्मण अप्रसन्न से दिख रहे हैं)* और यह दोनों आए हैं कंध ग्राम से।

सुंदरदास : उत्तम, अति उत्तम। परंतु अभी यहाँ पर इतना हो-हल्ला क्यों हो रहा था?

गंगाधर : कंध ग्राम के लोग बलभद्र को ले जाना चाह रहे हैं।

सुंदरदास : उत्तम।

बलभद्र : उत्तम कैसे है बाबा? मुझे ये लोग ले जा कर अपने तारीपेन्नु को बलि चढ़ा देंगे।

सुंदरदास : बलि? इस संदर्भ में हमारे शास्त्रों में क्या लिखा है?

गंगाधर : *(ब्राह्मणों की ओर इशारा करते हैं। वे दोनों अपना सिर झुका लेते हैं)* शतपथ ब्राह्मण में पशु बलि के विषय में मिलता है। बलि के उपरांत विभाजन में किस को कितना हिस्सा मिलेगा, इस का वर्णन भी है।

सुंदरदास : परंतु यह तो नरबलि है।

गंगाधर : यजुर्वेद में पुरुष मेध यज्ञ या नरबलि का समर्थन है एवं इस विषय में मंत्र है तैत्तरीय संहिता में, जो ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अतिष्ठकाम या सर्वोच्च स्थान चाहते थे वे लोग इस तरह का यज्ञ करते थे।

सुंदरदास : तब क्या ये कंध लोग अतिष्ठकाम होने के इच्छुक हैं। *(रतना और बुदामुंडा से)* क्या चाहते हैं कंध लोग?

गंगाधर : ये लोग नरबलि दे कर धरती माता को संतुष्ट रखना चाहते हैं।

बुदामुंडा : हम ये सब बातें नहीं समझते। हम ने पैसों से मेरिया ख़रीदा था। आप हमें हमारा मेरिया वापस कर दें।

सुंदरदास : पैसों से मनुष्य का क्रय-विक्रय! इस विषय में हमारा शास्त्र क्या कहता है? गंगाधर।

गंगाधर : मनुष्य के क्रय-विक्रय का उदाहरण है ऐतरेय ब्राह्मण में। राजा हरिश्चंद्र ने वचन दिया था कि वे अपने बेटे रोहित की वरुण को बलि देंगे। रोहित स्वयं बलि होने की बजाए कैसे किसी और की बलि चढ़ा दे, इस की खोज में निकला। खोजते-खोजते अंत में अजीगर्त नाम का एक ब्राह्मण अपने मँझले पुत्र शुनःशेप को सौ गाय के बदले में रोहित को बेचने को तैयार हो गया।

सुंदरदास : घोर अन्याय। शुनःशेप को बलि चढ़ा दिया गया?

गंगाधर : नहीं, पुरोहितों ने उसे यूप में बाँधने से इंकार कर दिया।

सुंदरदास : उस के बाद?

गंगाधर : और सौ गाय ले कर अजीगर्त ने अपने पुत्र शुनःशेप को यूप में बाँध दिया। तब भी पुरोहितों ने उसे बलि

चढ़ाने से इंकार किया। सौ गाय और ले कर अजीगर्त्त छुरा ले कर उस का वध करने के लिए पहुँचा।

सुंदरदास : पिता के हाथों पुत्र के प्राण गए।

गंगाधर : नहीं। शुनःशेप ने देवताओं से प्रार्थना की एवं उस के हर एक श्लोक से एक-एक करके सारे फंदे खुल गए और शुनःशेप बंधन-मुक्त हो गया।

सुंदरदास : पिता को तब पुत्र वापस मिल गया?

गंगाधर : नहीं। शुनःशेप ने कहा कि जो पिता तीन सौ गाय के बदले में अपने पुत्र की हत्या कर सकता है, ऐसे पिता के पास वह वापस नहीं जाएगा।

सुंदरदास : लोभ व नरबलि—उभय जघन्य। *(बुदामुंडा व रतना से)* कुछ समझे इन बातों से?

रतना : हमें इन बातों से कोई मतलब नहीं है। हम ने मेरिया को उस के पिता से नग़द पचीस रुपए में ख़रीदा है। चिरकाल से कंध लोग नरबलि देते आए हैं। यदि बलि न दी गई तो तारीपेन्नु नाराज़ हो जाएँगे। ज़मीन पर और फ़सल नहीं होगी। जैसे भी हो, हम मेरिया को अपने साथ ले कर जाएँगे।

सुंदरदास : गंगाधर, इन के समर्थन में शास्त्रों में कुछ लिखा है?

गंगाधर : कौटिल्य के मतानुसार यदि कोई द्विपद बिक्री से बचना चाहता हो तो उस के लिए उसे बारह पण का अर्थ दंड देना होगा। जिस का दास खो जाए उसे वापस लौटाने के लिए पाँच पण देने का नियम है और जो मंदिर के दास को ले जाता है उस के लिए अधिक शास्त्र-विधान है।

परंतु कंध लोगों के पास से भागे हुए मेरिया के संबंध में किसी प्रकार का नियम नहीं है।

सुंदरदास : छपी पुस्तक में ऐसी कोई बात लिखी है क्या?

गंगाधर : ईसाइयों के पुराने धर्म नियम में लिखा है—जो किसी मनुष्य को चुराए, फिर चाहे उसे ले जा कर बेच डाले, चाहे वह उस के यहाँ पाया जाए, तो वह भी निश्चय ही मार डाला जाए।

सुंदरदास : *(बुदामुंडा व रतना की तरफ़ गंभीरता से देखते हुए)* प्राण दंड!

बुदामुंडा : प्राण दंड हो या और कोई दंड। हम मेरिया को साथ लिए बिना वापस नहीं जाएँगे। बलि न देने से हमारी ज़मीन बंजर रह जाएगी; हमारे राज्य में महामारी फैलेगी। हम लोग क्या बिन खाए-पिए, महामारी में मरें?

ब्राह्मण : सिर्फ़ तुम्हीं लोग क्यों, यहाँ जिस प्रकार का अधर्म और अनैतिकता फैल रही है उस से यहाँ भी कलयुग आते देर नहीं है।

सुंदरदास : कलयुग? क्या होगा कलयुग आने से?

ब्राह्मण : अकाल पड़ेगा, सूखा पड़ेगा। कलयुग और धर्म-विधान की बातें भागवत में लिखी हैं।

(दोनों ब्राह्मण बारी-बारी से द्वादशस्कंध की एक-एक पंक्ति गाने लगते हैं।)

जो भी जन होगा धनवान,
जग उसे कहेगा महान।
जो कन्या जिस को वरेगी,
इच्छा से ब्याह सो करेगी।
पाखंडी दंभी खल जान,
दुनिया में होंगे महान।
सत्य गुण मिला होगा जिसे,

कोई नहीं मानेगा उसे।
तिरिया से तिरिया करेंगी रमण,
पुरुष को पुरुष ही करेंगे वरण।
वेश्या पा तज कर निज नार,
लोग सब करेंगे व्यभिचार।
ब्राह्मण इत्यादि चार वर्ण,
धर्म छोड़ होंगे अवर्ण।
आएँगे वर्ण और और,
कुपथ चलें सनमारग छोड़।
जो होंगे बली सो बढ़ेंगे,
उन्हें सभी नरपति कहेंगे।
इंद्र छोड़ देंगे बरसना,
तब फिर दुर्भिक्ष में तरसना।

सुंदरदास : क्यों, सुन तो रहे हो बच्चो! सूखा पड़ जाएगा।

ब्राह्मण : केवल इतना ही नहीं, और भी है :
सकल धर्म नष्ट हो रहेगा,
पाखंड प्रबल हो बढ़ेगा।
राजा लुटेरे बनेंगे,
प्रजा की ये गत करेंगे।
चोरी हिंसा मिथ्या विवाद,
विश्वासघात निजता प्रमाद।
गाय और बकरी एक हो रहेंगी,
खाएँगी विष्टा अभक्ष्य दूध देंगी।
हरी-भरी फ़सलें मलीन,
होंगी वे सारी रसहीन।
छिटपुट बूँदाबाँदी रेत,
प्रजा से जुतेंगे न खेते।
घर-घर में सूना कंगाली,
परजा की होगी बदहाली।
मानव गधे-सा खटेगा,
निष्फल परिश्रम करेगा।
अनय में लगेंगी कुलांगना,
परपुरुष रमण की प्रवंचना।

रतना : आप बैठ कर बाद में शास्त्र सुनते रहिएगा। पहले हमारा फ़ैसला कर दें। हम मेरिया को ले कर चले जाएँगे।

सुंदरदास : रामचंद्र, पहले इन को ले जा कर भोजन कराइए।

(रामचंद्र उन के पास जाते हैं लेकिन उन के अनुरोध के बावजूद वे लोग वहीं बैठे रहते हैं।)

सुंदरदास : हाँ, कलयुग के विषय में चौदुआर से आए हुए ब्राह्मणों ने उत्तम विवेचना की। परंतु ऐसे दुर्दिन आएँगे ही क्यों? मैं तो भविष्य में एक उत्तम समाज की कल्पना कर पा रहा हूँ। छपी हुई पुस्तक में ऐसी किसी बात का वर्णन है?

गंगाधर : उस में है : तब भेड़िया भेड़ के बच्चे के संग रहा करेगा, और चीता बकरी के बच्चे के साथ बैठा करेगा; और बछड़ा और जवान सिंह और पाला-पोसा हुआ बैल और उनके बच्चे इकट्ठे रहेंगे, और एक छोटा लड़का उन की अगुवाई करेगा। गाय और रीछनी मिल कर चरेंगी और सिंह बैल की भाँति भूसा खाया करेगा। दूध पीता बच्चा, करैत साँप के बिल पर खेलेगा और दूध छुड़ाया हुआ लड़का नाग के बिल में हाथ डालेगा।

सुंदरदास : बच्चो, आपने भागवत सुनी, किरस्तानियों की बाइबिल सुनी। अब सुनिए सुंदरदास अपनी आँखों से क्या देख पा रहे हैं। सुंदरदास देख पा रहे हैं : पृथ्वी पर सुवर्ण युग आने वाला है। धरती पर सुख शांति बरसेगी। लड़ाई, झगड़े, मिथ्या, अन्याय, अत्याचार दूर हो जाएँगे। गाय, भैंस बिना चरवाहे के घर लौटेंगे। खेत में मेंड़ नहीं होगी। दो घरों के बीच दीवार नहीं खड़ी होगी। सब लोग खा-पी कर सुख-चैन से जीवन व्यतीत करेंगे। भाईचारा बना रहेगा। युद्ध कभी नहीं होगा। विभेद, विद्वेष नहीं रहेगा। चोरी, मिथ्या, रोग, यातना कुछ भी नहीं रहेगा। बकरी और शेर एक ही घाट का पानी पीएँगे। बाघ और सिंह मनुष्य के द्वेषी नहीं होंगे। लोगों की आवश्यकतानुसार मेघ जल बरसाएगा। धरती सोना उगलेगी। प्रत्येक मनुष्य को परमेश्वर का अंश मिलेगा।

स्त्री, पुरुष एक साथ मिल कर रेशम के वस्त्र धारण किए ईश्वर का नाम लेंगे। परस्पर प्रेम से सब को ईश्वर की प्राप्ति होगी।

(वे कुछ पल चुप हो जाते हैं।)

सुंदरदास और क्या-क्या देख पा रहे हैं। सुनिए. . .मुग़ल-मराठों के जाने के उपरांत जो फ़िरंगी हमारे ओड़ीसा में आ कर राज कर रहा है वही फ़िरंगी सुंदरदास के पास आएगा।

(इस बात की प्रतिध्वनि की तरह एक नौजवान फ़िरंगी सिपाही इधर-उधर देखता हड़बड़ा कर अंदर घुसता है। उस को देखते ही सुंदरदास के मुख पर मुस्कान आ जाती है। वे कहने लगते हैं।)

वही फ़िरंगी आएगा और सुंदरदास के आगे सिर झुकाएगा।

(सिर झुकाना तो दूर रहा, सिपाही बेपरवाही से सब के पास जा-जा कर किसी को खोजने लगता है।)

सुंदरदास : फ़िरंगी आएगा, और सुंदरदास के आगे सिर झुकाएगा।

(अब भी फ़िरंगी की गतिविधि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न आने पर सुंदरदास इशारे से रामचंद्र को बुलाते हैं, रामचंद्र के कान में कुछ कहते हैं और रामचंद्र अंदर जाते हैं। फ़िरंगी अब भी किसी को खोजता फिर रहा है, और अंत में वह जैसे ही बलभद्र को पहचानता है। बलभद्र उस से छुटकारा पाने के लिए लोगों के पीछे छिपने लगता है। फ़िरंगी उस को खोजता फिरता है। रामचंद्र अंदर से एक योद्धा की पोशाक ले आते हैं और सुंदरदास उस को पहन लेते हैं।

फ़िरंगी दूसरी तरफ़ खोजने में व्यस्त रहने की वजह से सुंदरदास को इस पोशाक में देख नहीं पाता। सुंदरदास अचानक ऊँची आवाज़ में कहते हैं 'सावधान' और फ़िरंगी चौंक कर उन के सामने आ कर उन्हें सैल्यूट करता है।)

सुंदरदास : फ़िरंगी आएगा, और सुंदरदास के आगे सिर झुकाएगा।

(इसी वक़्त फ़िरंगी सचमुच में सिर झुकाता है।)

फ़िरंगी लोग सुंदरदास को अपना धर्मगुरु मानेंगे एवं उन से उपदेश लेंगे।

(सुंदरदास कुछ पल चुप रहते हैं, अब की बार सब लोग शांति से बैठे हुए हैं उन की बात सुनने के लिए।)

बच्चो तुम ने देखा? बालक मेरी पोशाक देख कर डर गया। इस से क्या शिक्षा मिलती है? हम लोग केवल पोशाक को देखते हैं; अंदर नहीं देखते। यदि हम ऊपर की पोशाक न उतारें तो अपने अंदर, अपने आत्मन को कैसे पहचानेंगे?

(सुंदरदास युद्ध की पोशाक को उतार कर रख देते हैं।)

इस पोशाक की अवज्ञा कर दीजिए। मैं ने इस पोशाक को पहना या किसी और पोशाक को, या फिर किसी भी पोशाक को नहीं पहना। उस से क्या फ़र्क़ पड़ता है, मैं मैं हूँ, मैं ही रहूँगा, सुंदरदास। जिस प्रकार मिट्टी से घड़ा, मटका, सकोरा जो भी बना लो, मिट्टी मिट्टी ही रहेगी।

वाचारंभनम् विकारो नामधेयम्,
मृत्तिका इति एव सत्यम्।

घड़ा, मटका, एक-एक नाम है। मिट्टी है सत्य। इन घड़े-मटकों में मिट्टी को ढूँढना होगा और पोशाक के अंदर से स्वयं को।

(थोड़ी देर बाद सुंदरदास हाथ ऊपर करके शून्य से एक फूल तोड़ते हैं।) इस फूल को ध्यान से देखिए। जिस प्रकार इस फूल की अनेक पंखुड़ियाँ हैं, उसी प्रकार मनुष्य के मन पर अनेक परतें हैं। सब ने मिल कर मन के ऊपर अपनी पंखुड़ियाँ लगा दी हैं। *(वे फूल से एक पंखुड़ी तोड़ कर नीचे फेंकते हैं)* ये रही माता-पिता की आज्ञा। *(और एक पंखुड़ी तोड़ कर)* यह है बड़े भाई का परामर्श। *(और एक पंखुड़ी)* ये है गुरु की शिक्षा *(एक और)* ये है पुरोहित का उपदेश। *(एक और)* ये समाज का आदर्श। ऐसे एक-एक पंखुड़ियों के बाद मेरे हाथ में रह क्या गया? यह पंखुड़ी आत्मन है? या यह भी और किसी का प्रभाव है? अब इसे भी फेंक दिया जाए। *(फेंक देते हैं)* फिर क्या रह जाता है? उस के बाद जो कुछ रह जाता है, वही है आत्मन।

यही, कुछ नहीं ही है ब्रह्म। इस कुछ नहीं का वर्णन कोई कैसे करेगा? ब्रह्म में क्या है, कोई नहीं बता सकता। लेकिन ब्रह्म में क्या नहीं है, वह बताया जा सकता है।

ब्रह्म में न आप हैं न मैं हूँ। न प्रपंच है, न प्रसार है। न ही सृष्टि-सृजन, न संहार है, न प्रकृति है, न पुरुष है, न ही इच्छा है। न काल है न क्रम है। श्रुति-श्रवण मूल नहीं है। तत्त्व-अतत्त्व, सुखमय स्थूल नहीं है। वस्तु, पुराण, वेद नहीं है। वर्ण-विवर्ण, रूप-अरूप, यापक-व्यापक नहीं है, नहीं है ज्योति, नहीं अज्योति। एक नहीं. दो नहीं। आदि, मध्य, अंत नहीं। पालक हंता हंत नहीं। शक्ति नहीं, शिव नहीं। जन्म नहीं, जीवन नहीं। लेखा-लेखक नहीं, कर्ता-कारक नहीं। स्वर्ग-नरक नहीं। आसक्ति नहीं है, न आस है। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म नहीं है। भाव नहीं, भक्ति नहीं है। न मोक्ष है, न मुक्ति। साधक, सिद्धि, समाधि नहीं। जागृति-सुषुप्ति नहीं। कुछ भी नहीं है ब्रह्म में। उसी प्रकार ब्रह्म भी किसी में नहीं है।

उत्तर भारत में कबीर नामक एक संत थे। उन्होंने कहा था :

ना मैं तीरथ, ना मैं मूरत
ना ही एकांत निवास में।

ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद
ना काबे कैलास में।

कबीर ने मंदिर-मस्जिद के बारे में कहा था। हम लोग पहले से मुसलमानों और उन की मस्जिद के बारे में जानते थे। अब हमारे यहाँ नए लोग आने लगे हैं—फ़िरंगी। उन को ओड़ीसा में आए कितना समय हो रहा होगा गंगाधर?

गंगाधर : तेईस वर्ष।

सुंदरदास : देखते-देखते तेईस वर्ष बीत गए। जैसे मुसलमानों का धर्म अलग है वैसे ही फ़िरंगियों का अलग धर्म है। गंगाधर, ज़रा बच्चों को बताना, उन का धर्म हम तक कैसे पहुँचा।

गंगाधर : दो-चार वर्षों से किरस्तानी पादरी गाँव-गाँव घूम कर अपने धर्म का प्रचार कर रहे हैं। वे अपनी धर्म पुस्तक को काग़ज़ पर छाप कर हाट बाज़ार में बाँट रहे हैं। एक दिन टाँगी बाज़ार से कृपासिन्धु भी एक पुस्तक ले आए थे, प्रश्नोत्तर की पुस्तक। इस में किरस्तानियों के धर्म से संबंधित प्रश्नोत्तर थे। कुछ दिनों पहले राधूदास भी शक्कर ख़रीदने के लिए कटक गए हुए थे, वहाँ चौधरी बाज़ार में पादरी अपनी पुस्तक बाँट रहे थे। उस में से दस आज्ञाओं की एक पुस्तक राधू यहाँ ले आए थे।

सुंदरदास : जब हम सब ने उसे पढ़ा तो मैं तो आनंद से झूम उठा। मैं ने कहा, बच्चो, मुझे तुम लोगों ने इतने दिनों बाद यह क्या ला कर दिया! यह तो सारे सत्यों की जड़ है। यही तो है प्रत्यक्ष शास्त्र। और यही तो है सब मंत्रों का मूल मंत्र।

शिष्य जा कर पादरियों से फिर ले आए आदि नियम, नूतन नियम, निस्तार-रत्नाकर। लेकिन दस आज्ञा की तरह कोई और पुस्तक नहीं है।

इतने अच्छे नियम, लेकिन मात्र दस उपदेशों में। सुंदरदास भी तो इन्हीं बातों को बताता था पहले। लेकिन इतने स्पष्ट रूप से नहीं। गंगाधर सब को फिर एक बार सुना दो वे आज्ञाएँ।

गंगाधर : परमेश्वर की दस आज्ञाएँ इस प्रकार हैं : हमारे समक्ष तुम्हारा कोई देवता नहीं होगा। तुम अपने लिए कोई प्रतिमा निर्माण नहीं करोगे। तुम सदा प्रभु परमेश्वर का नाम मिथ्या में नहीं लोगे। विश्राम के दिन का पवित्रता से पालन करोगे। अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करोगे। नर हत्या नहीं करोगे। चोरी नहीं करोगे, प्रतिवेशी के विरुद्ध मिथ्या का साथ नहीं दोगे। प्रतिवेशी के गृह-भार्या, दास-दासी का लोभ नहीं करोगे।

सुंदरदास : आहा, कितनी मर्मज्ञ बातें हैं। जितनी बार भी सुनी जाएँ, पवित्र लगती हैं। इसी कारण मैं ने सब को दस आज्ञाओं के बारे में बताया। और शिष्यों से कहा, गाँव-गाँव घूम कर दस आज्ञा का प्रचार करो।

गंगाधर, कल कृपासिन्धु, राधूदास को दस आज्ञा के प्रचार के लिए जाना था चले गए हैं या नहीं?

गंगाधर : गए हुए हैं, बाबा।

सुंदरदास : अरे, हम ने तो अभी तक फ़िरंगी सिपाही की बात सुनी ही नहीं, यह यहाँ क्यों आया था। बालक, तुम यहाँ क्यों आए थे?

मरुआ : अपना घोड़ा खोजने आया होगा। *(फ़िरंगी कुछ समझ नहीं पाता है और देखता रह जाता है)* प्यारे, बता भी दो किसे ढूँढ रहे थे।

सिपाही : *(अपने फ़ौजी अंदाज़ से धीरे-धीरे)* नेटिव इनफ़ैंट्री का एक बरक़ंदाज़ कल सुबह एक कमिश्नर सैसा को लाठी से पीटा। उस को पकड़ने के लिए गए तो वह भाग गया। मैं उस बरक़ंदाज़ को ढूँढते हुए यहाँ पहुँचा हूँ।

सुंदरदास : बालक, यहाँ पर तो कोई बरक़ंदाज़ दिख नहीं रहा है।

(सिपाही जा-जा कर हर एक का चेहरा देखता है। अंत में बलभद्र को बरक़ंदाज़ समझ कर पकड़ लेता है। बुदामुंडा और रतना भी बलभद्र को एक तरफ़ से पकड़ते हैं। कुछ समय तक इस प्रकार खींचा-तानी के बाद सिपाही ग़ुस्से से उन को देखते हुए पिस्तौल निकालता है और पिस्तौल ले कर उन की तरफ़ दौड़ता है। बुदा और रतना डर के ऐसा भागते हैं कि फिर वापस नहीं लौटते। फ़िरंगी फिर से एक बार बलभद्र के चेहरे को भली-भाँति देख कर समझ जाता है कि उस का बरक़ंदाज़ यह नहीं है और सुंदरदास को सैल्यूट करते हुए वह वहाँ से चला जाता है।)

मरुआ : अच्छा प्यारे जाओ. तुम को तुम्हारा घोड़ा—बरक़ंदाज़ बाहर मिल जाएँगे।

सुंदरदास : कंधमाल के लोगों का और सिपाही की समस्या का समाधान तो हो गया। किसी और की भी कोई समस्या है क्या?

कमली : बाबा, मेरा पति मुझे रोज़ मारता-पीटता है और कहता है—मैं ने मूर्ति पूजा छोड़ दी है। इसी वज़ह से हमारा बच्चा मर गया। मैं ने कहा कि मेरे बच्चे को ईश्वर ने बुला लिया। उस का धर्म उस के पास. मेरा धर्म मेरे पास। क्यों ठीक है न, बाबा?

सुंदरदास : अति यथार्थ की बात है।

कमली : मेरा पति मुझ से कहता है, अगर तुम मूर्ति पूजा नहीं करोगी तो मैं तुम्हें मार डालूँनगा। मेरा बाप भी मेरी माँ को इसीलिए पीटता है।

डाआनी : हाँ बाबा, हम को रस्सी से बाँध कर पीटा जाता है। हमें तो कुत्ते, बिल्ली की तरह रखा जाता है।

सुंदरदास : धन्य बेटी, तुम लोग धन्य हो। अपने विश्वास के लिए तुम्हें ऐसे कष्ट सहने पड़ रहे हैं। यीशु ने क्या-क्या कष्ट नहीं सहे थे। तुम को अवश्य ही ईश्वर की प्राप्ति होगी। तुम लोगों का अच्छा समय आ रहा है।

डाआनी : आप की बात सच हो जाए बाबा।

सुंदरदास : अवश्य, अवश्य। *(ब्राह्मणों की तरफ़ देखते हुए)* क्या अब शास्त्रों की व्याख्या कर ली जाए।

(एक ब्राह्मण अपनी एक उँगली से संकेत करते हुए बाहर जाता है।)

सुंदरदास : *(अगले ब्राह्मण से)* उस के लौटने तक आप बैठे रहिए। अभी सब लोग घोड़े की बातें करते हुए हँस रहे थे। वृह्दारण्यक उपनिषद में क्या कहा गया है, जानते हैं?

(ब्राह्मण सिर हिला कर मना करता है।)

शरीर एक रथ के समान है। इंद्रियाँ हैं उस के घोड़े। *(अगला ब्राह्मण कान में जनेऊ लपेटने लगता है)* उस के बाद कहा गया है, आत्मन् है इस रथ का मालिक। बुद्धि उस का सारथी, और मन उस की लगाम। विषय हुआ इस रथ की गोचर भूमि।

(अगला ब्राह्मण अवसर पाते ही भाग जाता है। सुंदरदास सूरज को देखते हुए समय का अंदाज़ा लगाते हुए कहते हैं।) काफ़ी समय हो गया।

(अंदर जाने से पहले वे सब लोगों की ओर एक नज़र डालते हैं। उन की आँखों के सामने मरुआ पड़ती है। वह ज़मीन से फूलों की पंखुड़ियों को बटोर रही है। उसे देख सुंदरदास हँसते हैं और शून्य से एक फूल तोड़ कर मरुआ को देने जाते हैं। इसी बीच 'मर गया', 'मर गया' *चिल्लाते हुए कृपासिन्धु साहू व राधूदास अंदर प्रवेश करते हैं और सुंदरदास के चरणों पर लेट जाते हैं। सुंदरदास उन को उठा कर प्यार से सहलाते हैं। कृपासिन्धु की पत्नी आ कर पति की सेवा करने लगती है। सुंदरदास राधू की सेवा करने लगते हैं।)*

सुंदरदास : हा, हतोस्मी! मैं यह क्या देख रहा हूँ? तुम्हारी ऐसी हालत किस ने बनाई कृपासिन्धु? मेरे राधू को किस ने ऐसा दंड दिया?

राधू : कल हम लोग दस आज्ञा का प्रचार करने भैरपुर गए थे। कुछ दिनों पहले वहाँ एक पागल पादरी किरिस्तान धर्म का प्रचार कर गया था। उस को गाँव वालों ने बहुत परेशान करके भगा दिया था। इसलिए जैसे ही हम ने दस आज्ञा की बातें बतानी शुरू कीं, गाँव वाले हमें धर्मद्रोही कह कर गाली देने लगे। मैं तो कह रहा था चलो भाग चलें, लेकिन कृपासिन्धु नहीं माना और कहने लगा जब हम लोग बाबा की आज्ञा से यहाँ आए हैं तो सारी आज्ञा बिना बताए नहीं लौटेंगे।

कृपासिन्धु : उसी समय गाँव वाले लट्ठ ले कर आ गए। हम से कहा फ़िरंगी पादरी को हम ने भगा दिया। तुम देसी पादरी बच कर कहाँ जाओगे? ऐसा कहते हुए हमें मारने लगे। हम जितने जोश से दस आज्ञा सुनाते वे उतने ही ज़ोर से हमें पीटते।

सुंदरदास : घोर अन्याय! घोर अन्याय! गंगाधर। रामचंद्र। तुम लोग तुरंत जा कर कटक के पादरी को ख़बर करो। हम लोग उन से परामर्श करेंगे। उन से कहना सुंदरदास ने उन्हें कुजीवर आश्रम में बुलाया है। वे लोग आ कर देखें, उन की दस आज्ञा का प्रचार करने की वज़ह से हमारी क्या गत बनी है। वे आ कर बताएँ ऐसी परिस्थिति में हम क्या करें। बच्चो! कृपासिन्धु, राधू को ज़रा सहारा दे कर अंदर ले जाओ और उन की अच्छी तरह से देखभाल करो।

(कुछ शिष्य उन दोनों को अंदर ले जाते हैं। अब सुंदरदास अपने हाथ में लिए फूल को देखते हैं और मरुआ के पास जा कर फूल मरुआ को दे देते हैं। सब लोग तन्मय हो कर साधु सुंदरदास को देखते रह जाते हैं।)

दूसरा दृश्य

(वही कुजीवर आश्रम का चबूतरा। सुबह का समय। फूल-पत्तों से स्थान को सजाया गया है। चबूतरे पर चादर बिछाई हुई है। सुंदरदास स्वयं सारी व्यवस्था पर ध्यान दे रहे हैं। उन के साथ उन के शिष्य भी काम में जुटे हुए हैं। आज अच्छी भीड़ है।)

सुंदरदास : बच्चो, और एक चादर ला कर यहाँ पर बिछा दो। पादरी लोग सुबह ही आएँगे न?

रामचंद्र : जी, आज ही सुबह कटक से चलने की बात थी। थोड़ी ही देर में पहुँच जाना चाहिए। गंगाधर वहीं रुक गए हैं उन्हें साथ लाने के लिए।

सुंदरदास : साधु! साधु! वहाँ और क्या-क्या बातें हुईं?

रामचंद्र : जब शाम के समय वे प्रार्थना कर रहे थे, तब गंगाधर और मैं ने भी उन के साथ बैठ कर पूजा की।

सुंदरदास : पूजा? उन की पूजा कैसी?

रामचंद्र : उन का एक साथी पुस्तक से ईसा मसीह के बारे में पढ़ता गया और हम लोगों ने उसे सुना।

सुंदरदास : उत्तम, उत्तम! तुम ने बताया था, यहाँ उस दिन कोई पादरी आया था। क्या उस से तुम्हारी भेंट हुई?

रामचंद्र : जी नहीं, कटक में हमारी पादरी लेसी एवं पादरी सॉटन से भेंट हुई। वहीं हमें पता चला कि उस दिन यहाँ पर जो पादरी आए थे, उन का नाम था बांपटन।

वे रहते हैं पुरी में लेकिन घोड़े पर सवार हो कर साथ में एक साईस को ले कर जगह-जगह घूमते रहते हैं। कभी कटक शहर में तो कभी गंजाम में। लोग उन को कहते हैं 'घोड़े वाले पादरी'।

सुंदरदास : नाम तो बहुत अच्छा है।

(बाहर से कुछ आवाज़। गंगाधर लेसी और सॉटन को ले कर अंदर प्रवेश करते हैं। दोनों ने पादरियों की पोशाक एवं टोपी पहनी हुई हैं। सुंदरदास आगे बढ़ कर प्रणाम करते हैं। पादरी उन से हाथ मिलाते हैं। सुंदरदास उन्हें आदर-सत्कार के साथ चबूतरे पर बैठाते हैं।)

सुंदरदास : स्वागतम्, स्वागतम्। उभयधर्म गुरुओं का कुजीवर आश्रम में स्वागत है। यहाँ आप लोगों की चरणरज पड़ी। यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है।

लेसी : पहले मैं आप सब को अपना परिचय देना चाहूँगा। मेरा नाम चार्ल्स लेसी है। मैं कटक शहर में रहता हूँ *(सॉटन की ओर इशारा करते हुए)* आप हैं आमोस सॉटन, बालाशोर में रहते हैं। कभी-कभी कटक भी आते रहते हैं।

सुंदरदास : उत्तम, अति उत्तम। तो कंपनी वालों ने कटक और बालाशोर में आप के रहने की व्यवस्था की है।

सॉटन : *(ज़ोर से)* नहीं, नहीं, हम कंपनी के नौकर नहीं हैं, कंपनी से हमारा कोई संबंध नहीं है।

लेसी : आप यहाँ जो गोरे कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, पुलिस, सिपाही देखते हैं, वे सब ईस्ट इंडिया कंपनी के लोग हैं। हम लोग तो इंग्लैंड से जनरल बैपटिस्ट मिशन की तरफ़ से आए हैं। कंपनी हमारी मित्र नहीं है बल्कि शत्रु है। पहले कंपनी हम धर्म-प्रचारकों को अपने राज्य में रहने नहीं देती थी। इसलिए बैपटिस्ट मिशन के लोगों को पहले आ कर डेनमार्क के अधीन कलकत्ते के पास श्रीरामपुर में रहना पड़ा। मात्र पंद्रह वर्ष पहले हम लोगों को अनुमति मिली कंपनी के राज्य में धर्म-प्रचार करने की। श्रीरामपुर में कुछ दिन रहने के उपरांत सब से पहले धर्म-प्रचारक बन कर आए भाई विलियम बांपटन। उन्होंने पुरी में अवस्थान किया। तीन वर्ष हुए मैं आया। मेरे बाद आए भाई सॉटन।

सॉटन : भाई बांपटन जब छह वर्ष पूर्व श्रीरामपुर आए तब तक निश्चित नहीं हो पाया था कि भारतवर्ष के किस भाग में जा कर धर्म का प्रचार करेंगे। वैसे हम ने जगन्नाथ पुरी के बारे में सुना था एवं इतनी जानकारी हम लोगों को थी कि यही है हिन्दुओं का मुख्य तीर्थस्थान। समस्त इज़राइल में जैसे जेरूसलम का जो स्थान है, ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष में ओड़ीसा का स्थान है। जैसे इज़राइल के लोग माउंट जियन के पास प्रार्थना के लिए जाते हैं उसी तरह सारे भारत के लोग जगन्नाथ पुरी पूजा करने के लिए आते हैं। इसलिए भाई बांपटन ने निश्चय किया कि वे हिन्दुओं के मूर्ति पूजा के केन्द्रीय स्थान ओड़ीसा आएँगे।

सुंदरदास : उत्तम निर्णय।

लेसी : हम लोगों ने ओड़ीसा आ कर केवल मूर्ति पूजा ही नहीं तरह-तरह की दूसरी वीभत्स प्रथाएँ भी देखी हैं। विधवाओं को अपने पति की चिता पर जल कर मर जाने की बात सुनी तो थी, लेकिन दो वर्ष पहले भाई बांपटन ने पुरी के स्वर्ग द्वार में एक विधवा ब्राह्मणी को सती होते देखा। छह महीने पहले मैं ने स्वयं कटक शहर में एक सतरह वर्ष की बंगाली विधवा को अपने पति की चिता में जलते देखा। युवती के जलते समय जनता जय जगन्नाथ का नारा लगा रही थी।

सुंदरदास : घोर दुराचार।

सॉटन : और एक जघन्य प्रथा है—भक्त लोगों का जगन्नाथ के रथ के नीचे आ कर आत्महत्या करना। भाई बांपटन ने रथ-यात्रा के समय ऐसे ही एक लावारिस शव को देखा था जिसे कुत्ते खा रहे थे। लेकिन

किसी का ध्यान उस ओर नहीं जा रहा था।

सुंदरदास : घोर अन्याय!

लेसी : इन्हीं तीन महीनों पहले रथ-यात्रा के समय मैं ने और भाई सॉटन ने भी एक सज्जन पुरुष को रथ के नीचे मरा हुआ देखा। उस के शरीर के दो टुकड़े हो गए थे। जनता दुखी होने के बजाए चिल्ला रही थी, 'बहुत बड़ा भक्त, बहुत बड़ा भक्त।'

सुंदरदास : अत्यंत दुखदायक। इसे रोकने के लिए पुरी मंदिर के पंडे-पुरोहितों की ज़िम्मेवारी होनी चाहिए।

सॉटन : मैं ने उन का नाम रखा है पुरी के श्वपद। उन का काम है यात्रियों से किसी न किसी तरह से पैसे वसूलना। वे यात्रियों की सुख-सुविधाओं पर ध्यान नहीं देते। रथ-यात्रा के समय यात्री बीमारियों से मर जाते हैं। सारे शहर में शव ही शव दिखाई देते हैं।

सुंदरदास : जो भी हो, आप इन बातों के बारे में ध्यान देते हैं। ईश्वर करे आप को अपने उद्देश्य में सफलता मिले।

सॉटन : जिस समय मैं पहली बार भारत पहुँचा, 1100 डिग्री तापमान मेरे लिए असहनीय हो गया था। इतने सारे काले नेटिव लोगों को मैं ने एक साथ पहले कभी नहीं देखा था। ये लोग अर्द्धनग्न अवस्था में थे। ज़मीन पर बैठ कर हाथ से खाना खाते थे। मैं ने सोचा, हे भगवान क्या मैं इन जीवों के संग रह कर जीवन व्यतीत कर सकूँगा?

लेकिन कुछ ही दिनों में मैं यहाँ के लोगों एवं जलवायु का आदी हो गया।

सुंदरदास : आप के ओड़ीसा निवास में सब कुशल मंगल तो है?

सॉटन : पिछले साल कटक पहुँचते ही मेरी पत्नी शार्लट बीमार पड़ गई। सुना था पुरी की जलवायु अच्छी है। इसलिए मैं उन्हें वहाँ ले गया। लेकिन वो मुझे अकेला छोड़ ईश्वर को प्यारी हो गई। *(सॉटन आँसू पोंछने लगते हैं)* हम दोनों के विवाह को अभी साल भी पूरा नहीं हुआ था।

सुंदरदास : कितना दुखदायक विषय है।

सॉटन : सब ईश्वर की मर्ज़ी है।

लेसी : साधु सुंदरदास! हम लोग भी आप के बारे में जानना चाहेंगे।

सुंदरदास : मेरा नाम सुंदरदास है। मेरी उम्र मुझे मालूम नहीं है। किसी-किसी का कहना है कि मेरी उम्र सौ वर्ष है। लेकिन यह बात झूठ भी हो सकती है। मैं कभी एक योद्धा हुआ करता था। मैं आठगढ़ के राजा की सेना का नायक था। उस समय मैं शिकार-प्रेमी भी था एवं जंगलों में जा कर शिकार करता था। एक दिन की बात है। मेरे तीर से एक हिरण घायल हो कर गिर पड़ा। उस वक़्त मेरे मन में आया जैसे कोई कह रहा हो कि तुम इस पथ के पथिक नहीं हो; तुम धर्म एवं सत्य मार्ग के पथिक हो। अपना उपयुक्त पथ चुन लो।

लेसी : डामास्कस में साधु सेंट पॉल के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी थी।

सुंदरदास : उसी दिन से मैं यहाँ चला आया। उस समय यहाँ कोई भी गाँव नहीं था। सिर्फ़ एक बरगद का वृक्ष था। कुजीवर में बैठ कर मैं ने स्वयं को जानने का प्रयत्न किया। अनेक वर्ष बीतने के बाद अंत में मैं जो ढूँढ रहा था, वह ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ।

सॉटन : क्या वह हिन्दू धर्म का ज्ञान था?

सुंदरदास : हिन्दू धर्म आप के धर्म जैसा नहीं है। आप का तो धर्म एकमात्र पुस्तक है, जिस पर आप विश्वास करते हैं। लेकिन हमारे वेद-वेदांत, उपनिषद, गीता जैसे अनेक ग्रंथ हैं और कुछ पर्वतीय अंचल के लोग हैं, जिन का कोई धर्म-ग्रंथ नहीं है। इसलिए हिन्दू लोग विभिन्न तरीक़े से धर्माचरण करते हैं।

लेसी : आप के धर्म में मूर्ति-पूजा है।

सुंदरदास : मैं भी हिन्दू हूँ लेकिन मूर्ति-पूजा के विरुद्ध हूँ। हमारे आश्रम में कहीं भी किसी देवी-देवता की मूर्ति नहीं है। मेरे लिए हिन्दू-धर्म मूर्ति-पूजा नहीं, सदाचरण है।

सॉटन : आप के हिन्दू धर्म में जाति-प्रथा है।

सुंदरदास : हमारे आश्रम में किसी की कोई जाति नहीं है। न ही कोई छूत-अछूत है। आप यहाँ जितने लोग देख रहे हैं, वे सब भिन्न-भिन्न जाति के हैं। जैसे रामचंद्रजी याचक हैं क्षत्रिय। उन के पिता हरिवितराव मराठा योद्धा थे। कृपासिन्धु साहू जुलाहा है। सुदर्शन राउत हैं भूमिहार। राधूदास हैं कायस्थ। यहाँ गंगाधर नाम के तीन व्यक्ति हैं। गंगाधर सारंगी, गंगाधर महांती, गंगाधर विश्वाल। इन की जात है, ब्राह्मण, कायस्थ और भूमिहार और मरुआ का कहना है उस की कोई भी जात नहीं है। उस की जात है स्त्री। हमारे यहाँ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है। सब लोग एक साथ मिलजुल कर रहते हैं। एक साथ मिल-बाँट कर खाते हैं।

सॉटन : बाक़ी सब हिन्दुओं का इस के बारे में क्या कहना है?

सुंदरदास : वे इन बातों को पसंद नहीं करते। मैं उन से कहता हूँ, घाट में जो कपड़े सूख रहे हैं उन को ध्यान से देखो। वे कपड़े विभिन्न जाति के लोगों के हैं। हम कहेंगे कि एक कपड़ा दूसरे कपड़े से छू जाए तो अपवित्र हो जाएगा। लेकिन सूर्य तो इन बातों को नहीं सोचता। अपना ताप हर एक कपड़े को समान रूप से देता है।

उसी प्रकार ईश्वर की दृष्टि में सभी जाति के लोग एक समान हैं। हम कौन होते हैं जात-पात, छूत-अछूत करने वाले?

लेसी : आप अपने शिष्यों को क्या उपदेश देते हैं?

सुंदरदास : मैं कहता हूँ, बच्चो, सीखो, समझो, ज्ञान प्राप्त करो। हिन्दुओं का शास्त्र पढ़ते हो तो पढ़ो। साथ ही किरिस्तानियों के नूतन नियम भी पढ़ो। ईसा मसीह की तरह और कौन होगा बच्चो, जो किसी को फाँसी की सज़ा सुनाए जाने पर स्वयं उस के स्थान पर फाँसी पर चढ़ने को तैयार हो जाए। वही है ईसा मसीह। बच्चो, इसी को कहते हैं सत्य से बढ़ कर महासत्य। संसार में अन्न है। वस्त्र है। ज्ञान है। अन्न गल जाएगा। वस्त्र फट जाएगा, लेकिन ज्ञान सदा रहेगा। उसे तुम से कोई छीन नहीं सकता। इसलिए उसे ही माँगो। उसे ही अपनाओ। धन-दौलत से ज्ञान नहीं मिलेगा। वह कष्ट सह कर अर्जित करना होगा।

सॉटन : आप के शिष्य दस आज्ञाओं का प्रचार कर रहे हैं। दस आज्ञाओं के बारे में आप का मत क्या है?

सुंदरदास : मैं आप की दस आज्ञा की पुस्तक प्राप्त करने से पहले ही से अपने शिष्यों को वही उपदेश देता आ रहा था—परदारागमन नहीं करना, मूर्ति-पूजा नहीं करना, आदि। लेकिन सारे नियम इतने अच्छे एवं तरीक़े से इकट्ठे करके एक ही जगह पर मिल जाएँ, ऐसा पहले कभी नहीं देखा था। मैं समझ गया अब ये दस आज्ञाएँ ही हमारा मूलमंत्र हो जाएगा। इसलिए मैं दस आज्ञाओं के प्रचार करने के लिए गाँव में अपने आदमियों को भेजता रहता हूँ।

सॉटन : टेन कमांडमेंट्स हमारे लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। हमें सूचना मिली कि इन दस आज्ञाओं के प्रचार के लिए गए हुए आप के आदमियों को बहुत कष्ट झेलना पड़ा।

सुंदरदास : हाँ, मैं ने इसी कारण तो आप को यहाँ आने का कष्ट दिया। यदि अच्छी बातें बताने की वजह से हमारे आदमी मार खाते रहें, तो हमें क्या करना चाहिए?

लेसी : हम लोग भी जब प्रचार के लिए जाते हैं, गाँव वाले हमें भी बहुत कष्ट देते हैं। कभी हमारे ऊपर कंकड़-पत्थर फेंकते हैं तो कभी हमारे ऊपर गोबर इत्यादि। कभी-कभी तो हमारी सभा के बीच अपनी

गाय-भैंस छोड़ देते हैं। ईसा मसीह को भी अज्ञानी लोगों ने कम कष्ट नहीं पहुँचाया था। ईसा मसीह ने कहा है—'धन्य हैं वे जो धर्म के कारण सताए जाते हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। धन्य हो तुम, जब मनुष्य मेरे कारण तुम्हारी निन्दा करें, और सताएँ और झूठ बोल कर तुम्हारे विरोध में सब प्रकार की बुरी बातें कहें।

सुंदरदास : वाह, क्या बात है। सुनो गंगाधर, सुनो रामचंद्र! ज़रा साधु, कृपासिन्धु को यहाँ बुलाना। उन लोगों ने जो मार खाई उस के लिए धन्य हैं। सारा स्वर्गराज उन का ही हो गया। ईसा मसीह की जय हो। गंगाधर तुम्हें पादरी भाइयों से कोई प्रश्न करना है?

गंगाधर : बाबा हमारे यहाँ बलभद्र नाम का जो लड़का है उस के विषय में क्या किया जाए?

सुंदरदास : आप लोग हिन्दू-धर्म में जाति-प्रचार के बारे में पूछ रहे थे। हमारे कंधमाल में ऐसे संप्रदाय हैं जिन का धर्म है नरबलि देना।

लेसी : हम ने उन के बारे में भी सुना है। हम लोग चाहते हैं कि उन के प्रांत में जा कर यीशु की पवित्र वाणी सुनाएँ।

सुंदरदास : उन्हीं के यहाँ से नरबलि से बच कर यह लड़का हमारे पास भाग आया है।

गंगाधर : लेकिन अब वह यहाँ रहना नहीं चाहता।

लेसी : हम लोग उस लड़के की ज़िम्मेवारी ले लेंगे। आप उसे हमारे पास भेज दें। हम उसे अपने स्कूल में पढ़ाएँगे। हमारा अनुरोध है, आप भी यहाँ एक स्कूल चलाएँ। यदि आप उस स्कूल की ज़िम्मेदवारी लें तब हम यहाँ भी एक स्कूल खोल देंगे।

सुंदरदास : अति उत्तम प्रस्ताव है। पहले गंगाधर जा कर आप का स्कूल देख आएँगे। फिर हम उस पर विचार करेंगे। हमारा भी आप से एक अनुरोध है। आप हमारे आश्रम के समीप एक घर बनाएँ। यदि हर वक़्त आप यहाँ न भी रह सकें, तब भी महीने, दो महीने रह सकते हैं। इस से हम सब आप के आभारी होंगे।

सॉटन : प्रस्ताव के लिए धन्यवाद। हम कटक में भली-भाँति स्थापित होने के पश्चात किसी अन्य स्थान के विषय में विचार करेंगे।

हम लोग कटक में एक स्थान ले कर वहाँ एक चैपल या गिरजा का निर्माण कर रहे हैं।

हम लोग चाहते हैं कि धीरे-धीरे और जगहों पर भी गिरजाघर की स्थापना करें। आप की मदद से हम पहले यहाँ मकान बनवाएँगे और भविष्य में गिरजाघर भी।

सुंदरदास : वही उत्तम होगा।

सॉटन : मैं ओड़िया भाषा में एक व्याकरण की पुस्तक भी लिख रहा हूँ। इस में आप की मदद लूँगा।

सुंदरदास : अवश्य, अवश्य। बच्चो, तुम को पादरी भाइयों से कोई प्रश्न पूछना है?

(मरुआ आगे बढ़ती है।)

मरुआ : आप लोग तो गाँव-गाँव घूम कर धर्म-प्रचार करते हैं और लोगों को अच्छी शिक्षा देते हैं। फिर आप के फ़िरंगी लोग जो कलेक्टर, मजिस्ट्रेट और कंपाउंडर बन गए हैं, उन को क्यों नहीं कुछ सीख देते?

सुंदरदास : मरुआ कटक में फ़िरंगी साहिब के यहाँ काम करती थी। उस का वहाँ दिल नहीं लगा और वह यहाँ चली आई। उसे गाँव वालों ने जात बाहर कर दिया।

लेसी : इसे भी हमारे साथ भेज दीजिए। यह हमारे यहाँ की बालिकाओं की देखभाल करेगी।

सुंदरदास : आप ने हमारे एक लड़के और एक लड़की को ले लिया।

लेसी : आप के यहाँ तो अनेक पुत्र और कन्याएँ हैं।

सुंदरदास : पिता के लिए तो उस के सभी बच्चे प्रिय होते हैं। गंगाधर, भोजन की क्या व्यवस्था हुई? पादरी भाई

हमारे संग भोजन ग्रहण करेंगे।

लेसी : नहीं, आप जा कर भोजन ग्रहण करें। हम आप के संग सामूहिक भोजन करके आप को असुविधा में नहीं डालना चाहते। अब हम आप से विदा लेना चाहते हैं।

सॉटन : *(सुंदरदास को एक शॉल देते हैं)* कृपया यह छोटा-सा उपहार स्वीकार करें।

सुंदरदास : आप हमारे अतिथि हैं, भोजन ग्रहण किए बिना चले जा रहे हैं। उस पर इतना उत्तम उपहार भी दिया। मैं आप को कुछ नहीं दे सका। *(कुछ सोचते हुए)* गंगाधर सारंगी हमारा सब से उत्तम शिष्य है, मेरा सब से प्रिय पुत्र भी, यह हमारे सभी शिष्यों से सर्वाधिक ज्ञानी भी है। मैं उसे सभी शिष्यों से अधिक स्नेह करता हूँ। यह मेरे लिए मेरे दाहिने हाथ की तरह है। *(गंगाधर के कंधे पर हाथ रखते हैं)* मैं तो ठहरा संन्यासी। मेरे पास आप को देने के लिए और तो कुछ नहीं है। मैं अपने इस शिष्य गंगाधर को आप को सौंप रहा हूँ। गंगाधर आप के पास रह कर धर्म-प्रचार में आप की मदद करेगा।

गंगाधर : *(आश्चर्य से)* बाबा!

सुंदरदास : जाओ इन के साथ चले जाओ। मैं कटक आ कर तुम से मिलूँगा।

(सुंदरदास सब को आशीर्वाद देते हैं। लेसी, सॉटन जाने के लिए तैयार होते हैं। वे सुंदरदास के पैर छूने लगते हैं। सुंदरदास उन्हें उठा कर उन से हाथ मिलाते हैं। बलभद्र, मरुआ और गंगाधर को साथ ले कर लेसी, सॉटन चले जाते हैं। सब लोग उन के जाने के पथ को देखते रह जाते हैं।)

दूसरा अंक

पहला दृश्य

(सड़क पर गाँव वालों का जमघट है। अचानक कोई एक चिल्लाता है, 'गोरा साहब आ रहे हैं।' *लोग भय से इधर-उधर भागने लगते हैं। फिर कोई कहता है,* नहीं रे, नहीं, पादरी आ रहे हैं।' *फिर से सब लोग जमघट लगाते हैं। लेसी और गंगाधर मंच पर आते हैं।)*

लेसी : बहनो एवं भाइयो! आप को हमारा नमस्कार।

गंगाधर : *(आहिस्ता से)* यहाँ कोई बहन नहीं है।

लेसी : अच्छा। भाइयो, आप को नमस्कार। हम आप लोगों को ईसा मसीह की मंगलवार्ता सुनाने पधारे हैं।

ग्रामीण : अच्छा, सुनाओ, सुनाओ।

लेसी : आज हमारे बंधु गंगाधर आप को दस आज्ञाओं के बारे में बताएँगे।

ग्रामीण : नहीं, नहीं, वो क्यों सुनाएँगे। आप ही सुनाओ।

ग्रामीण : पहले तनिक गोरे मुखड़े से हम अमृत वाणी सुन लें।

लेसी : ठीक है। ऐसा ही होगा। मैं आप लोगों को ईसा मसीह की महान वाणी सुनाऊँगा।
(गाने लगते हैं) यीशु के प्रेम की तुलना नहीं।
ढूँढने पर भी मिलेगा न कहीं।

ग्रामीण : हरी बोल, हरी बोल।

लेसी : ईसा मसीह ने कहा है, जो मेरे मांस का भोजन करता है एवं मेरा रक्तपान करता है, वह मुझ में वास करता है और मैं भी उस में वास करता हूँ।

ग्रामीण : क्या कहा, ईसा मसीह का रक्त पीओगे? उन का मांस खाओगे? बाप रे बाप! यह तो नर-भक्षी है।

लेसी : *(गाँव वालों के कोलाहल में)* इस बात का अर्थ है—आत्मा के अंदर जब धर्म की रक्षा करने की इच्छा जागृत हो, तब उस को आहार देना होगा।

जिस आत्मा का पुनर्जन्म हुआ हो उस का एकमात्र आहार है ईसा मसीह। ईश्वर की संतानों को यदि ऐसा भोजन न मिले तो वे दुर्बल एवं दुखी हो कर निराश हो जाते हैं। मात्र ऐसी दुर्घटना से मुक्ति पाने के लिए यीशु के समीप जा कर विश्वास से उन्हें संपूर्ण रूप से ग्रहण करना आवश्यक है। आप की समझ में आ रहा है न?

ग्रामीण : हाँ, हाँ, अच्छी तरह से समझ रहे हैं। आगे समझाओ।

लेसी : आत्मा जो है, वह शरीर की तरह नहीं है। शरीर मुख के दाँतों से भोजन करता है। लेकिन आत्मा प्रार्थना, नम्रता, ध्यान, विश्वास, कृतज्ञता, प्रेम के द्वारा यीशु को ग्रहण करके परितृप्त होती है। जब कोई व्यक्ति हम से आ कर कहे, किसी जगह पर एक महाभोज का आयोजन है। हम वहाँ पहुँचते हैं और भोजन ग्रहण किए बिना केवल दृष्टिपात करके आते हैं, तब हम को उस से तृप्ति नहीं मिलेगी। इसलिए जिस प्रकार हम भोजन ग्रहण करके जब तक उसे पचा न लें, तब तक हमारा शरीर पुष्ट नहीं हो सकेगा। ठीक उसी प्रकार यीशु की भक्ति किए बिना, अंतःकरण के मध्य उसे ग्रहण किए बिना एवं विश्वास के द्वारा नित्य उन के मांस का भोजन एवं रक्तपान किए बिना हमारी आत्मा, धर्म में वृद्धि नहीं हो सकेगी। क्या आप की समझ में आ गया?

ग्रामीण : जी हाँ, सब कुछ समझ गए।

लेसी : तब आप लोग ईसा मसीह पर विश्वास रखिए। वे आप लोगों को भी क्षमा करेंगे।

ग्रामीण : *(व्यंग करते हुए)* अच्छा हम ने विश्वास कर लिया। क्या उन्होंने हमें क्षमा कर दिया?

गंगाधर : इस में व्यंग करने की बात नहीं है।

ग्रामीण : नहीं, नहीं। यह तो साक्षात अमृत है। हम इसे पी लेंगे।

लेसी : ईसा मसीह ने कहा—तुम इस रीति से प्रार्थना किया करो, 'हे हमारे पिता, तू जो स्वर्ग में है, तेरा नाम पवित्र माना जाए। तेरा राज्य आए, तेरी इच्छा जैसे स्वर्ग में पूरी होती है, वैसे पृथ्वी पर भी हो। हमारी दिन भर की रोटी आज हमें दे, और जिस प्रकार हम ने अपने अपराधियों को क्षमा किया है, वैसे ही तू भी हमारे अपराधों को क्षमा कर और हमें परीक्षा में न ला, परंतु बुराई से बचा, क्योंकि राज्य और पराक्रम और महिमा सदा तेरे ही हैं।' आमेन।

ग्रामीण : तुम पाप करके अपने यीशु का नाम लेते रहो, हम पाप करके अपने ईश्वर का नाम लेते रहेंगे।

लेसी : किस ईश्वर का नाम लेंगे आप?

ग्रामीण : हमारे अनेकों ईश्वर हैं। हम सब का नाम ले लेंगे।

लेसी : यदि कोई व्यक्ति दो नावों में पैर रखेगा तो उस का क्या परिणाम होगा?

ग्रामीण : डूब मरेगा साला।

लेसी : उसी प्रकार आप लोग यदि अनेक देवताओं को पूजेंगे तो आप भी डूब मरेंगे। इसलिए एक ही परमब्रह्म पर विश्वास रखिए। जो उस पर आस्था रखेगा, उसे अनंत जीवन की प्राप्ति होगी।

ग्रामीण : हाँ, हमारे भी ब्रह्मा हैं।

लेसी : आप के ब्रह्मा कहाँ हैं?

ग्रामीण : हमारे ब्रह्मा हमारे शरीर में हैं।

लेसी : ईश्वर मनुष्य के शरीर में नहीं रह सकते।

(पॉकेट से एक घड़ी निकाल कर दिखाते हैं फिर उसे ले जा कर उस की आवाज़ लोगों के कान में सुनाते हैं।)

यह घड़ी आवाज़ करती है। इस की सुइयाँ भी चल रही हैं। इस का यह अर्थ तो नहीं है कि घड़ी बनाने वाला घड़ी के अंदर है।

ग्रामीण : हमें ज़रा घड़ी देना। हम देख कर बताएँगे घड़ी बनाने वाला इस के अंदर है या नहीं?

(वे लोग लेसी के हाथ से घड़ी छीनते हुए एक-दूसरे को देने लगते हैं। गंगाधर और लेसी बहुत मुश्किल से उन से घड़ी वापस लेते हैं।)

लेसी : अब गंगाधर आप को दस आज्ञाओं के बारे में बताएँगे।

ग्रामीण : हाँ, हाँ, बताओ। गोरे पादरी से तो सुन लिया, अब काले पादरी से भी सुन लें।

ग्रामीण : यह दस आज्ञा है क्या बला?

गंगाधर : परमेश्वर ने मूसा को यह दस आज्ञा दी थीं। मूसा एक भविष्य वक्ता थे। परमेश्वर ने उन से कहा—तू मुझे छोड़ दूसरों को ईश्वर रूप में मत मानना। तू अपने लिए कोई मूर्ति खोद कर न बनाना, न किसी की प्रतिमा बनाना, जो आकाश में या पृथ्वी पर, या पृथ्वी के जल में है। तू उन को दंडवत् न करना, और न उन की उपासना करना, तू अपने परमेश्वर का नाम व्यर्थ न लेना; क्योंकि जो यहोवा का नाम व्यर्थ ले वह उस को निर्दोष न ठहराएगा।

ग्रामीण : तुम्हारे प्रभु ने मूसा से जो कहा हो, कहा हो; हमारे लिए तो हमारे ईश्वर ही अच्छे हैं। तब हम उन की प्रतिमा क्यों नहीं बनाएँ और क्यों न उन की पूजा करें?

लेसी : तुम्हारे देवता तो काष्ठ-पाषाण से बने हैं। वह एक बनावटी ईश्वर हैं।

ग्रामीण : नहीं, वह हमारे साक्षात् देवता हैं।

लेसी : उन लोगों की मूरतें सोने-चाँदी की तो हैं, परन्तु वे मनुष्य के हाथ की बनाई हुई हैं। उन का मुँह तो है, परंतु वे बोल नहीं सकतीं, उन की आँखें तो हैं, परंतु वे देख नहीं सकतीं। उन के कान तो हैं, परंतु वे सुन नहीं सकते। उन के नाक तो हैं, परंतु वे सूँघ नहीं सकतीं। उन के हाथ तो हैं, परंतु वे स्पर्श नहीं कर सकतीं। उन के पाँव तो होते हैं, परंतु वे चल नहीं सकतीं; और अपने कंठ से कोई शब्द नहीं निकाल सकतीं।

जैसी वे हैं, वैसे ही उन के बनाने वाले हैं; और उन पर भरोसा रखने वाले भी वैसे ही हो जाएँगे।

ग्रामीण : यदि हमारे देवता बनावटी हैं तो पूरे संसार को कौन चलाता है?

लेसी : शाश्वत परमेश्वर।

ग्रामीण : वह तो ठीक है। लेकिन सदाप्रभु हर समय हर जगह तो नहीं जा सकते। इसलिए जगन्नाथ, कृष्ण, राम, बलराम आदि देवताओं को पृथ्वी पर भेजा है। जैसे तुम्हारी कंपनी ने विलायत में होते हुए यहाँ जज, मजिस्ट्रेट, पुलिस को भेजा हुआ है।

लेसी : कंपनी विलायत में होते हुए भी इन लोगों को इसलिए भेजा है ताकि वे ख़ज़ाना ले जा सकें एवं न्याय कर सकें। वैसे कंपनी तो इंसान है। इंसान एक समय में एक ही जगह पर रह सकता है इसलिए उसे तो अलग-अलग स्थान के लिए अलग-अलग व्यक्ति को नियुक्त करना पड़ता है। परंतु ईश्वर तो है सर्वंग, सर्वमय। वह सर्वत्र रहते हैं एवं सर्वज्ञानी हैं। हम लोग तो कटक में रहते हुए यह नहीं जान सकते हैं कि पुरी

में क्या हो रहा है, लेकिन ईश्वर जानते हैं। इस के लिए ईश्वर को नौकर-चाकर रखने की आवश्यकता नहीं होती। और आप ने जैसा कहा कि राम, कृष्ण, ईश्वर के भेजे हुए दूत हैं।

यदि जज, मजिस्ट्रेट, पुलिस, कंपनी की बातें न मान कर अपने मन मुताबिक काम करें तो उन की नौकरी चली जाएगी। उस भाँति आप के देवी-देवता भी क्या नौकरी से निकाले जा सकते हैं?

ग्रामीण : अरे ये कैसी बातें कर रहे हो? देवताओं ने क्या ईश्वर की चाकरी कर रखी है। ईश्वर तो राजा हैं। जैसे राजा अपनी प्रजा का कुशल मंगल जानने के लिए रात को भेष बदल कर निकलते हैं, उसी प्रकार ईश्वर, राम-कृष्ण के रूप में पृथ्वी पर आते हैं।

लेसी : ईश्वर एक है। अनेक नहीं हो सकते।

(ग्रामीणों के बीच से एक पंडित जैसा व्यक्ति सामने आता है।)

पंडित : आप के शास्त्रों में ईश्वर एक हों तो हों। लेकिन हमारे शास्त्रों का कहना है कि उन की उपासना करने के विभिन्न उपाय हैं।

लेसी : आप का शास्त्र मिथ्या है।

पंडित : ईश्वर ने हमारे शास्त्र की रचना की है; वह मिथ्या कैसे हो सकता है?

लेसी : एक निर्मल नदी में कभी दूषित जल प्रवाहित हो सकता है क्या? ईश्वर पवित्र है। वे क्या अपवित्र वस्तु की रचना कर सकते हैं?

पंडित : कभी नहीं।

लेसी : तुम्हारा शास्त्र पवित्र नहीं है। इसलिए वह ईश्वर की रचना नहीं हो सकता। हमारा शास्त्र ईश्वर की रचना है। यह मन को निर्मल बनाएगा। पापों का विनाश करेगा, इसलिए इस का चिन्तन करो।

पंडित : तुम्हारे लिए तुम्हारा शास्त्र अच्छा होगा, हमारे लिए हमारे शास्त्र हैं। हमारे बाप-दादा को इन्हीं शास्त्रों के पढ़ने से मुक्ति मिली। फिर मैं क्यों इन शास्त्रों पर संदेह करूँ? आप हमारे शास्त्रों को ग़लत नहीं कहिए।

लेसी : हमारे बाप-दादा भी मूर्ति-पूजा करते थे। नरबलि भी देते थे लेकिन उन के पुत्र, पौत्र जागृत हुए, उन्होंने ग़लत बातों का त्याग किया। इसलिए आप भी अपने शास्त्र के सत्य-असत्य की परीक्षा करके आगे बढ़िए।

पंडित : आप अपने रास्ते जाइए, मैं अपने रास्ते जाता हूँ। प्रणाम।

(जाने लगता है।)

ग्रामीण : अच्छा, अच्छा। तुम अपने कृष्ण की पूजा करो, हम अपने कृष्ण की पूजा करेंगे। हमारे कृष्ण हमारी रक्षा करेंगे।

गंगाधर : कृष्ण तो ज़राशबर के तीर से अपनी रक्षा नहीं कर पाए। वो फिर किसी की रक्षा कैसे करेंगे?

लेसी : आप के कृष्ण तो पापी हैं। उन्होंने वृंदावन में सोलह-सत्रह गोपियों के संग पाप किया था।

ग्रामीण : साला, हमारे कृष्ण को गाली देता है। मारो साले को।

गंगाधर : धैर्यपूर्वक सुनिए हमारी बातों को।

ग्रामीण : साला ब्राह्मण, पादरी का झूठन खा कर चांडाल बन गया। मारो साले काले पादरी को।

ग्रामीण : मारो, मारो। मारो सालों को. . .

(गाँव वाले लेसी और गंगाधर को मारने दौड़ते हैं। मारधाड़ में प्रचार बंद हो जाता है।)

दूसरा दृश्य

बांपटन : *(रास्ते में कुछ ग्रामीण खड़े हैं। पादरी बांपटन का गाते हुए प्रवेश)*

कौन उतारे पार,
लॉर्ड जीसस क्राइस्ट बिना, हे!
पातक सिन्धु अपार,
लॉर्ड जीसस क्राइस्ट बिना, हे।
ईश्वर-पुत्र महान,
वही पापों से त्राण करे।
जो करता गुणगान,
वही भवसागर पार तरे।

(भीड़ में से एक महिला की ओर देखते हुए) भाइयो एवं बहिनो, आप ईसा मसीह पर विश्वास करेंगे तो वे आप का उद्धार करेंगे।

ग्रामीण : हाँ, हम को उद्धार मिल जाएगा, लेकिन पहले तुम अपने ईसा मसीह को यहाँ बुला कर दिखाओ।

बांपटन : वे स्वर्गलोक में रहते हैं।

ग्रामीण : तब तुम ज़रा हमारे सामने स्वर्ग जा कर उन्हें बुला लाओ। फिर हम तुम्हारी बातों पर विश्वास कर लेंगे।

बांपटन : ईसा मसीह को देखने की कोई आवश्यकता नहीं है। मान लीजिए, किसी को ज्वर हुआ हो और वो ज्वर से तड़प रहा हो, डॉक्टर आ कर उसे दवा दे और कहे दवा खाने से ज्वर में राहत मिलेगी। लेकिन रोगी कहे मैं दवा नहीं खाऊँगा। पहले मुझे ज्वर को देखना है। मुझे ज्वर दिखाओ। यदि वह ज्वर को बिना देखे दवा नहीं खाएगा तो क्या होगा? वह मर ही जाएगा ना?

ग्रामीण : हाँ।

बांपटन : उसी भाँति यदि आप लोग कहेंगे कि जब तक हम ईश्वर को अपनी आँखों से न देखें, हम विश्वास नहीं करेंगे। तब आप का विनाश ही होगा। केवल यीशु ही आप का उद्धार कर सकते हैं। उन पर विश्वास रखिए।

ग्रामीण : नहीं, हमारे कृष्ण हैं, राम हैं, ब्रह्मा, महेश्वर हैं। वे हमारा उद्धार करेंगे।

बांपटन : भाइयो एवं बहनो, ये बातें बिलकुल ग़लत हैं। ईश्वर ने प्रत्येक प्रयोजन के लिए अलग-अलग चीज़ों की सृष्टि की है। जैसे—सूर्य की सृष्टि की है हम सब को आलोक, ऊष्मा देने के लिए। यदि कोई यह कहे कि मुझे ईश्वर का बनाया हुआ सूर्य नहीं चाहिए, मैं स्वयं अपने लिए सूर्य बना लूँगा तो यह संभव है? और हमारे शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ईश्वर ने खाद्य पदार्थ की सृष्टि की है। यदि कोई कहे मैं खाद्य पदार्थ के स्थान पर बालू एवं पत्थर खा लूँगा। क्या वह ज़िन्दा रह सकेगा? उसी प्रकार ईसा मसीह के बिना और कोई नहीं है जो हमारा उद्धार कर सके।

कौन उतारे पार,
लॉर्ड जीसस क्राइस्ट बिना, हे।

ग्रामीण : हमें मालूम है, मालूम है। ईश्वर का नाम लेने से हमारे सारे पाप धुल जाएँगे। राम के नाम से 'रा' ले लेने से मन के भीतर का सारा पाप बाहर आ जाएगा। 'म' बोलने से मन के सारे दरवाज़े बंद हो जाएँगे। इस से पाप भीतर नहीं जा सकेगा और गोविन्द का नाम लेने से हमें मुक्ति मिल जाएगी।

बांपटन : केवल किसी का नाम ले लेने से पाप से मुक्ति नहीं मिल सकती, न ही दंड से रक्षा। मान लीजिए, आप ने महाजन से सौ रुपए उधार लिए और उन्हें ख़र्च कर दिया। उस को वापस नहीं कर सके और जब वह माँगने आता है, तब आप कहें कि हुज़ूर मैं रुपए तो नहीं लौटा सकूँगा, आप के नाम की माला जपता रहूँगा। क्या महाजन आप को छोड़ देगा? वैसे ही आप कर नहीं देते और कलेक्टर से कहते हैं कि मैं आप के नाम की माला जपूँगा। आप चोरी करते हैं और मजिस्ट्रेट से कहते हैं मैं आप के नाम की माला जपूँगा, वे क्या आप का हर्ज़ाना माफ़ कर देंगे या चोरी करने पर छोड़ देंगे? आप को जेल जाना ही पड़ेगा। इसलिए हम कहते हैं ईश्वर का सिर्फ़ नाम ले लेने से कोई लाभ नहीं है। यीशु पर आस्था रखने से ही मुक्ति मिलेगी।

ग्रामीण : हम अपने ईश्वर को तो मंदिर में देखते रहने की वजह से जानते हैं कि ईश्वर है। लेकिन तुम्हारे ईसा मसीह को बिना देखे कैसे जानेंगे? कैसे उन पर विश्वास कर सकेंगे?

ग्रामीण : ये साले फ़िरंगियों का कोई मंदिर तो होता नहीं। फिर धर्म कहाँ से आएगा?

बांपटन : आप लोग बड़े लाट को मानते हैं या नहीं? उन को सम्मान देते हैं या नहीं?

ग्रामीण : हाँ, देते हैं।

बांपटन : यदि आप लोग धैर्यपूर्वक सुनेंगे, तब मैं आप को ईसा मसीह की महिमा के बारे में बताऊँगा।

ग्रामीण : पहले हम को यह बता दो यीशु गोरा है या काला?

बांपटन : *(थोड़ा झुँझलाते हुए)* उस से आप को क्या?

ग्रामीण : अरे, अरे, नाराज़ क्यों होते हो। जैसे हमारे कृष्ण काले हैं, वैसे ही ईसा मसीह का कोई तो रंग होगा।

ग्रामीण : साले को इतना ही नहीं पता कि गोरे या काले? ये फिर हमें क्या बताएगा ईसा मसीह के बारे में?

ग्रामीण : अच्छा, ठीक है, बताओ क्या बता रहे थे।

बांपटन : अतएव ईश्वर के बलवान हाथों में अपने आप को सौंप दीजिए, जिस से वे समय आने पर आप को उन्नत करें, गौरव एवं पराक्रम युग-युग से उन्हीं का है। आमेन्। अब मैं आप को इस का अर्थ समझाता हूँ।

ग्रामीण : नहीं, नहीं और क्या समझाओगे? हम लोगों ने सारी बातें अच्छी तरह से समझ ली हैं।

ग्रामीण : अब ज़रा संस्कृत में बोलो।

ग्रामीण : नहीं तो तुम अपनी भाषा में बोल दो। फ़िरंगी भाषा में।

बांपटन : अच्छा ठीक है, मैं अंग्रेज़ी भाषा में बताता हूँ :

For God so loved the world that he gave his only begotten Son, that whoever believeth in him should not perish, but have everlasting life.

ग्रामीण : *(किसी से)* क्यों रे फकीरा, तुम तो अंग्रेज़ी जानते हो शायद, क्या समझे?

ग्रामीण : *(बांपटन से)* अब ज़रा हमें हमारी भाषा में समझा देंगे क्या?

बांपटन : जिस प्रकार परमेश्वर को जगत से इतना प्रेम हो गया कि उन्होंने अपने अद्वितीय पुत्र को दे दिया; उसी प्रकार जो कोई उन पर विश्वास करेगा वो नष्ट न हो कर अनंत जीवन प्राप्त करेगा।

ग्रामीण : हाँ, अब सब कुछ समझ में आ गया। क्यों फकीरा, तुम ज़रा पादरी को अंग्रेज़ी क्यों नहीं सुनाते?

फकीरा : *(लजाते हुए)* नहीं रहने दो।

ग्रामीण : साला लजाता है औरतों की तरह। हमारे सामने तो डींग मारता था, अब मुँह बंद हो गया। अरे पादरी को बता दो कि हम लोग बेवकूफ़ नहीं हैं?

फकीरा : बता दूँ? ठीक है *(जल्दी, जल्दी बोलता है)*

Dear Sir, I have the honour to acquaint you that I am sick by the fever this for cannot stand nor walk neither rise from slip but pass yesterday at evening here did you order if will you go tomorrow then I will give you some physic and I cannot go for my misfortune and did not cure therefore I pray before you I am very poor man and orphan so gracious grant me grace to avoid from this fever and always to be nourished as any room I am Sir your most obedient servant Fukeer Chunder Dass.

ग्रामीण : बहुत अच्छा बोला रे तुम ने। क्यों पादरी की समझ में आया या नहीं?

ग्रामीण : अच्छा अब बहुत देर हो गई। अब हमें पुस्तक दे दो। हम लोग जाएँगे।

बांपटन : मेरे पास तो कोई पुस्तक नहीं है। भाई सॉटन को आने दो। आप को वो पुस्तक देंगे।

ग्रामीण : यदि पुस्तक नहीं थी तुम्हारे पास फिर हमें क्यों रोक रखा था इतनी देर से।

ग्रामीण : अरे, देखा जाए पादरी के थैले के अंदर पुस्तक होगी।

(बांपटन के थैले को खींचने लगते हैं।)

ग्रामीण : फिर तुम अपना घोड़ा हम को दे दो। तुम तो पादरी हो। तुम को लालच तो होगा नहीं।

बांपटन : जिस वस्तु की आवश्यकता होती है उसे लालच नहीं कहते। मैं घोड़ा नहीं दे सकता।

ग्रामीण : पुस्तक भी नहीं दोगे। घोड़ा भी नहीं दोगे। केवल भाषण देते रहोगे। साला चोर है, मारो।

(गाँव वाले बांपटन को मारने के लिए घेर लेते हैं। बांपटन बच कर भागने लगते हैं। गाँव वाले पीछे दौड़ते हैं।)

ग्रामीण : पादरी को ढेला मारो। उस के ऊपर गोबर फेंको।

ग्रामीण : हरी बोल, हरी बोल।

(इस तरह कोलाहल में प्रचार समाप्त होता है।)

तीसरा दृश्य

(रास्ते पर गाँव वाले इकट्ठे हो कर पादरी की नकल कर रहे हैं।)

ग्रामीण : भाइयो एवं बहनो, लीजिए, लीजिए बिना मोल के लीजिए। लोकलिखित, मैथ्यूलिखित, मार्कलिखित, जॉनलिखित, मंगल समाचार। लीजिए निस्तार रत्नाकर। बिना मोल के लीजिए ईश्वर के समस्त वाक्य बाइबिल। दस आज्ञा प्रश्नोत्तर।

(उन में से एक उठ कर कुछ सूखे पत्ते सब को देता है।)

ग्रामीण : सुनो भाइयो। हम से सुनो दस आज्ञा। तू मुझे छोड़ दूसरों को ईश्वर करके न मानना। तू अपने लिए कोई मूर्ति खोद कर न बनाना, न किसी की प्रतिमा बनाना, जो आकाश में व पृथ्वी के जल में है। तू उन को दंडवत् न करना और न उन की उपासना करना। तू अपने परमेश्वर का नाम व्यर्थ न लेना, क्योंकि जो यहोवा का नाम व्यर्थ ले वह उस को निर्दोष न ठहराएगा।

ग्रामीण : हरी बोल, हरी बोल।

ग्रामीण : अरे पादरी सच में इधर आ रहा है क्या?

ग्रामीण : ठीक है आने दो। मैं आप को दस आज्ञा सुनाता हूँ।

(पादरी सॉटन आ कर खड़े हो जाते हैं। ग्रामीण उन की अनदेखी करते हुए अपना भाषण जारी रखता है।)

नर हत्या करिए। व्यभिचार करिए। चोरी करिए। अपने प्रतिवेशी के विरुद्ध मिथ्या में साथ दीजिए। अपने प्रतिवेशी की भार्या या दास-दासी या उस के पशु या अन्य किसी वस्तुओं का लोभ करिए।

(सॉटन यह सब सुन कर प्रश्नवाचक दृष्टि से वक्ता को देख रहे थे। वक्ता ने कहा, 'करिए नहीं।' *सब लोग ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगते हैं। सब लोगों की हँसी रुकने के बाद सॉटन ने बोलना आरंभ किया।)*

सॉटन : भाइयो एवं बहनो, लीजिए, लीजिए, बिना पैसे के लीजिए लोकलिखित, मैथ्यूलिखित, मार्कलिखित, जॉनलिखित, मंगल समाचार। लीजिए निस्तार रत्नाकर। बिना मोल के लीजिए ईश्वर के समस्त वाक्य बाइबिल। दस आज्ञा प्रश्नोत्तरी।

ग्रामीण : *(आपस में)* जब हम ताड़ के पत्ते पर दो शब्द लिखवाने जाते हैं, तब पंडित हम से पैसे माँगता है। पादरी लोग इतनी सारी पुस्तकें मुफ़्त में बाँट रहे हैं। ज़रूर कंपनी इन को पैसा देती होगी।

ग्रामीण : पादरी से पूछ लो न।

ग्रामीण : *(सॉटन से)* आप ये पुस्तक जो बाँट रहे हैं उन्हें कंपनी ने ही छपवाया होगा। इन्हें बाँटने के लिए कंपनी आप को कितना पैसा देती है?

सॉटन : ये कंपनी की पुस्तकें नहीं हैं। ये बैप्टिस्ट मिशन की पुस्तकें हैं। हमारे देश के धार्मिक लोगों ने इसे छापने के लिए पैसे दिए हैं। आप लोगों की सेवा के लिए बिना पैसों में बाँटा जा रहा है।

ग्रामीण : तुम्हारे देश के लोग हम लोगों के लिए क्यों पैसे ख़र्च कर रहे हैं?

सॉटन : वे लोग ईसा मसीह में आस्था रखते हैं। वे चाहते हैं कि ईसा मसीह की वाणी का सारे विश्व में प्रचार हो।

ग्रामीण : इस के लिए आप को कितनी तनख़्वाह मिलती है?

सॉटन : *(झुँझलाते हुए)* उस में आप का प्रयोजन नहीं है।

ग्रामीण : प्रयोजन तो नहीं है फिर भी जानना चाहते हैं।

सॉटन : हम को खाने, पीने, पहनने, रहने के लिए जितनी ज़रूरत होती है, उतना मिल जाता है हम को।

ग्रामीण : केवल इतने के लिए इतनी दूर से क्यों आए हो?

ग्रामीण : *(आपस में)* ये कंगाल पादरी, इन्हें अपने देश में खाना नहीं मिलता होगा इसलिए यहाँ चले आए हैं।

(उन से और बहस न करते हुए सॉटन पुस्तकें बाँटने लगते हैं।)

ग्रामीण : पुस्तकों के स्थान पर गाँजा या चरस बाँटते तो अच्छा होता।

सॉटन : क्या कहा?

ग्रामीण : *(अपना सिर पकड़ कर)* मेरा सिर।

ग्रामीण : उस में क्या है?

सॉटन : इस में ज्ञान है। संपूर्ण आदि पुस्तक है, संपूर्ण नूतन पुस्तक है।

ग्रामीण : हम को उस पुस्तक से कुछ सुनाओ।

सॉटन : वे अपने आप को बुद्धिमान जता कर मूर्ख बन गए। और अविनाशी परमेश्वर की महिमा को नाशवान मनुष्य और पक्षियों और चौपायों और रेंगने वाले जंतुओं की मूरत की समानता में बदल डाला। इस कारण परमेश्वर ने उन्हें उन के मन की अभिलाषाओं के अनुसार अशुद्धता के लिए छोड़ दिया कि वे आपस में अपने

शरीर का अनादर करें। क्योंकि उन्होंने परमेश्वर की सच्चाई को बदल कर झूठ बना डाला और सृष्टि की उपासना और सेवा की, न कि उस सृजनकार की जो सदा धन्य है, आमेन।

ग्रामीण : अब इन बातों को ज़रा सरल भाषा में समझा दो।

सॉटन : आप लोग जो मूर्ति काष्ठ-पाषाण से बना कर मंदिर में रख कर पूजते हैं वे सब अर्थहीन हैं। वैसा करना पाप है।

ग्रामीण : आप के देवता नहीं हैं? उन की कोई मूर्ति नहीं है?

सॉटन : नहीं।

ग्रामीण : तब आप के मंदिर में क्या है?

सॉटन : हमारा मंदिर नहीं है।

ग्रामीण : तुम्हारे यहाँ ब्राह्मण पुरोहित नहीं हैं?

सॉटन : नहीं।

ग्रामीण : क्या है, ना मंदिर, ना पुरोहित, ना जात-गोत्र, ना देवी-देवता। तब तुम्हारा धर्म क्या है? तब तुम सब अधर्मी हो।

सॉटन : हमारा धर्म है सत्य। आप का धर्म है मिथ्या। आप के राम, कृष्ण, विष्णु, महादेव सब मिथ्या हैं।

ग्रामीण : अरे कितने पाप की बातें कर रहे हो। हरी बोल, हरी बोल। जय जगन्नाथ।

सॉटन : आप के जगन्नाथ भी एक काष्ठ-निर्मित वस्तु हैं। अठारह वर्ष पहले जब नव कलेवर हुआ था उस वक़्त जगन्नाथ के काष्ठ की नई मूर्ति के लिए कंपनी ने पाँच हज़ार रुपए दिए थे और एक वर्ष के पश्चात् आप के भगवान उन्नीस वर्ष के हो कर मर जाएँगे एवं दुबारा उन्हें बनाने के लिए काठ की आवश्यकता पड़ेगी। पुनः उस के लिए कंपनी पैसे देगी। इस तरह से आप के भगवान के निर्माण के लिए कंपनी का पैसा लगा। उन्हें बनाने के लिए बढ़ई, चित्रकारों को भी कंपनी ने पैसे दिए इसलिए आप के जगन्नाथ कंपनी के पैसों से बने सिर्फ़ एक काठ की मूर्ति हैं।

ग्रामीण : जगन्नाथ यदि कुछ नहीं हैं, तब इतने लोग देश के कोने-कोने से कष्ट उठा कर पुरी क्यों आते हैं? जगन्नाथ यदि कुछ नहीं हैं, तब लोग घर-घर में उन्हें क्यों पूजते हैं। जगन्नाथ यदि कुछ नहीं हैं, कंपनी उन की मूर्ति क्यों बनवाती है? रथ-यात्रा के समय रथ को सजाने के लिए कंपनी कपड़ा क्यों देती है? क्यों कंपनी चुंगी कर, यात्रा कर वसूल करती है?

सॉटन : हम कंपनी के आदमी नहीं हैं। हम भी कहते हैं कंपनी ग़लत काम कर रही है।

ग्रामीण : तब फिर आप जा कर कंपनी को समझाइए। आप की कंपनी तो जगन्नाथ का साथ नहीं छोड़ पा रही है। तब हम से कैसे कह रहें हो, छोड़ दो। हमारे जगन्नाथ हमारे लिए हैं। हम को उन पर पूरा भरोसा है।

सॉटन : आप के जगन्नाथ नीम की लकड़ी का एक लट्ठ मात्र हैं। जिस लकड़ी से आप चूल्हा जलाते हैं। जिस लकड़ी पर बैठा उल्लू बोलता है। उसी लकड़ी से आप के भगवान बने हैं। अगर आप उन्हें काट डालें या जला डालें, आप के भगवान में उतनी शक्ति भी नहीं कि अपनी रक्षा कर सकें।

ग्रामीण : हरी बोल, हरी बोल। ये पादरी हमारे भगवान के लिए बुरी-बुरी बातें बके जा रहा है। हम अब और नहीं रुक सकते यहाँ।

ग्रामीण : अच्छा, अच्छा अब हमें पुस्तक दे दो, हम जा रहे हैं।

(वे लोग सॉटन के हाथ से पुस्तक छीन कर चले जाते हैं। कुछ समय बाद कुछ और ग्रामीण आ पहुँचते हैं।

उस के थोड़ी देर बाद सुंदरदास आते हैं। सॉटन, सुंदरदास से हाथ मिलाता है।)

सॉटन : साधु सुंदरदास, आप का यहाँ स्वागत है। अभी मैं यहाँ के लोगों को पुरी के मंदिर के बारे में बता रहा था।

सुंदरदास : पुरी के मंदिर में अनेक व्यभिचार हैं।

सॉटन : साधु सुंदरदास, मेरा आप से अनुरोध है कि आप भी इन को पुरी-मंदिर के बारे में कुछ बताएँ।

सुंदरदास : मुझे इन से कुछ नहीं कहना है बल्कि आप से कुछ कहना है। मैं ने सारे किरिस्तानों को पत्र भेजा है। आप को भी पढ़ कर सुनाता हूँ। *(पढ़ते हैं।)* हे धन्यजन, आप दिव्य शक्ति से विभूषित हैं। अठारह सौ वर्षों से आप लोग इस संसार में बसे हुए हैं। किन्तु आप ने इस अंधकारमय संसार के लिए क्या किया? मैं एक दरिद्र अकिन्चन हिन्दू वैष्णव। मैं आप से ज़मीन-जायदाद नहीं माँग रहा हूँ। हाथी-घोड़े नहीं माँग रहा, धन-दौलत नहीं माँग रहा हूँ, न ही डोली-पालकी माँग रहा हूँ। मैं केवल यह पूछता हूँ क्या करने से हम लोगों को ईश्वर के नियम मानना सिखा सकेंगे।

हे पवित्रगण, मैं केवल इतना ही पूछ रहा हूँ : पुरी हिन्दुओं का स्वर्ग माना गया है। लेकिन वहाँ के लोगों का आचरण है परदाराहरण, चोरी, मिथ्या, निर्दोषों की हत्या, वेश्यागमन, महाप्रसाद के साथ आमिष भोजन, माता-पिता की अवज्ञा एवं गाली-गलौज, माता, भगिनी, कन्या को भ्रष्ट करना। यही हैं जगन्नाथ के धर्म। ऐसे कुकर्म करने की वजह से लोग भयंकर बीमारियों के शिकार हो रहे हैं। अंधे और अपंग होते जा रहे हैं। ऐसे ही लोग भगवान जगन्नाथ के सेवक बने हुए हैं।

हे पवित्रजन, अब इन लोगों के भगवानों के नाम सुनिए। इन के भगवान हैं : सोना, चाँदी, पीतल, लकड़ी, पत्थर, पेड़, आग, पानी।

जैसे भगवान हैं, वैसे ही उन के सेवक। इस तरह के भगवान की पूजा के लिए वे लोग अनेकों पैसे ख़र्च करते हैं। अपने शरीर एवं आत्मा को तीर्थ-यात्रा करके एवं अन्य प्रकार से कष्ट पहुँचाते हैं। ब्राह्मण अब वेद को नहीं मान रहे हैं। भक्तों में अब दया धर्म नहीं रहा। हे किरिस्तान शासक, आप लोग धनी, घमंडी बड़े लोगों को खिलाते रहते हैं, जब कि इधर ग़रीब, निःसहाय अभाव से मर रहे हैं।

हे उत्तम पिता, हे उत्तम संतान, हे उत्तमजन, ग़रीबों की भी सुनो।

चोरों का भी उपाय है, हत्यारों का उपाय है, मिथ्यावादी का उपाय है, सारे दुष्टों को अपराध के अनुसार दंड की व्यवस्था है। आप के आज्ञापालन हेतु एक विशाल सेना-वाहिनी है, लेकिन ईश्वर के नियम का पालन करने हेतु लोगों को क्यों नहीं बाध्य करते? आप तो साधुत्व के मूल हैं, आप ईश्वर की बातों को मानते हैं। प्रजा को भी उसी प्रकार पालन करना सिखाइए।

यहाँ के मराठे शासक लुटेरे थे, फिर भी दीन-दुखियारों की मदद करते थे। यूरोप के लोग सक्षम शासक हैं। पर उन के शासनकाल में धोखाधड़ी ख़ूब होती है। हे संतानजन, हे पिताजन, सारे संसार के लोगों का भाग्य आप के हाथ में है। हे उत्तमजन, प्रजा पथभ्रष्ट हो दुष्ट बन गई है। इसलिए उन्हें अन्न-वस्त्र नहीं मिल रहे हैं।

शासक लोग प्रजा के आदर्श हैं। हे उत्तमजन, अपने आचरण से उन्हें ईश्वर के आदर्शों के बारे में बताएँ। यदि ऐसा कर सकें तो मंगल होगा। यदि ऐसा करना आप के लिए असंभव है तो आप इन के लिए पत्थर के समान होंगे।

और क्या लिखूँ? आप की जो इच्छा हो करें, लेकिन धर्म सत्य है, धर्म सत्य है, धर्म सत्य है।

(इतना कहने के बाद सुंदरदास जाने लगते हैं और उन के पीछे-पीछे सॉटन। सुंदरदास पीछे मुड़ कर सॉटन

को अपने पीछे आने के लिए मना करते हैं और अचानक अदृश्य हो जाते हैं। कुछ देर में कुछ ग्रामीण वहाँ पहुँचते हैं, उन को देख कर सॉटन उत्साह से. . .)

सॉटन : भाइयो एवं बहनो! लीजिए, लीजिए बिना मोल के लीजिए। लोकलिखित, मैथ्यूलिखित, मार्कलिखित. जॉनलिखित मंगल समाचार। लीजिए निस्तार रत्नाकर, बिना मोल के लीजिए ईश्वर के समस्त वाक्य बाइबिल। दस आज्ञा प्रश्नोत्तरी।

(कोई भी पुस्तक लेने नहीं उठता। सॉटन उन को पुस्तक देने की कोशिश करते हैं।)

ग्रामीण : हमें पुस्तक की आवश्यकता नहीं है। हम पुस्तक नहीं लेंगे।

सॉटन : बिना मोल के. . .

ग्रामीण : अगर तुम पुस्तक के साथ पैसे भी दोगे तब भी हम पुस्तक नहीं लेंगे।

ग्रामीण : काग़ज़ पर छपी पुस्तक दे कर तुम हमारी जात लेना चाहते हो।

ग्रामीण : तुम्हारी पुस्तक में टोटका किया हुआ है। हम टोटके वाली पुस्तक नहीं छुएँगे। हमारे पास तो ताड़ के पत्तों की पोथियाँ हैं। हम को तुम्हारे शास्त्र की आवश्यकता नहीं है।

ग्रामीण : *(आपस में कहते हैं)* चलो भाग चलें, नहीं तो हम लोगों को पता भी नहीं चलेगा और हम पादरियों के पीछे-पीछे चलते जाएँगे।

(सॉटन उन को पुस्तक देने उन के पीछे भागते हैं। ग्रामीण पुस्तक लिए बिना भाग जाते हैं। सॉटन भौंचक्के रह जाते हैं।)

चौथा दृश्य

(रास्ते में बांपटन और कुछ ग्रामीण। बांपटन प्रचार करते हुए।)

बांपटन : भाइयो, मैं यहाँ आया हूँ आप लोगों को मुक्ति का मार्ग दिखाने। नरक से उद्धार पाना ही मुक्ति है। नरक में हमेशा आग और गंधक होती है। पवित्र शास्त्र में लिखा है कि समस्त पापी नरक में जाएँगे। मनुष्य मात्र ही पापी है। तथापि उस से उद्धार पाने के उपाय हैं : सुनिए! केवल एक ही ईश्वर है। उन को समस्त मनुष्य जाति से प्रेम है। वे हिन्दुओं को भी समान रूप से प्रेम करते हैं। उन का एकमात्र पुत्र है जिस का नाम है ईसा मसीह। ईसा मसीह पहले ईश्वर के पास ही थे लेकिन ईश्वर को पृथ्वी से इतना अधिक प्यार था जिस से उन्होंने अपने इकलौते पुत्र को पृथ्वी पर भेज दिया। जो उन पर विश्वास करेगा उस का विनाश नहीं होगा, बल्कि उसे चिरजीवन प्राप्त होगा। ईसा मसीह ने हमारे पापों से मुक्ति दिलाने के लिए अपने को समर्पित कर दिया। उन्होंने हमारे लिए अपने प्राण त्याग दिए। यदि हम उन पर आस्था रखें तब उन का रक्त हम को हमारे सारे पापों से मुक्त करा देगा। यही है मुक्ति का मार्ग। इस के अलावा कोई दूसरा मार्ग नहीं है। न ही कोई त्राणकर्ता। उन के बारे में जानो एवं स्वर्ग में जाओ।

(प्रचार के बाद बांपटन पुस्तक वितरण करते हैं। गाँव वाले हरी बोल, हरी बोल कहते हुए शोर मचाते हुए चले जाते हैं। सब के चले जाने के बाद इरन नाम का व्यक्ति रुका रहता है जो बांपटन के पीछे-पीछे जाने लगता है।)

बांपटन : तुम मेरे पीछे-पीछे क्यों आ रहे हो?

इरन : पादरी गारू, मैं किरिस्तानी बनूँगा।

बांपटन : तुम मुझ से परिहास तो नहीं कर रहे हो?

इरन : *(कान पकड़ते हुए)* जी नहीं।

बांपटन : तुम्हारा नाम क्या है?

इरन : मेरा नाम इरन सेनापति है।

बांपटन : यदि आप ईसाई बनना चाहते हैं तो सब से पहले अपने माथे पर लगे चंदन-तिलक को पोंछना होगा।

(इरन पोंछने लगता है। बांपटन भी पोंछने में उस की मदद करते हैं।)

बांपटन : अब आप अपने तावीज़ को तोड़ डालिए।

इरन : *(गले से तावीज़ निकाल कर हाथ में रख लेता है)* साहब ये तावीज़ चाँदी का है।

बांपटन : इसे तोड़े बिना हम आप को ईसाई नहीं बना सकते।

(इरन बहुत मुश्किल से उसे तोड़ता है और तोड़ कर बांपटन को देता है।)

इरन : लीजिए, तोड़ डाला। अब इसे आप ही सँभालिए।

बांपटन : अब तुम्हारी जात गई।

इरन : गई तो गई। हाँ, यदि आप से कोई ये पूछे कि मैं ने आप के घर में भोजन किया या नहीं, तब मेरे भोजन करने पर भी आप बताइएगा नहीं।

बांपटन : हम लोग झूठ नहीं बोलते। यहाँ पानी कहाँ होगा?

इरन : इधर-उधर एक रामलिंगम पोखरा होने का।

बांपटन : वहीं चलिए।

(दोनों पोखरे के पास पहुँचते हैं।)

बांपटन : आप हिन्दू देवता की पूजा करते हैं?

इरन : लेदू (नहीं)।

बांपटन : क्या बोला?

इरन : नहीं, साहेब।

बांपटन : हिन्दू शास्त्र के बारे में आप का विचार क्या है?

इरन : उस में सब कुछ झूठ होने का।

बांपटन : आप पापी हैं?

इरन : हो सकते हैं।

बांपटन : पापियों की रक्षा कौन करता है?

इरन : पापियों की रक्षा भला कौन करने को सकता है।

बांपटन : पापियों की रक्षा ईसा मसीह करते हैं। पापियों की रक्षा के लिए उन्होंने क्या किया था?

इरन : ओफो! आप ने ही तो बताया कि पापियों की रक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राण दे देने का।

बांपटन : किन की रक्षा होगी?

इरन : जो यीशु पर विश्वास करेगा।

बांपटन : आप ईसा मसीह पर आस्था रखते हैं?

इरन : जी साहेब।

बांपटन : आप ईसा मसीह की आज्ञा का पालन करेंगे?

इरन : जी साहेब।

बांपटन : ईसा मसीह का कहना है कि रविवार को कोई भी सांसारिक कार्य मत करना। इस दिन को धर्म-कार्य में लगाना। आप इस बात का पालन करेंगे।

इरन : जी साहेब।

बांपटन : आप बैपटिज़्म चाहते हैं?

इरन : वो, क्या है जी?

बांपटन : डुबकी। हम आप को पानी में डुबकी लगवा कर ईसाई बनाएँगे।

इरन : लेकिन मैं तैरना नहीं जानता जी, मर जाऊँगा साहेब, मेरे मरने से मेरी दोनों पत्नियाँ मर जाएँगी जी।

बांपटन : चलो, पानी के अंदर चलो।

(पानी के अंदर बांपटन इरन को डुबकी लगवाते हैं।)

बांपटन : पिता, पुत्र, धर्मात्मा के नाम पर हम आप को डुबकी लगवाते हैं।

इरन : अच्छा जी।

बांपटन : आप हमारे पहले ओड़िया ईसाई हैं।

इरन : हम ओड़िया नहीं जी, हम तेलुगु जी।

बांपटन : तेलुगु? तब तो हमें कोई ओड़िया खोजना होगा, ओड़िया बैपटिस्ट मिशन का पहला ओड़िया ईसाई है—

(कुछ सोच कर अपने आप से) साधु सुंदरदास।

इरन : अब मैं क्या करूँगा जी?

बांपटन : क्या तुम्हें तुम्हारे घर वाले वापस रख लेंगे?

इरन : कभी नहीं जी, मेरी तो जान डूबा जी, हमें अब कौन घर में रखेगा जी।

बांपटन : तुम्हारी जात थी क्या?

इरन : मैं जुलाहों की जात का था। अब ईश्वर की जात मेरी जात बन गई।

बांपटन : अब तो आप ईसाई बन चुके, अब क्या कहना चाहते हैं?

इरन : पुरी के राजा, आप और मैं तीनों मिल कर जगन्नाथ मंदिर जाएँगे। वहाँ पर अगर जगन्नाथ ने अपनी महिमा नहीं दिखाई तब उन्हें हम लात मारेंगे। तब सब को पता चल जाएगा जगन्नाथ कुछ नहीं है।

बांपटन : आप को और क्या-क्या करने की इच्छा है?

इरन : पृथ्वी में जहाँ कहीं भी मूर्ति हो उन्हें हम तोड़ डालेंगे।

बांपटन : अच्छा वो सब बाद में करिएगा, अब आप मेरे साथ आइए, चाय पीते हैं।

(दोनों चाय पीने जा ही रहे थे कि एक पागल व्यक्ति का प्रवेश होता है। बांपटन व इरन दोनों ठहर जाते हैं।)

पागल : कहाँ है? कहाँ है, पादरी कहाँ है? ईसा मसीह किधर हैं? घोड़ा किधर है? हे प्रभु परमेश्वर, हे स्वर्ग रचयिता, मैं परम पापी हूँ। पाप कर्म में मुझ से बड़ा पापी कोई नहीं है। मेरे अधर्म की सीमा नहीं है। मैं नरक के योग्य हूँ।

(पागल को खोजते हुए गाँव वालों का प्रवेश।)

ग्रामीण : तुम यहाँ भी पहुँच गए?

पागल : हे ईश्वर, आप ही निराशों के त्राणकर्ता हैं। आप ने अपने पुत्र ईसा मसीह को भेजा दरिद्र एवं असहाय का उद्धार करने के लिए, उसी त्राणकर्ता की मैं प्रार्थना करता रहता हूँ। आप मेरे पापों का नाश करेंगे।

(वह जा कर बांपटन से लिपट जाता है।)

बांपटन : मुझ को छोड़िए।

पागल : नहीं, मैं आप को नहीं छोड़ूँगा। एकदम नहीं छोड़ूँगा। ऐसे ही पकड़े रखूँगा। मैं अपने नए प्रभु की पूजा करूँगा। मैं ईसा मसीह का भक्त बनूँगा।

ग्रामीण : क्या कह रहे हो साले? ईसा मसीह बनोगे? गौ-मांस खाओगे? शराब पीओगे? मेम के साथ सोओगे? इसीलिए हिन्दू-धर्म कड़वा लग रहा है?

पागल : हे जगन्नाथ, राधा-कृष्ण, राम, गोविन्द, केशव, मुरारी, महादेव, चंडी-चामुंडी, भैरव, गणेश, हे काली, बगला, छिन्नमस्ता, भुवनेश्वरी, मातांगिनी, शोड़षी, धूमावती, त्रिपुर सुंदरी; तारा; भैरवी; हे तैंतिस कोटी देवता, हे विष्णु के दस अवतार; हे गुरु ब्रह्मा; हे काष्ठ-पाषाण; हे मंत्र-यंत्र, वेद-वेदांत; भागवत-दंडवत; रामायण परायण; नारायण; हे काशी, वृंदावन, द्वारिका, गंगास्नान, ब्रह्मज्ञान; हे जटाजूट चंदन तिलक कर्मकर्माणी, पूजापर्वाणी, निर्माल्य, महाप्रसाद सब कुछ मिथ्या है।

ग्रामीण : *(गाँव वाले उसे पीटते हुए)* क्या कहा साले? सब मिथ्या है? फिर तेरा सत्य क्या है?

पागल : ईश्वर सत्य, ईसा मसीह सत्य, पादरी सत्य, घोड़ा सत्य है।

(गाँव वाले उस की पिटाई करते हैं। बांपटन, इरन उसे बचाने की कोशिश करते हैं।)

ग्रामीण : यदि तुम ईसाई बन जाओगे तब तुम्हारे बीवी-बच्चे कहाँ जाएँगे? साले, तुम भाग जाओगे, इस वजह से हम ने तुम्हें इतना धतूरा पिलाया था। तब भी तुम्हें कुछ नहीं हुआ। हम ने तुम्हें जाजपुर ले जा कर देवी के दर्शन कराए, ब्राह्मण के पास ले जा कर पूजा करवाई। चंडी-पाठ कराया उस से भी कोई असर नहीं पड़ा तुम्हारे ऊपर? अब केवल पिटाई से ही ठीक होगे तुम।

पागल : यीशु के प्रेम की तुलना नहीं, ढूँढने पर भी मिलेगा न कहीं।

ग्रामीण : चुप, साले। भागवत गाओ।

पागल : नहीं, मैं भागवत नहीं गाऊँगा। *(गाँव वालों की पिटाई से)* अच्छा, अच्छा गाता हूँ।

नमो हे नृसिंह चरण,
अनादि परम कारण।
आदि मध्य अंत प्रभो हे,
जगत के विचार से परे।
इंद्रिय के अर्थ जान जाए जो,
सत्य का प्रकाश नित्य पाए सो।

(पागल जा कर बांपटन से लिपट जाता है और आगे गाता है।)

और कौन बड़ा भाग्यवान,
उस से जो होवे क्रिस्तान।
उस का नहीं कोई सिंहासन,
फिर भी हमारा वह राजन।
ईश्वर पिता और पालक वो,
यीशु सो भ्राता सो तारक सो।

(गाँव वाले उसे बांपटन के पास से खींच कर लाते हैं। एक ओर से बांपटन और इरन पागल को खींचते हैं और दूसरी ओर गाँव वाले। जब गाँव वाले अपनी ओर खींचते हैं तब पागल गाने लगता है।)

पागल : सुन राजा परीक्षित, कृष्ण चरित भागवत।

(जब बांपटन और इरन अपनी ओर खींचने लगते हैं।) सुन परीक्ष बाहुबल, प्रीस्ट चरित बाइबिल।

(गाँव वालों और बांपटन, इरन की खींचातानी से पागल गिर पड़ता है। गाँव वाले पगले को उठा कर घसीटते हुए ले जाते हैं। बांपटन अपने आप से कहते हैं—'साधु सुंदरदास' जैसे कि वे ही उन की सभी समस्याओं का समाधान हों।)

पाँचवाँ दृश्य

(रास्ते पर लेसी, सॉटन खड़े आपस में वार्तालाप कर रहे हैं।)

लेसी : हमारे मिशन को ओड़ीसा में छह साल हो गए लेकिन अभी तक तेलांगा ईरन सेनापति के अलावा हम किसी भी ओड़िया व्यक्ति को ईसाई नहीं बना पाए।

सॉटन : हमें कितनी आशा थी कि सुंदरदास हमारे पहले ओड़िया ईसाई बनेंगे लेकिन वे हमारी पकड़ में न आ सके।

(लेसी, सॉटन को इशारे से चुप रहने को कहते हैं। दूर सुंदरदास जाते हुए दिखाई देते हैं। दोनों उन के पीछे जाने लगते हैं। सुंदरदास पीछे मुड़ कर उन्हें देखते हैं और अपने पीछे आने से मना करते हैं। लेकिन उन की बात अनसुनी करते हुए वे दोनों उन के पीछे-पीछे जाने लगते हैं। सुंदरदास अदृश्य हो जाते हैं और उन के स्थान पर गंगाधर सारंगी खड़ा मिलता है। दोनों गंगाधर को पकड़ते हैं।)

लेसी : *(गंगाधर से)* आप ने तय कर लिया?

गंगाधर : मैं ने पहले से ही तय कर लिया है लेकिन हमारे बिरादरी वाले मना कर रहे हैं।

सॉटन : आप तब अपनी बिरादरी को छोड़ दीजिए।

गंगाधर : मैं तो छोड़ दूँ, लेकिन वे मुझे नहीं छोड़ रहे हैं।

(गाँव वालों का एक झुंड वहाँ पहुँचता है।)

ग्रामीण : अरे गंगा भैया, यहाँ छिपा बैठा है। पादरियों ने इन्हें यहाँ छिपाया हुआ है।

लेसी : *(गंगाधर से)* आप अपने बिरादरी-भाइयों को अपने निर्णय के बारे में बता दें।

गंगाधर : हाँ, अब मैं और देर नहीं करूँगा।

ग्रामीण : रहने दो भैया, अब बहुत हो चुका। अब घर वापस चलो। और कितने दिनों तक पादरियों की जूठन खाते रहोगे?

गंगाधर : भाइयो, कृपा करके ज़रा मेरी बातों पर ध्यान दें। आप मुझे बचपन से जानते हैं। जिस दिन से मैं ने होश सँभाला, मेरी एक इच्छा थी कि मुझे किसी तरह अच्छा ज्ञान मिल सके। इस के लिए मैं ने शास्त्रों का अध्ययन किया, पूजा पाठ उपवास किया। ब्राह्मण एवं गुरुओं से पूछा। सब ने बताया, पूजा, प्रायश्चित करने से पुण्य मिलेगा। लेकिन पाप का विनाश किस प्रकार होगा, नरक से मुक्ति कैसे मिलेगी? ये कोई नहीं बता सका।

सब ने मुझ से कहा, जगन्नाथ मंदिर चले जाओ। वहाँ जा कर भी मैं ने बहुत प्रार्थना की लेकिन कोई फ़ायदा नहीं हुआ। अंत में एक दिन रत्नभेदी परिक्रमा करते समय मैं ने एक नुकीली छड़ जगन्नाथ को भोंक दी। उस पर भी कोई वरदान नहीं मिला। उस के बाद मैं कुजीवर आश्रम गया। अब तक मैं आँख होते हुए भी अंधे की भाँति था। ऐसे में मेरी आँखें खोलीं, सुंदरबाबा ने। उन्होंने मुझे पहली बात ये बताई कि इतने सारे देवी-देवता सब मिथ्या हैं। उन्होंने ही समझाया, जाति-प्रथा मिथ्या है। फिर मैं ने सुंदरबाबा के साथ बैठ कर पादरियों की पुस्तक पढ़ी। उस को पढ़ कर बहुत ज्ञान मिला। लेकिन आलोक मिला बाइबिल से। मैं ने बाइबिल पढ़ कर जाना, किस तरह ईसा मसीह ने पापियों के लिए मृत्यु को अपनाया। यह भी जाना कि ईसा मसीह ने हमारे लिए ही प्राण त्यागे।

मैं ने प्रार्थना की—'हे प्रभु, मुझे शक्ति दो जिस से मैं मरते दम तक अपने विश्वास पर अटल रह सकूँ।' इसलिए मैं ने तय किया कि मैं डुबकी ले कर ईसाई बन जाऊँगा।

ग्रामीण : ठीक है, ठीक है। गाँव चलो। गाँव में पहुँच कर इस के बारे में फ़ैसला करेंगे।

गंगाधर : भाइयो, आप गाँव लौट जाइए। मैं पहले डुबकी लूँगा। फिर गाँव वापस आऊँगा।

ग्रामीण : नहीं, नहीं। तुम्हें बिना लिए हम लोग वापस नहीं जाएँगे।

लेसी : अभी मैं गंगाधर को ले कर महानदी जाऊँगा। वहाँ ये डुबकी लेंगे। आप लोग गाँव लौट जाइए।

(गंगाधर को ले कर लेसी महानदी की ओर जाने लगते हैं। गाँव वाले भी उन के संग जाने लगते हैं। महानदी के पानी में गंगाधर, लेसी खड़े होते हैं। गाँव वाले उन्हें घेर कर खड़े हो जाते हैं।)

लेसी : आप ईश्वर में आस्था रखते हैं?

गंगाधर : जी?

लेसी : हिन्दू ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर एवं अन्य देवी-देवताओं के बारे में क्या कहते हैं ?

गंगाधर : वे सब मिथ्या हैं।

लेसी : आप उन का परित्याग करते हैं?

गंगाधर : जी हाँ।

लेसी : आप ने जो माला पहनी है?

(गंगाधर गले से तुलसी-माला उतार कर, तोड़ कर लेसी के हाथों में दे देता है।)

लेसी : क्या आप पापी एवं दोषी हैं?

गंगाधर : जी हाँ।

लेसी : उस से निस्तार के लिए ईसा मसीह पर आस्था रखते हैं?

गंगाधर : जी हाँ।

लेसी : मरते दम तक उन की आज्ञा का पालन करेंगे?

गंगाधर : जी हाँ, मरते दम तक उन की आज्ञा का पालन करूँगा।

(लेसी गंगाधर को डुबकी दिलाते हैं।)

लेसी : पिता, पुत्र, धर्मात्मा के नाम पर हम आप को डुबकी लगवा रहे हैं।

गंगाधर : जी।

(गाँव वाले हरी बोल की ध्वनि करते हैं और आपस में गंगाधर के ईसाई बनने की बातें करते हुए और उन को धमकी देते हुए चले जाते हैं।)

ग्रामीण : ठीक है, हम लोग जा रहे हैं। अब तुम्हारा गाँव में हुक्का-पानी बंद। याद रखना, यदि तुम ने गाँव में कभी पैर रखने की कोशिश की तो तुम्हें काट कर फेंक देंगे।

(सॉटन, लेसी, गंगाधर खड़े हैं, दूर सुंदरदास दिखाई देते हैं। तीनों सुंदरदास के पीछे जाते हैं। सुंदरदास मुड़ कर देखते हैं और अपने पीछे आने के लिए मना करते हैं। अनसुना करते हुए वे तीनों उन के पीछे जाने लगते हैं। अचानक सुंदरदास अदृश्य हो जाते हैं और वहाँ रामचंद्र याचक नज़र आते हैं। वे तीनों उन को पकड़ते हैं। रामचंद्र के पीछे उन की पत्नी लक्ष्मी, उन की माँ, बच्चे एवं गाँव वाले उन को घेर लेते हैं।)

रामचंद्र की माँ : *(रामचंद्र से)* क्या मैं ने तुम्हें इसी दिन के लिए नौ महीने पेट में पाला था? तुम पैदा होते ही मर क्यों नहीं गए?

लक्ष्मी : किस डायन ने तुम पर टोटका कर दिया?

पुत्र : बापू, अगर तुम ईसाई बन जाओगे तो मैं या तो गले में रस्सी बाँध कर मर जाऊँगा या फिर नदी में कूद कर जान दे दूँगा।

रामचंद्र : नहीं, अब तो मैं ने तय कर लिया। अब मैं वापस नहीं जा सकता।

ग्रामीण : रामचंद्र, तुम्हारे पिता यहाँ के बारबाटी क़िले के राजा थे। उन्हीं के पुत्र होते हुए तुम पादरियों के गुलाम बन कर रहना चाहते हो? इस से तो अच्छा होता तुम मर जाते। तुम ने तो सारे हिन्दुओं का मुँह काला कर दिया।

ग्रामीण : इस से तो अच्छा होता कहीं जा कर भीख माँगते, चांडाल का काम करते। अब तो तुम्हारी जात गई। अब कभी हमारे पास नहीं आना। अब हम तुम्हारा मुँह भी देखना नहीं चाहते। चलो हम लोग चलें। इस अभागे को कुत्तों की तरह फ़िरंगियों की जूठन खाने दो।

(वे रामचंद्र को खींचते हैं लेकिन रामचंद्र के न जाने पर वे चीखते-चिल्लाते वापस चले जाते हैं। सॉटन, लेसी, गंगाधर तीनों मिल कर रामचंद्र को डुबकी लगवाते हैं।)

लेसी : आप ईसाई-धर्म अपनाना चाहते हैं?

रामचंद्र : जी हाँ।

सॉटन : लेकिन क्यों?

रामचंद्र : क्योंकि मैं ईसा मसीह पर आस्था रखता हूँ।

लेसी : वह कैसे?

रामचंद्र : अपने हृदय से एवं अंतर आत्मा से।

सॉटन : जिन को ईश्वर पर आस्था होती है वे क्या पाप में रहते हैं?

रामचंद्र : जी नहीं।

लेसी : क्या आप मिथ्या एवं ग़लत बातें करके, गाली-गलौज करके पाप नहीं करते?

रामचंद्र : जी मैं पहले करता था लेकिन अब नहीं।

सॉटन : आप मूर्ति पूजा करते थे?

रामचंद्र : जी हाँ।

लेसी : अब भी करते हैं?

रामचंद्र : जी नहीं, मैं ने तो मूर्तियों को उठा कर फेंक दिया है। कुछ को कूड़े में फेंक दिया और कुछ को तोड़फोड़ दिया और कुछ मूर्तियों को जला दिया।

सॉटन : आप ने ईसाई बनने के लिए किसी से सलाह ली थी?

रामचंद्र : मेरे घर वालों ने और गाँव वालों ने तो मना कर दिया था। मैं ने गंगाधर सारंगी से सलाह ली। उन्होंने ही मुझे ईसाई बनने के लिए उकसाया। वैसे मैं ने सुंदरबाबा जी से भी पूछा था लेकिन उन्होंने भी ईसाई बनने के लिए मना किया था।

लेसी : फिर भी आप ईसाई बनना चाहेंगे?

रामचंद्र : जी हाँ *(लेसी रामचंद्र को डुबकी दिलाते हैं।)*

लेसी : पिता, पुत्र, धर्मात्मा के नाम पर हम आप को डुबकी देते हैं।

रामचंद्र : जी अच्छा।

(लेसी, सॉटन, गंगाधर, रामचंद्र खड़े हैं। दूरी पर सुंदरदास दिखाई देते हैं। वे चारों उन के पीछे जाने लगते हैं। सुंदरदास मुड़ कर देखते हैं और उन को अपने साथ आने से मना करते हैं। फिर भी वे चारों उन के पीछे-पीछे जाने लगते हैं। अचानक सुंदरदास अदृश्य हो जाते हैं और उस स्थान पर कृपासिन्धु साहू खड़े मिलते हैं। उन को वे तीनों पानी में ले जाते हैं।)

सॉटन : आप हिन्दू देवी-देवताओं में आस्था रखते हैं?

कृपासिन्धु : जी नहीं।

लेसी : हिन्दू-शास्त्रों के बारे में आप के क्या विचार हैं?

कृपासिन्धु : वो सब मिथ्या है।

सॉटन : क्या आप ने कभी पाप किया है?

कृपासिन्धु : हाँ, मैं पापी हूँ।

लेसी : पापियो का उद्धार कौन करता है?

कृपासिन्धु : ईसा मसीह।

सॉटन : पापियों के उद्धार के लिए ईसा मसीह ने क्या किया था?

कृपासिन्धु : उन्होंने अपने प्राण त्यागे थे।

लेसी : किस को उद्धार मिलेगा?

कृपासिन्धु : जो ईसा मसीह पर आस्था रखेगा।

सॉटन : क्या आप ईसा मसीह पर आस्था रखते हैं?

कृपासिन्धु : जी हाँ।

(सॉटन कृपासिन्धु को डुबकी दिलाते हैं।)

सॉटन : पिता, पुत्र, धर्मात्मा के नाम पर हम आप को डुबकी दिलाते हैं।

कृपासिन्धु : ठीक है।

(लेसी, सॉटन, गंगाधर, रामचंद्र, कृपासिन्धु दूरी पर सुंदरदास को जाते देख कर उन के पीछे जाने लगते हैं। सुंदरदास मुड़ कर उन को अपने साथ आने से मना करते हैं फिर भी वे लोग उन के पीछे-पीछे जाने लगते हैं। अचानक सुंदरदास अदृश्य हो जाते हैं। उन के स्थान पर कमली, कमली की अम्मा डाआनी खड़े दीखते हैं। कमली की गोद में दस महीने का बच्चा भी है। सब को नदी की ओर ले जाते समय सुंदरदास की गंभीर आवाज़ सुनाई पड़ती है, 'नहीं' वे लोग अनसुना करते हुए उन्हें नदी तक ले जाते हैं।)

कमली : हम लोग ईसाई बनना चाहते हैं।

डाआनी : हाँ, बाबू। मुझे और मेरी बेटी को ईसाई बना दो।

गंगाधर : आप दोनों तो सुंदराबाबा के पास गई थीं। उन्होंने क्या कहा?

कमली : उन्होंने हमें ईसाई बनने से मना किया और घर में रहने को कहा। लेकिन हम लोग घर छोड़ कर भाग आए हैं।

डाआनी : हम लोग जब यहाँ आए थे उस समय घर में हमारे आदमी नहीं थे।

कगली : मैं तो अपनी दूसरी लड़की को पड़ोसी के घर छोड़ कर, इस लड़की को ले कर भागी।

डाआनी : हम लोगों को जल्दी से ईसाई बना लो। हमारे घर वाले पहुँच गए तो मना करेंगे और हमें बहुत डाँटेंगे।

लेसी : आप लोगों का इरादा पक्का तो है?

कमली : हाँ, हमारा इरादा एकदम पक्का है। हम ईसाई बन के ही रहेंगे।

डाआनी : हम पापी हैं। हमारे देवता तो हमारी रक्षा कर नहीं सके। ईसा ही हमारी रक्षा करेंगे।

(शोर करते हुए गाँव वाले पहुँचते हैं। उन के साथ कमली और डाआनी के पति हैं।)

कमली का पति : तुम औरत जात अकेले यहाँ क्यों आई हो? चलो, घर चलो।

कमली : हम यहाँ ईसाई बनने आई हैं।

डाआनी का पति : क्या तुम को लाज-शर्म नहीं है? तुम दोनों औरत जात अकेले अपना गाँव छोड़ कर शहर भाग आई हो? चलो, घर चलो। वहाँ पहुँच कर पहले हम तुम्हारी शुद्धि करेंगे।

कमली का पति : हम तुम को ईसाई नहीं बनने देंगे।

ग्रामीण : लगता है इन पादरियों ने तुम्हारा दिमाग़ ख़राब कर दिया है। हम पुरुषों को तो ईसाई बना ही रहे थे। अब हमारी औरतों के पीछे भी पड़ गए हैं। कहाँ सुना था औरतें भी घर-द्वार छोड़ कर ईसाई बनने के लिए भाग आएँगी।

लेसी : हम उन को ज़बरदस्ती ईसाई नहीं बनाएँगे। आप लोग स्वयं उन से बात कर लीजिए। यदि ये लोग आप की बात मान कर आप के साथ वापस जाना चाहती हैं तो उन्हें अपने संग ले जाइए।

(वे लोग कमली, डाआनी को बहुत समझाते हैं। बच्चे को भी छीनते हैं लेकिन कमली, डाआनी अपने निर्णय पर अटल हैं।)

डाआनी का पति : *(गाँव वालों से)* चलो भाई चलें, अब ये पाप अपनी आँखों के सामने नहीं देखा जाता।

कमली का पति : ये औरतें तो अब मलेच्छों के घरों में रहना चाहती हैं। इन की अब कोई मान-मर्यादा नहीं रही। कोई इज़्ज़त नहीं रही। अब हमारा इन से कोई संबंध नहीं है।

डाआनी का पति : हमारे लिए अब ये दोनों मर चुकी हैं। चलो घर चल कर इन का क्रिया-करम कर देंगे। चलो भाई चलें। अब यहाँ इतना अनाचार नहीं देखा जाता।

(गाँव वालों को साथ ले कर वे लोग चले जाते हैं। लेसी एवं सॉटन कमली और डाआनी को पानी में ले जाते हैं।)

लेसी : *(कमली से)* आप डुबकी लेना चाहती हैं?

कमली : जी हाँ।

(सुंदरदास की आवाज़ आती है, 'नहीं।' सॉटन और लेसी कमली और डाआनी को डुबकी लगवाते हैं।)

लेसी : पिता, पुत्र, धर्मात्मा के नाम पर हम आप को डुबकी लगवाते हैं।

सॉटन : पिता, पुत्र, धर्मात्मा के नाम पर आप को डुबकी लगवाते हैं।

डाआनी : जी अच्छा ।

कमली : जी अच्छा ।

(दूर से सुंदरदास की आवाज़ आती है, 'नहीं, नहीं, नहीं' ।)

तीसरा अंक

पहला दृश्य

(कटक में स्थित चार्ल्स लेसी के बँगले की बैठक, सुबह का समय । इस बीच तीन वर्ष से अधिक समय बीत चुका है । लेसी की पत्नी ऐन बैठक को सजा रही है । उन की मदद कर रही है मरुआ ।)

ऐन : मेरी चाय का सामान ठीक से रख दिया?

मरुआ : जी हाँ सिस्टर ।

ऐन : आज बहुत से मेहमान आने वाले हैं ।

मरुआ : ब्रदर लेसी अभी तक वापस नहीं लौटे ।

ऐन : वे चैपल गए थे । अब लौटते ही होंगे ।

मरुआ : आज और कौन-कौन आएगा सिस्टर ।

ऐन : बालासोर से ब्रदर सॉटन आए हुए हैं । ब्रदर बांपटन दो दिनों से पुरी से आ कर यहीं ठहरे हैं । *क्रिश्चियन मिशनरी हेराल्ड* पेपर के ब्रदर पियर्स आज कलकत्ते से यहाँ पहुँचेंगे । कप प्लेट सब ठीक से लगा तो दिया है?

मरुआ : *(टेबल सजाते हुए)* सब कुछ ठीक है सिस्टर ।

ऐन : मैं चाय का इंतज़ाम देख लेती हूँ । तुम मेज़ ठीक करके रखो ।

(ऐन अंदर चली जाती है ।)

मरुआ : काँटा छुरी कहाँ गया? आदमी के दो-दो हाथ हैं लेकिन खाना खाने के लिए इन को काँटा छुरी चाहिए । डेविड. . . *(कोई जवाब न आने पर चिल्ला कर)* डेविड. . .

(बलभद्र आता है लेकिन कुछ बोलता नहीं है । इस समय वह पैंट कमीज़ पहने हुए है ।)

मरुआ : तुम्हें सुनाई नहीं देता क्या? मैं ने तुम्हें पचासों त्रार डेविड-डेविड करके बुलाया ।

बलभद्र : अगर ऐसे ही हमारे नाम बदलते रहेंगे तो मुझे कैसे याद रहेगा, आख़िर मैं हूँ कौन? गाँव वाले मुझे बल्लू कह कर पुकारा करते थे । कधों ने बना दिया मेरिया । बाबा ने बलभद्र नाम दिया । अब यहाँ बन गया डेविड ।

मरुआ : उस से क्या होता है । मुझे भी तो गाँव वाले मरुआ मरुआ कह कर पुकारा करते थे । यहाँ पर मैं बन गई मेरी । कोई मारुआ कह कर पुकारे तो जी अच्छा कहती और जब कोई मेरी करके पुकारे तो मैं कहती हूँ यस सर और यदि कोई बहुत प्यार से डॉरलिंग कहे तब मैं कहती हूँ, यस डियर ।

बलभद्र : पता है मरुआ, मैं यहाँ से भी भाग जाऊँगा ।

मरुआ : अच्छा, अच्छा तुम पहले काँटा-छुरी ला कर मेज़ पर रख दो, फिर तुम्हें जहाँ जाना है चले जाना । वैसे तुम्हारा मन तो कहीं पर भी नहीं लगता ।

बलभद्र : *(काँटा-छुरी निकालता है)* यहीं तो रखा था । तुम्हें दिखता नहीं है क्या? इन फ़िरंगी मलेच्छों के संग

रह कर तुम्हारी जात-धर्म तो गया ही, लगता है अब तुम अंधी भी हो गई हो। बस अब तुम ईसाई बन जाओ। वो साला किरिस्तानी ख़ानसामा अब्राहम तो तुम्हारे पीछे पड़ा ही हुआ है।

मरुआ : अरे अब्राहम क्या अब ख़ानसामा है? उस ने तो अब बंगाली होते हुए भी बहुत अच्छी ओड़िया सीख ली है। पादरी लोग तो उसे अब धर्म-प्रचार का काम देने वाले हैं। सात रुपए मंहीना उसे मिलने लगेगा, समझे? तुम तो इतने दिनों से यहाँ रह रहे हो लेकिन तुम्हारी कोई तरक्की नहीं हो सकी। जैसे पहले बुद्धू थे वैसे ही अब भी हो।

बलभद्र : मैं पढ़ना-लिखना नहीं जानता तो क्या हुआ, सबक तो जानता हूँ। सृष्टि रचना कैसे हुई, सुनाऊँ? सुनोगी? सब से पहले ईश्वर ने स्वर्ग और पृथ्वी की रचना की। पृथ्वी पहले शून्य और अस्थिराकार थी। ईश्वर की आत्मा पानी के ऊपर बहने लगी। अंत में ईश्वर ने कहा, प्रकाश हो जाए, प्रकाश हो गया। कुछ समझ में आ रहा है मरुआ, मेरी?

मरुआ : यस सर। बल्लू मेरिया, बलभद्र, डेविड। सृष्टि की रचना कैसे हुई, मैं यह जान कर क्या करूँगी। ये राक्षस लोग क्या कहते हैं और क्या करते हैं उन्हें पता होगा। हमें उस से क्या मतलब? और इन के धरम-करम से हमें क्या मतलब है। सुंदरबाबा और पादरी लेसी को ही ये सब समझने दो। हमें तो सिर्फ़ काम करना है। महीना लेना है और चैन की ज़िन्दगी बितानी है। कोई हँस कर दो बातें कर ले, इतना ही बहुत है हमारे लिए।

बलभद्र : तुम तो ऐसे बोल रही हो जैसे गाँव में तुम ज़्यादा मज़े में थीं।

मरुआ : मैं ठहरी औरत जात। हमारा क्या भला और क्या बुरा? हमारे लिए तो जैसा गाँव वैसा यहाँ। गाँव में पैसे वाले बामन पीछे पड़ते थे और यहाँ फ़िरंगी।

बलभद्र : तुम ईसाई क्यों नहीं बन जातीं?

मरुआ : कमली और उस की माँ ईसाई बनी थीं। क्या भला हुआ उन का? आसमान से टपकीं, खजूर में लटकीं। उन के पति ने भी उन का साथ छोड़ दिया।

बलभद्र : साला धर्म नाम की कोई चीज़ ही नहीं होती तो अच्छा था। मेरा तो धरम-करम कुछ नहीं है। मेरा बाप कितनी पूजा-पाठ करता था। पर आख़िर में पैसों के लिए मुझे बेच डाला। साले कंध लोगों ने मुझे बाँध कर रखा, धर्म के नाम पर बलि देने के लिए। मैं भाग कर आश्रम में आया। वहाँ देवी-देवता तो नहीं थे लेकिन हज़ार तरह के नियम-क़ानून। अब मैं हूँ इन मलेच्छों के चंगुल में। मेरा भला कैसा धर्म?

मरुआ : तब चैन से रहो।

बलभद्र : चैन से कैसे रहूँ ज़रा बताओ तो? आश्रम मेरा घर नहीं, कटक शहर मेरा घर नहीं और कंधग्राम भी कौन-सा मेरा घर था। मेरा घर था तो बस अपने गाँव में जहाँ लोग मुझे बल्लू कह कर पुकारा करते थे। न बलभद्र न डेविड। मुझे हर समय अपने गाँव की ही याद आती है। तुम्हें अपने गाँव की याद नहीं आती?

मरुआ : अरे हम औरतों का भला अपना गाँव कैसा? जब जहाँ रहने लगें, वहीं गाँव हो गया। जिस ने अपने साथ रख लिया, वही उस का स्वामी हो गया और जहाँ रखा, वही उस का घर हो गया। समझे? इन ऐन मेम साहिबा को ही देख लो। सात समंदर पार से आ कर यहाँ घर बसाया है। इन का काम क्या है? अपने पादरी पति के मेहमानों की सेवा करो। बस! जाओ, अब जा कर मेज़ सजा दो।

(लेसी, सॉटन, गंगाधर, राधूदास एवं रघुदास अंदर आ कर बैठते हैं।)

सॉटन : चारों ओर हरियाली होने से चैपल कितना सुंदर लगने लगा है।

राधू : जगह अच्छी थी। ऐसी ही अच्छी जगहों पर हिन्दुओं का मंदिर बना होता है।

सॉटन : ओड़िशा में यह हमारा पहला गिरजाघर है जो एक हिन्दू मंदिर की जगह के ऊपर बना है। यह एक अच्छा लक्षण है।

रघु : अच्छा लक्षण है? हमारे हिन्दुओं के मंदिरों को तोड़ कर मुसलमानों ने अपनी मस्जिद बनाई। और अब ये लोग आ कर मंदिरों को तोड़ कर उस पर गिरजाघर बनाने लगे हैं।

लेसी : लेकिन वहाँ पर जो महादेव मंदिर था। वह अपने आप ही ढह गया था। बहुत वर्षों से वहाँ पूजा भी नहीं होती थी। इस मंदिर के स्थान पर गिरजाघर बनाया गया इसलिए ये बात हम लोगों को पसंद आई।

सॉटन : जिस स्थान पर अपवित्र मंदिर था, वहाँ आज पवित्र ईश्वर का घर बनाया गया। जहाँ पर एक दिन पत्थर की मूर्ति की पूजा होती थी, आज वहाँ जीवंत प्रभु यीशु की उपासना की जाती है। जहाँ पर मूर्ति-पूजा का कोलाहल हुआ करता था, वहाँ पर भगवान की प्रशंसा में आनंद दायक प्रार्थना हो रही है।

लेसी : इसी गृह से अमर ज्योति फैल कर सारे ओड़िशा को आलोकित करेगी।

सॉटन : अति शीघ्र सुदिन आएगा, जब कि सब जघन्य मंदिर तोड़ दिए जाएँगे और उन को सदा प्रभु के उपासना गृह में परिणित कर दिया जाएगा।

लेसी : यह ओड़िशा के लिए सौभाग्य का दिन होगा।

सॉटन : आज वहाँ पर चैपल को देख कर मुझे लगा आख़िर ओड़िशा में क्या नहीं है? उत्तम ज़मीन, जंगल, पर्वत, नदी सभी कुछ तो है। केवल यदि ओड़िशा के लोग बाइबिल को अपना लें तो ओड़िशा पृथ्वी का एक सब से सुखी देश बन सकता है। ओड़िशा इमानुएल का देश बन सकता है। और आज की तरह उस समय भी ओड़िशा मंदिरों से भरा रहेगा। मगर वे मंदिर होंगे जीवित ईश्वरों को समर्पित।

उस समय अनेकों भक्त होंगे लेकिन वे लोग सच्चे ईश्वर को पूजेंगे। अनगिनत तीर्थ यात्री यात्रा करते होंगे, लेकिन उस समय उन का लक्ष्य होगा स्वर्ग-भूमि। उस समय भी शास्त्र होंगे लेकिन शास्त्रों में पवित्र बाइबिल और सुसमाचार होंगे। उस समय भी लोग गीत गाएँगे। लेकिन वे गीत होंगे ईश्वर को समर्पित। ओड़िया माता-पिता सब ईसाई होंगे और यहाँ पर भी विश्राम दिवस का पालन किया जाएगा।

लेसी : *(बाइबिल खोल कर पढ़ते हैं)* जंगल और निर्जल देश प्रफुल्लित होंगे, मरुभूमि मगन हो कर केसर की नाईं फूलेगी; वह अत्यंत प्रफुल्लित होगी और आनंद के साथ जय जयकार करेगी। उस की शोभा लिबानन की-सी होगी और वह कर्मेल और शारोन के तुल्य तेजोमय हो जाएगी। वे यहोबा की शोभा और हमारे परमेश्वर का तेज़ देखेंगे।

सॉटन : आमेन।

लेसी : बहुत दिनों पहले मैं एक बार कहीं जा रहा था। रास्ते में थोड़ी देर के लिए एक पत्थर की मूर्ति के ऊपर पैर रख कर बैठ गया। और अपने ख़ानसामा से पूछा, लोग मेरे बारे में क्या कह रहे हैं? ख़ानसामा ने बताया—लोग कह रहे हैं कि ये अंग्रेज़ साहब लोग बहुत बलवान हैं, उन को किसी का डर, भय नहीं है।

रघु : वो तो ठीक है। लेकिन इस का मतलब ये तो नहीं है कि हमारे मंदिर तोड़ दें।

राधू : क्यों भाई मंदिर मंदिर रटे जा रहे हो। यहाँ कौन-सा मंदिर था?

रघु : यहाँ जो गिरजाघर बन गया है, उस स्थान पर पहले शिवजी का मंदिर नहीं था?

राधू : भाई किसी ज़माने में रहा होगा। अब तो केवल टूटे-फूटे पत्थर पड़े थे वहाँ। चारों तरफ़ झाड़-झंकाड़ उग गए थे। साँप, बिच्छू जैसे ज़हरीले जीव-जंतुओं ने अपना घर बना लिया था। वहाँ पर न ही कभी पूजा होती थी और न ही कोई उधर से गुज़रता था।

रघु : कुछ भी हो जाए, मैं अपनी ज़मीन नहीं बेच सकता। मेरी ज़मीन पर हनुमानजी का मंदिर है।

राधू : किस हनुमानजी के बारे में बता रहे हो भाई? वहाँ तो केवल हनुमानजी की मूर्ति नीचे पड़ी हुई है। वहाँ मंदिर है कहाँ?

रघु : हमारे लिए जहाँ मूर्ति है, वहीं मंदिर।

राधू : क्या कोई वहाँ पूजा भी करता है?

रघु : प्रतिदिन पूजा हो, न हो, भगवानजी तो हैं। जब जी चाहे पूजा कर सकते हैं। हनुमानजी के शरीर पर सिन्दूर का लेप लगाया गया है। तुम्हें दिखता नहीं है क्या? तुम अपने पादरी से कह दो मैं अपनी ज़मीन नहीं बेचूँगा।

राधू : मैं तुम्हें क्या नहीं पहचानता, भाई? ज़्यादा पैसा मिल जाए तो अपने भगवान को भी बेच सकते हो। अब बताओ कितने पैसे चाहिए तुम्हें, जल्दी से मामला निपटा दो।

रघु : नहीं, मैं ज़मीन नहीं बेचूँगा।

राधू : *(लेसी से)* नहीं, वो तो मना कर रहा है ज़मीन बेचने के लिए। *(रघु से)* तब भाई, तुम जाओ यहाँ से। *(रघु बैठा रहता है)* अब बैठे क्यों हो? तुम तो मलेच्छों के घर का चाय-बिस्कुट भी नहीं खाओगे। जाओ, अब घर लौट जाओ।

रघु : तुम से कौन बात कर रहा है?

लेसी : फिर क्या सोचा तुम ने?

रघु : अभी मैं जाता हूँ फिर आऊँगा। *(राधू की ओर देखते हुए लेसी से)* मैं सिर्फ़ आप से बात करूँगा।

लेसी : अगर तुम्हें ज़मीन नहीं बेचनी है तब फिर हम से बात करने की कोई ज़रूरत नहीं है।

रघु : मैं कब ज़मीन बेचने के लिए मना कर रहा हूँ? मैं तो सिर्फ़ हनुमानजी को बेचना नहीं चाहता। देवता की जगह को तो बेच सकता हूँ। इस का मतलब यह तो नहीं कि पैसों के लिए मैं अपने देवता को भी बेच डालूँ। पहले पैसों की बात कर ली जाए।

(रघुदास चला जाता है)

लेसी : क्यों रघुदास हम को ज़मीन बेचेगा तो?

राधू : हुजूर, मैं रघुदास को भली-भाँति जानता हूँ। बेचने की बात पक्की ही समझिए। अब केवल मोल-भाव की बात है।

लेसी : हम को वही ज़मीन चाहिए, क्योंकि वह चैपल के साथ है। ज़मीन मिल जाने पर हम वहाँ पर गंगाधर के लिए एक मकान बनवा देंगे। ईसाई बनने के कारण, गंगाधर को अपनी ज़मीन-जायदाद से हाथ धोना पड़ा। उन के चैपल के पास रहने से हमें प्रचार के लिए आसानी हो जाएगी। आप का क्या विचार है, गंगाधर?

गंगाधर : अति उत्तम होगा।

सॉटन : आप का साधु सुंदरदास के पास जा कर उन्हें राज़ी करने की बात का क्या हुआ?

गंगाधर : मैं तो उन के पास जाता रहता हूँ, लेकिन अब तो वे मेरे साथ ठीक से बात भी नहीं करते। हम लोगों के ईसाई बन जाने की वजह से वे अत्यंत दुखी हैं। रामचंद्र, कृपासिन्धु सब से नाराज़ हैं। उन को सब से अधिक क्रोध तब आया जब उन्होंने सुना अपने पतियों की आज्ञा के बिना कमली, डाआनी ईसाई बन गई।

सॉटन : हम लोगों ने किसी को ज़बरदस्ती ईसाई नहीं बनाया। वे लोग अपनी इच्छा से ईसाई बने हैं। हम लोग तो प्रचार करते हैं। जिन की इच्छा होती है वे लोग स्वयं हमारे पास आते हैं।

(पाँच ग्रामीणों का प्रवेश। उन के पीछे-पीछे खाँसते हुए एवं 'कौन उतारे पार' *गाते हुए प्रवेश करते हैं पादरी*

बांपटन। बांपटन पादरी की पोशाक में हैं। जूते पहने हुए हैं।)

बांपटन : मैं सुबह तड़के चाँदनी चौक गया था प्रचार के लिए। खाँसी की वजह से बोल नहीं सका। *(खाँसने लगते हैं)* मेरी सारी पुस्तिकाएँ समाप्त हो गईं। ये सब भाई आए हुए हैं पुस्तिकाएँ लेने के लिए।

(लेसी पुस्तिकाएँ ला कर उन को देते हैं।)

बांपटन : ब्रदर लेसी, मैं तो बोल ही नहीं पा रहा हूँ। *(खाँसने लगते हैं)* आप ही ज़रा इन को ईसा मसीह के बारे में कुछ बता दें।

(गाँव वाले पालथी मार कर बैठ जाते हैं।)

लेसी : भाइयो, मैं आप लोगों को ईसा मसीह के जन्म के बारे में बताऊँगा।

(वे बाइबिल खोल कर पढ़ने लगते हैं।) यीशु मसीह का जन्म इस प्रकार से हुआ, कि जब उस की माता मरियम की मँगनी यूसुफ़ के साथ हो गई, तो उन के इकट्ठे होने से पहले. . .

(इसी बीच पीछे से काम करती हुई मरुआ की कै करने की आवाज़ आती है। लेसी घबरा जाते हैं, सब लोग अवाक रह जाते हैं। कुछ क्षण ख़ामोश रहने के बाद लेसी ऊँचे स्वर में जल्दी-जल्दी पढ़ने लगते हैं।)

लेसी : उन के एक होने से पहले वह पवित्र आत्मा की ओर से गर्भवती पाई गई, सो उस के पति यूसुफ़ ने जो धर्मी था, उसे चुपके से त्याग देने की ठानी। जब वह इस सोच में ही था तो प्रभु का स्वर्ग दूत उसे स्वप्न में दिखाई दे कर कहने लगा; हे यूसुफ़ दाउद की संतान, तू अपनी पत्नी मरियम को अपने यहाँ ले आने से मत डर; क्योंकि जो उस के गर्भ में है, वह पवित्र आत्मा की ओर से है।

(कुछ देर पढ़ने के बाद लेसी लंबी साँस लेता है। मेरी अभी भी कै करने की कोशिश में है।)

बांपटन : धीरज रखो मेरी, मैं तुम्हें दवाई देता हूँ। *(खाँसने लगते हैं)*

मरुआ : मैं ने कल रात जो मछली खाई थी शायद वह सड़ी हुई थी।

(लेसी ने अब चैन की साँस ली, बांपटन खाँसने लगे।)

लेसी : *(गाँव वालों से)* ईसा मसीह ने दो छोटी मछलियों से किस तरह पाँच हज़ार व्यक्तियों को भोजन कराया। क्या आप सुनना चाहेंगे?

ग्रामीण : नहीं, नहीं। अब उस की ज़रूरत नहीं है। हम लोगों ने सब कुछ देख लिया और सब कुछ समझ लिया। बाक़ी की बातें पुस्तक पढ़ कर समझ लेंगे।

(गाँव वाले जाने लगते हैं।)

सॉटन : ब्रदर, बांपटन, अब आप 'कौन उतारे पार' मत गाया करिए। मैं आप को नए गीत दूँगा।

बांपटन : नहीं, ब्रदर सॉटन। यही मेरा प्रिय गीत है। *(खाँसते हैं)* मैं इसे नहीं छोड़ सकता।

सॉटन : केरी साहेब के मुंशी ने ईसा मसीह की प्रशंसा में इस गीत को लिखा। लेकिन वे ईसाई नहीं बने।

लेसी : जैसे अपने साधु सुंदरदास अभी तक ईसाई नहीं बने हैं।

गंगाधर : सुंदराबाबा भी कभी ईसाई बनेंगे, इस की आशा रखनी व्यर्थ है।

लेसी : आप हाल में जब उन से मिले थे, उस समय वे क्या कर रहे थे?

गंगाधर : वे कह रहे थे कि यहीं आ कर इस विषय पर आप से बातें करेंगे। सुंदराबाबा अब पहले जैसे नहीं रहे। बहुत बदल गए हैं। कमली, डाआनी के ईसाई बनने के बाद से वे आप लोगों से नाराज़ हैं।

सॉटन : इस देश के लोग बहुत अद्‌भुत हैं। लोग अपनी इच्छा से ईसाई बनते हैं फिर उन के परिवार वाले इस में क्यों रुकावट पैदा करते हैं?

लेसी : रामचंद्र याचक जब ईसाई बने थे उन की पत्नी उन्हें छोड़ कर चली गई थी। अब फिर से साथ रहने लगी है।

(सब बांपटन की ओर देखते हैं। वे सो रहे हैं। सॉटन उन्हें जा कर जगाते हैं। वे हड़बड़ा कर उठते हुए कहते हैं, 'घोड़ा लाओ।' सब हँस पड़ते हैं।)

सॉटन : घोड़े पर सवार हो कर एक जगह से दूसरी जगह जा-जा कर प्रचार करने के अलावा ब्रदर बांपटन को और कोई चिन्ता नहीं रहती।

लेसी : ब्रदर बांपटन जिस राह से निकलते हैं, वहाँ पर ऐसा कोई बाज़ार, हाट, मंदिर, गाँव नहीं होगा, जहाँ पर उन्होंने ईश्वर की वाणी लोगों को नहीं सुनाई होगी।

बांपटन : *(खाँसते-खाँसते)* आजकल मेरी तबीअत कुछ ठीक नहीं रहती। घुड़सवारी में भी तकलीफ़ होती है।

लेसी : आप शीघ्र ही स्वस्थ हो जाएँगे।

(बाहर पालकी उतरने की आहट आती है। पियर्स का प्रवेश।)

लेसी : आइए, आइए ब्रदर पियर्स।

(सब लोग उठ कर उन का अभिवादन करते हैं। ऐन भी उन के साथ सम्मिलित हो जाती है। परस्पर हाथ मिलाने और कुशल मंगल पूछने के बाद सब बैठते हैं। ऐन एवं मरुआ सब को चाय ला कर देती हैं।)

पियर्स : अभी मैं पुरी से आया हूँ। रास्ता बहुत ख़राब था इसलिए पहुँचने में विलंब हो गया। पुरी में मैं ने सुना था कि ब्रदर बांपटन कटक आए हुए हैं। उन से मिलना मेरा विशेष उद्देश्य था।

(ब्रदर बांपटन फिर से सो गए थे। लेसी उन को जगाते हैं।)

बांपटन : *(हड़बड़ा कर उठते हैं)* अब यीशु उन के पास पहुँच कर कहते हैं, स्वर्ग और पृथ्वी का समस्त कर्तापन मुझे समर्पित है। इसलिए आप जा कर सर्वदेशीय लोगों को शिष्य बना कर पिता, पुत्र, धर्मात्मा के नाम पर डुबकी दिला कर ईसाई बनाएँ। फिर तुम लोगों को जो-जो आज्ञा दी है उस का पालन करने के लिए उन को शिक्षा दीजिए। देखिए जगत के अंत तक सर्वदा मैं आप के साथ-साथ हूँ। आमेन।

पियर्स : वाह, वाह ब्रदर बांपटन। मैं ने आप के बारे में जैसा सुना था वैसा ही मुझे अपनी आँखों से देखने को मिला। लेकिन मैं ने सोचा था आप को नेटिव पोशाक में देखूँगा।

बांपटन : जब मैं ने ओड़िशा में पहली बार काम शुरू किया, सोचा था कि एक हिन्दू नेटिव जो कुछ कर सकता है, अगर मैं उतना नहीं कर सकूँगा तब मेरा पादरी होना व्यर्थ है और अंग्रेज़ होना भी व्यर्थ है। इसलिए मैं ने धोती-कुर्ता पहन कर नंगे पाँव आना-जाना शुरू कर दिया। ऐसी पोशाक के साथ नंगे पाँव कच्चे रास्ते पर चलने में आसानी होती है। इस पोशाक में देख कर नेटिव लोग भी प्रसन्न होते, लेकिन बाद में मैं समझ गया कि इस से कोई फ़ायदा नहीं है। लोग प्रसन्न नहीं होते थे, बल्कि हँस कर मेरा मज़ाक उड़ाते थे। मेरे पाँव में छाले पड़ गए, जिस से मैं चल भी नहीं पाता था। कच्चे रास्तों में कीचड़, पानी भरा होता था। उस में जोंक भी थे। कई बार जोंक काट लेते थे। इसीलिए मैं ने वैसी पोशाक पहननी छोड़ दी।

पियर्स : आप का स्वास्थ्य ठीक नहीं लग रहा है। आप कटक में रहने की बजाए पुरी में क्यों रहते हैं?

बांपटन : ओड़िशा में विधर्मियों का साम्राज्य है। उन में से पुरी है शैतानों का अड्डा। इसलिए मैं ने सोचा पुरी में रह कर जगन्नाथ मंदिर के सामने खड़े हो कर प्रचार करना शेर के मुँह में हाथ डालने की तरह है।

पियर्स : वहाँ तो अभी तक एक भी व्यक्ति ईसाई नहीं बन सका।

बांपटन : पुरी में बहुत सतर्कता से धर्म-प्रचार करना होगा। जिस प्रकार एक बलवान मक्खी जब मकड़ी के जाले

में अचानक फँस जाती है, तब मकड़ी उसे तुरंत नहीं छेड़ती, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करती है। क्योंकि धैर्य और प्रतीक्षा से ही शिकार मिलता है। अचानक आक्रमण करने से शिकार हाथ से निकल जाता है।

पियर्स : मैं ने साधु सुंदरदास के बारे में सुना है। क्या आप उन के ही बारे में बता रहे हैं?

बांपटन : नहीं, मैं पुरी के लोगों के बारे में बता रहा था। मैं ने इस बीच पुरी के राजा रामचंद्र देव से मिल कर उन को ईसा मसीह के बारे में बताया। उन को पुस्तक भी दी थी। मंदिर के कुछ पंडे भी मेरे पास आते रहते हैं। मुझे अभी आशा एवं विश्वास है कि मैं पुरी के किसी-न-किसी व्यक्ति को डुबकी दिलाने में सफल हो सकूँगा।

पियर्स : *(सॉटन से)* पुरी के बाहर भी आप अधिक लोगों को अपना धर्मानुयायी नहीं बना सके हैं।

सॉटन : यहाँ पर बहुत कम लोग ही धर्मान्तरित हो सके हैं। लेकिन ओड़िशा में जितने लोग ईसाई हुए हैं, वे लोग दूसरे स्थान के ईसाइयों से भिन्न हैं। अन्य प्रदेश में ग़रीब निम्नवर्ग के लोग एवं अनपढ़ लोग ही नौकरी या पैसों के प्रलोभन में ईसाई बन गए हैं। लेकिन ओड़िशा में उच्च वर्ग के लोग ईसाई बने हैं। ईसा मसीह के ऊपर आस्था के कारण। जैसे कि हमारे पहले ईसाई हैं, गंगाधर सारंगी। वे एक ब्राह्मण शास्त्रज्ञ पंडित हैं, जो कि ईसाई बने हैं। हमारे धर्म पर विश्वास के कारण। इस से भी बड़ी बात यह है कि ओड़िशा में जितने लोग भी ईसाई बने हैं उन में से कोई भी ईसाई-धर्म को छोड़ कर वापस नहीं गया।

पियर्स : यह एक महत्त्वपूर्ण बात है।

लेसी : ओड़िशा में जितने ईसाई हुए हैं, वे सभी उच्च वर्ग के हैं। कोई ब्राह्मण तो कोई कायस्थ। कोई शिक्षक तो कोई ज्योतिषी। वे किसी प्रलोभन के बिना ही ईसाई हुए हैं। जब कि उन्हें ईसाई बनने से फ़ायदे के स्थान पर नुक़सान ही हुआ है। उन्होंने केवल अपनी जात ही नहीं खोई, बल्कि ज़मीन-जायदाद, घर-बार, काम-धंधे, सभी से उन को हाथ धोना पड़ा है।

पियर्स : लेकिन सुंदरदास के ईसाई बनने की बात का क्या हुआ?

लेसी : वे अभी तक तो ईसाई नहीं बने लेकिन हमें आशा है कि वे एक दिन ज़रूर हमारे पास आएँगे। क्योंकि वे मूर्ति पूजा नहीं करते। हमारे टेन कमांडमेंट्स पर विश्वास करते हैं एवं बाइबिल के बारे में जानते हैं। सुंदरदास के कुछ शिष्य तो ईसाई बन गए हैं। यदि हम लोग सुंदरदास को भी ईसाई बना सकेंगे तो हमारे लिए बहुत गौरवपूर्ण बात होगी।

पियर्स : यहाँ पर आप के धर्म-प्रचार के लिए सब से बड़ी समस्या क्या है?

लेसी : हमारे लिए सब से बड़ी समस्या है, कंपनी के नियम एवं कंपनी के अफ़सर। कंपनी जगन्नाथ मंदिर को चलाने में मदद कर रही है, यात्री-कर से जो कुछ मिलता है वो मंदिर के ख़र्चे में निकल जाता है। हिन्दू हम से पूछते हैं, यदि जगन्नाथ कुछ नहीं हैं तो कंपनी बहादुर क्यों लोगों से कर वसूल करके मंदिर का ख़र्चा उठाते हैं?

बांपटन : लेकिन मैं तो लोगों को समझाता हूँ कि यात्री कर, मूर्ति पूजा करने वालों पर जुर्माना है।

सॉटन : कंपनी के मजिस्ट्रेट भी हमारे विरुद्ध हैं, क्योंकि हम लोग पिलग्रिम टैक्स के ख़िलाफ़ शिकायत करते हैं। टैक्स कलेक्टर हम पर नाराज़ हैं क्योंकि टैक्स हट जाने पर उन की नौकरी चली जाएगी।

बांपटन : मजिस्ट्रेट लोग न्याय-विचार नहीं करते। मेरे नौकर ने मेरी पत्नी को विष दे कर मारने की कोशिश की थी लेकिन सुनवाई में मजिस्ट्रेट ने नौकर को रिहा कर दिया।

लेसी : कंपनी के नियम-क़ानून भी अनोखे ही हैं। कोई हिन्दू यदि ईसाई बन गया तो उस की संपत्ति में उस का कोई अधिकार नहीं रहता। पति के ईसाई बन जाने पर उस की पत्नी को उस के साथ रहने के लिए मज़बूर नहीं

किया जा सकता। यहाँ पर जितने व्यक्ति ईसाई बने हैं, वे अपने घर, ज़मीन-जायदाद, इतना ही नहीं, उन्हें अपने बाल-बच्चे, सब कुछ खोना पड़ा है। इस से आप समझ गए होंगे कि कितना जुल्म सह कर यहाँ के लोग ईसाई बन रहे हैं।

सॉटन : इस के अलावा यहाँ पर जो कंपनी के कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, जज, कमिश्नर, कमांडर हैं, वे लोग अपने-अपने घरों में नेटिव आया रख कर अत्यंत ही पापमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन का चरित्र अत्यंत कलंकित है। उन को देख कर नेटिव लोग सोचते हैं कि ईसाई बनना भ्रष्ट होने के समान है।

(मरुआ उल्टी करती है। पियर्स उल्टी की आवाज़ सुनते हैं।)

लेसी : *(अचानक बिना कुछ सोचे-समझे)* वर्जिन मेरी, मतलब हमारी नौकरानी मेरी। सड़ी मछली।

(पियर्स कुछ समझ नहीं पाते। लेसी की तरफ़ देखने लगते हैं।)

पियर्स : *(अपनी नोट बुक बंद करते हुए)* आप लोगों से मिल कर बहुत आनंदित हुआ। मुझे आप का चैपल देखने की इच्छा है।

लेसी : हमारे चैपल को तीन वर्ष से अधिक हो चुके हैं। नवंबर 1826 में जब हमारा चैपल बनना आरंभ हुआ था उस समय चर्च में केवल बारह लोग थे। अब कुछ और लोग हो गए हैं। चलिए मैं आप को चैपल दिखा लाता हूँ।

पियर्स : नहीं, आप लोग बैठे रहिए। मेरी पालकी बाहर खड़ी है। यदि मुझे अनुमति दें तो मैं ब्रदर बांपटन को अपने साथ ले जाऊँ। उन के साथ कुछ और बातें करने की इच्छा है। कलकत्ता वापस लौटने से पहले मैं आप लोगों से फिर मिलूँगा।

(पियर्स और बांपटन जाने लगते हैं। उस के तुरंत बाद कुछ शिष्यों के साथ सुंदरदास प्रवेश करते हैं। गंगाधर, राधूदास उन के चरण स्पर्श करते हैं। बिना कुछ समझे लेसी और सॉटन भी उन के चरण स्पर्श करने लगते हैं। उन को उठाते हुए सुंदरदास उन से हाथ मिलाते हैं।)

सुंदरदास : *(चारों तरफ़ देखते हुए)* अति उत्तम स्थान है। इस से पहले मैं कभी किसी अंग्रेज़ के घर नहीं गया था।

लेसी : यह हम लोगों का सौभाग्य है कि आप हमारे यहाँ पधारे हैं। कृपा करके बैठ जाइए। मेरी, साधु सुंदरदास के लिए चाय लाओ।

(सुंदरदास अपना स्थान ग्रहण करते हैं। मरुआ चाय और बिस्कुट ला कर पास खड़ी हो जाती है।)

सुंदरदास : मरुआ मेरी, मेरी मरुआ उत्तम नाम है। सौभाग्यवती भव।

लेसी : आप को हमारे घर में चाय पीने में कोई एतराज़ तो नहीं है?

सुंदरदास : नहीं, नहीं। मैं किसी प्रकार के नशीले द्रव्य का सेवन नहीं करता हूँ।

लेसी : लेकिन चाय तो नशीला द्रव्य नहीं है।

सुंदरदास : नशीला द्रव्य नहीं है? तब उस का सेवन करते क्यों हो? ये दूसरी चीज़ क्या है?

मेरी : बिस्कुट।

सुंदरदास : बिस कुट? *(वे एक बिस्कुट उठा कर उसे अच्छी तरह देखते हैं।)*

यदि यह निरामिष है तो मैं खा सकता हूँ। फ़िरंगियों के घर खाने में मुझे कोई एतराज़ नहीं है।

लेसी : बिस्कुट संपूर्ण निरामिष है।

सुंदरदास : *(बिस्कुट खाने के बाद)* स्वाद उत्तम है।

सॉटन : वास्तव में आप एक उत्तम व्यक्ति हैं। आप का मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं है। आप दस आज्ञाओं को भी मानते हैं। हमारे घर का पानी पीने में भी कोई एतराज़ नहीं है।

सुंदरदास : लेकिन ईसाई बनने में मुझे घोर एतराज़ है।

लेसी : लेकिन क्यों? आप तो हिन्दू-धर्म में विश्वास नहीं करते।

सुंदरदास : यह बात नहीं है। मुझे किसी धर्म के प्रति अविश्वास या विश्वास नहीं है। जिस का जो अच्छा है, जो उचित लगता है, जो न्यायपूर्ण है, उस पर मेरा विश्वास है। भले ही वह किसी भी धर्म का उपदेश हो। दस आज्ञा उत्तम नियम है। इसलिए मुझे उस पर विश्वास है।

सॉटन : आप तो स्वयं ही हिन्दू-धर्म के अनेक दोषों, कमज़ोरियों के बारे में बता रहे थे।

सुंदरदास : जो ग़लत है वो ग़लत है। भले ही वो शास्त्रों में लिखा गया हो। मैं ने कब किस से कहा कि हिन्दू-धर्म को मान कर चलो। मैं तो बहुत सामान्य बातें बताता हूँ जैसे सत्य बोलो, न्याय करो। हिन्दू-धर्म में जितनी भी कमियाँ हों लेकिन यह नहीं है कि दूसरे धर्म के लोगों को अपने धर्म के लिए प्रेरित करो। और यह भी नहीं है कि दूसरे देशों में जा कर प्रचार करो कि आप का धर्म ग़लत है। गंगाधर को हिन्दू से ईसाई बन कर क्या मिला, यह मैं नहीं बता सकता हूँ। क्यों? गंगाधर, आप मेरे पास रहते समय क्या नहीं कर पाते थे जो अब कर पा रहे हैं?

सॉटन : गंगाधर विद्वान व्यक्ति हैं। वे सोच-समझ कर ही ईसाई बने हैं।

सुंदरदास : लेकिन रामचंद्र नायक? कृपासिन्धु साहू?

लेसी : वे भी कोई छोटे बच्चे तो हैं नहीं। किसी ने उन्हें मज़बूर नहीं किया था। उन्होंने स्वयं अपनी इच्छा से सोच-विचार करने के बाद ईसाई-धर्म अपनाया।

सुंदरदास : अब तो ये नासमझ राधूदास भी ईसाई बन जाएगा।

लेसी : यदि वो चाहेंगे तो अवश्य ईसाई बनेंगे।

सुंदरदास : आप लोगों ने मेरे साथ विश्वासघात किया। मैं ने गंगाधर और रामचंद्र को आप को सौंपा था आप की अच्छी बातों के प्रचार करने में सहायता के लिए। लेकिन आप लोगों ने उन्हें ईसाई बना दिया। वह भी मेरी अनुमति के बिना।

लेसी : हम लोगों ने नहीं बनाया। वे लोग ईसा मसीह पर आस्था रखते हुए स्वयं ईसाई बन गए।

सुंदरदास : गंगाधर, आप ईसा मसीह पर आस्था रखते हैं?

गंगाधर : जी हाँ।

सुंदरदास : उन के विषय में जो कुछ भी लिखा गया है उस पर विश्वास करते हैं? उन्होंने जो कुछ चमत्कार दिखाया था उस पर विश्वास करते हैं? अंधे को दृष्टि मिल जाना, जल को मदिरा में परिवर्तित कर देना, आँधी को रोक देना, मृतक को जीवनदान—ये सब सत्य हैं, समझते हैं आप?

सॉटन : अवश्य सत्य है। बाइबिल में जो कुछ भी लिखा है सब कुछ सत्य है। इस में क्या संदेह हो सकता है? आप भी तो चमत्कार दिखाते हैं।

सुंदरदास : *(हँसते हैं)* चमत्कार। चमत्कार। यह देखिए मेरा चमत्कार।

(वे शून्य में एक फूल तोड़ कर सॉटन के हाथ में देते हैं। सॉटन आश्चर्यचकित रह जाते हैं। इस के बाद साधु सुंदरदास बहुत धीमे-धीमे जिसे सब लोग देख कर समझ सकें अपने दुशाले के अंदर से और एक फूल निकाल कर ऐसा अभिनय करते हैं, जैसे शून्य से उस फूल को तोड़ रहे हों। फूल को लेसी के हाथ में देते हैं।)

सॉटन : हे ईश्वर।

सुंदरदास : अब मैं बताना चाहूँगा मैं यहाँ क्यों आया। आप ने कमली, डाआनी को ईसाई बना दिया, इस के लिए आप ने उन दोनों के पतियों से आज्ञा नहीं ली थी। यह अन्याय है।

(मरुआ अब तक तो चुप खड़ी थी। यह सुनते ही आगे आती है।)

मरुआ : ये किस प्रकार अन्याय है? आप तो सदा कहते आए थे, स्त्री-पुरुष सब एक समान हैं। आप के आश्रम में स्त्री, पुरुषों के बीच कोई भेदभाव भी नहीं था। तब आप यह कैसे कहते हैं कि उन के पतियों से आज्ञा लेनी चाहिए थी। गंगाधर सारंगी, रामचंद्र नायक जब ईसाई बने तब क्यों नहीं उन की पत्नियों से आज्ञा ली गई। रामचंद्र नायक की पत्नी तो उन को ईसाई बनने के लिए मना भी कर रही थी।

सुंदरदास : मरुआ, क्या तुम्हारी इच्छा भी ईसाई बनने की है?

मरुआ : आप ने मेरी बात का जवाब नहीं दिया।

लेसी : मेरी, तुम अंदर जाओ, हम पुरुषों की बातचीत में तुम्हारा बोलना उचित नहीं है।

मरुआ : जब स्त्रियों की बात आती है तो वहाँ जैसे पादरी, वैसे बाबा। हम को सभी बातों में चुप रहना पड़ता है। हुँह. . .

(मरुआ अंदर चली जाती है।)

सुंदरदास : आप ने जब गंगाधर को ईसाई बनाया, मैं ने कुछ नहीं कहा, आप ने रामचंद्र को ईसाई बनाया, मैं ने कुछ नहीं कहा। आप ने कृपासिन्धु को ईसाई बनाया, मैं फिर भी चुप रहा। लेकिन आप ने कमली, डाआनी को ईसाई बना डाला। अब मैं चुप नहीं रह सकता। मैं आज यह बताने आया था कि कमली, डाआनी को उन के पतियों की अनुमति लिए बिना ईसाई बनाने की वज़ह से पादरी चार्ल्स लेसी एवं पादरी आमोस सॉटन पर मुक़दमा किया जाएगा। मुक़दमा मजिस्ट्रेट की कचहरी में होगा। देखते हैं गोरों का न्याय कैसा होता है?

(सुंदरदास जाने के लिए उठते हैं।)

सुंदरदास : अब मैं चलता हूँ। राधूदास, आप हमारे साथ आइए। अब एक क्षण भी यहाँ पर मत रुकिए। नहीं तो ये लोग आप को भी ईसाई बना देंगे।

(सुंदरदास चले जाते हैं। लेकिन राधूदास उन के साथ नहीं जाता। सॉटन और लेसी आश्चर्य से एक-दूसरे को देखते रह जाते हैं।)

दूसरा दृश्य

(लेसी की बैठक। दोपहर का समय। पहले दृश्य की तरह मरुआ और बलभद्र।)

मरुआ : समझे, डेविड। मैं सोचती हूँ मैं भी ईसाई बन जाऊँ।

बलभद्र : तुम्हारे ईसाई बनने से क्या होगा और न बनने से क्या हो जाएगा? वैसे भी तुम फ़िरंगी के घर में नौकरी कर रही हो। खाना-पीना भी तुम्हारा ईसाई के घर में होता है। तुम्हें गाँव वालों ने पहले ही बिरादरी से अलग कर दिया है। तुम्हारी जात नाम की कोई चीज़ तो है नहीं।

मरुआ : ये पादरी लोग सब के पीछे पड़ कर खुशामद करते हैं ईसाई बनने के लिए। लेकिन मुझे तो अब तक एक बार भी नहीं कहा।

बलभद्र : तुम ठहरीं औरत जात। उस पर उन के यहाँ काम भी करती हो। तुम्हें ईसाई बना कर उन्हें क्या मिलेगा? मुझे ही देख लो। मेरी कोई जात है न घर-बार। उन्हें मेरे लिए क्यों चिन्ता होगी? चाहे जो कुछ भी हो हम को इस से एक फ़ायदा ज़रूर है। हिन्दू पूछेंगे तो हिन्दू। ईसाई पूछें तो ईसाई कह सकते हैं। न हमें कोई कुछ देगा न हम से कुछ लेगा।

मरुआ : आज भी तुम ने काँटा-छुरी कहीं छिपा दिया?

बलभद्र : *(ढूँढ़ता है, न मिलने पर)* पता नहीं कहाँ चले गए? समझी मरुआ। वे लोग अपने धर्म के बारे में समझाते रहें; यदि हम लोग टेबल पर काँटा-छुरी-चम्मच सही ढँग से रख सकें वही हमारे लिए बहुत है।

मेरी : सही बात कह रहे हो रे डेविड। चाहे वो हमारे साधु सुंदरदास हों या पादरी लेसी।

(लेसी और सॉटन का प्रवेश।)

लेसी : मुझे मालूम था आज क्या फ़ैसला होगा। हमारे दुर्भाग्य से हमारा मुक़दमा उसी पिलग्रिम टैक्स कलेक्टर की कचहरी में हुआ।

सॉटन : अंततः इतना तो हुआ कि कचहरी में साधु सुंदरदास ने अंग्रेज़ विचार-पद्धति की प्रशंसा की।

लेसी : अंग्रेज़ विचार-पद्धति! कचहरी में उन दोनों स्त्रियों के शरीर से उन के पतियों के सारे गहने उतार लिए। वह बेचारी अपने घर से जो कुछ कपड़े-लत्ते लाई थीं, उसे भी उन को वापस देना पड़ा। कमली की गोद्र से तो उस के बच्चे को भी छीन कर उस के पति को दे दिया। उन के पतियों ने यह भी कहा कि वे घर पहुँच कर कमली, डाआनी का अंतिम क्रिया-कर्म भी कर देंगे। यही है ब्रिटिश जस्टिस!

सॉटन : इस केस में हम को फँसाने के लिए उस मजिस्ट्रेट को कितनी कोशिश करनी पड़ी होगी।

लेसी : और कुछ भी न कर सका तो क्या हुआ? हम से पचास रुपए का बाँड लिखवा लिया कि पति की अनुमति के बिना हम किसी भी विवाहिता स्त्री का धर्म नहीं बदल सकेंगे। इस विषय में सभी प्रचारकों के पास खुली चिट्ठी भी कचहरी से भेजी गई।

सॉटन : ये निर्देश अत्यंत अन्यायपूर्ण हैं। इस के विरुद्ध मैं गवर्नर जनरल को चिट्ठी भेजूँगा। *(थोड़ा रुक कर)* फिर सोचता हूँ ऐसी चिट्ठी भेजने से होगा क्या? पहले भी कितनी चिट्ठियाँ भेजी जा चुकी हैं जगन्नाथ मंदिर के बारे में। उस दिन गंगाधर ने भी एक निवेदन किया था कि पुरी के मंदिर को आर्थिक सहायता बंद कर दी जाए। उस का भी अब तक कोई जवाब नहीं आया।

लेसी : इस मुक़दमे से हमारे धर्म-प्रचार के कार्य में भी प्रतिबंध लग गया है। इस से लोग हमारे ऊपर संदेह करेंगे। उन का विश्वास हम पर से उठ जाएगा।

सॉटन : एक बात और भी है। प्रचार के समय गाँव वाले हमें जितना भी परेशान करते थे फिर भी उन के मन में अंग्रेज़ों का डर था। लेकिन जब ये पता चलेगा कि एक बाबाजी हम को कचहरी में घसीट कर ले गए और हम पर जुर्माना लगवाया; तब हमारा डर उन पर से उठ जाएगा। फिर वे लोग हम लोगों को पहले से भी अधिक परेशान करेंगे।

लेसी : कलकत्ते के *हेराल्ड* से पत्र आया है कि उन को इस केस के बारे में लिख कर भेजें।

सॉटन : उन को एक संपूर्ण रिपोर्ट भेजनी होगी। उस में हम लिखेंगे किस तरह से कंपनी के क़ानून और ऑफ़िसर, मिशनरी के विरुद्ध हो गए हैं।

लेसी : ब्रदर बांपटन ने कचहरी आने के लिए ख़बर भेजी थी लेकिन वे आए नहीं। हम उन से भी कुछ सलाह ले सकते थे।

सॉटन : ब्रदर बांपटन बहुत अस्वस्थ हैं। वे पुरी से आ भी पाएँगे या नहीं, क्या मालूम?

लेसी : उन की जैसी हालत हो गई है उस में उन्हें तो विलायत वापस जा कर इलाज करवाना चाहिए। लेकिन उन्हें तो पुरी छोड़ने में भी एतराज़ है।

सॉटन : उन की अभिलाषा है कि अंततः पुरी में किसी-न-किसी को ईसाई बना सकें।

लेसी : ईश्वर करे उन की इच्छा पूरी हो।

सॉटन : पुरी में किसी को ईसाई न बना सके तो क्या हुआ? और बहुत कुछ किया है ब्रदर बांपटन ने। जैसे पुरी मंदिर के सिंहद्वार के सामने खड़े हो कर पंडे, पुरोहितों को ईसा मसीह की वाणी सुनाई है। कोणार्क मंदिर में पहुँच कर वहाँ पर ईसा मसीह की महिमा के बारे में बताया। इतने कष्ट में पुरी में रह पाना केवल ब्रदर बांपटन जैसे महान व्यक्ति के लिए ही संभव है।

लेसी : पुरी हमारे लिए एक परीक्षा-स्थल है।

सॉटन : मुझे पता है। पुरी में साल भर के अंदर ही शार्लट की मृत्यु हो गई थी। मैं जब भी पुरी में उन की क़ब्र के पास जाता हूँ, मुझे हमेशा यह लगता है कि पुरी एक निष्ठुर स्थान है।

लेसी : आज के इस दुर्दिन में मुझे याद आ रहा है जब मैं ने ओड़िशा आने के लिए श्रीरामपुर छोड़ा था। मुझ से डॉक्टर केरी ने कहा था—ब्रदर लेसी, मैं तुम्हारे लिए सब के सामने प्रार्थना तो नहीं करूँगा लेकिन तुम को तीन उपदेश ज़रूर देना चाहूँगा। आप का कर्त्तव्य है सब के पास गॉस्पेल पहुँच सके। ईश्वर का कहना है कि उन की बातों को निश्चय सफलता प्राप्त होगी एवं वे जब चाहेंगे, सब कठिनाइयों को दूर कर देंगे।

सॉटन : उन की इच्छा पूरी हो।

(पालकी रुकने की आवाज़ आती है। धीरे-धीरे बीमार बांपटन अंदर आते हैं और बैठते हैं।)

लेसी : हम ने सोच लिया था अब आप नहीं आएँगे।

बांपटन : *(बहुत तकलीफ़ से)* मैं कचहरी नहीं पहुँच सका।

सॉटन : आप ने फ़ैसले के बारे में सुना?

बांपटन : हाँ, लेकिन मैं हताश नहीं हुआ। हम लोगों को अनेक बाधाओं, प्रतिबंधों और शत्रुओं के साथ काम करना होगा।

लेसी : आप तो एक शक्तिशाली व्यक्ति हैं। ब्रदर बांपटन!

बांपटन : हाँ, मैं भी अपने आप को बहुत शक्तिशाली समझता था। लेकिन इधर तीन साल से टी.बी. हो जाने के कारण मैं बहुत टूट गया हूँ। मेरी तबीअत अब ठीक नहीं रहती। कलकत्ता जा कर विश्राम किया। समुद्री जलवायु अच्छी होती है इसलिए कुछ दिन जहाज़ में भी भ्रमण किया। लेकिन इन सब से भी कुछ फ़ायदा नहीं हुआ। अभी मैं तेंतालीस वर्ष का हूँ। लेकिन मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं अस्सी वर्ष का बूढ़ा हो गया हूँ। घुड़सवारी करना मेरा प्रिय शौक था। लेकिन अब मैं घुड़सवारी भी नहीं कर पाता। इसलिए मुझे पालकी में आना-जाना पड़ता है। खड़े होने में भी तकलीफ़ होती है। इसलिए कुर्सी पर बैठे-बैठे प्रचार करता हूँ। फिर भी मेरी इच्छा यह है कि मैं कम-से-कम तीस वर्ष और प्रभु का काम कर सकूँ। फिर मुझे किसी भी बात का दुख नहीं रहेगा। फिर भी अगर प्रभु मुझे अपने पास बुला लें तो मैं उन के पास जाने को तैयार हूँ। मेरा एकमात्र दुख यही रह जाएगा कि बेचारे ओड़िशा के लोगों का क्या होगा?

(गंगाधर, राधूदास का प्रवेश। नमस्कार करने के बाद वे बैठ जाते हैं।)

लेसी : गंगाधर, आपने कमली और डाआनी के मुक़दमे का फ़ैसला सुना?

गंगाधर : जी हाँ।

राधू : आज सारे शहर में यही चर्चा है।

गंगाधर : सुंदराबाबा कह रहे थे, वे आप से मिलते हुए जाएँगे।

सॉटन : आप लोग सुंदराबाबा के पास गए थे?

गंगाधर : मैं कुछ दिनों पहले कुजीवर आश्रम गया था। तब वे कह रहे थे, मुक़दमे के दिन वे कटक आएँगे और आप से मिलेंगे।

लेसी : उन्होंने आप से और क्या-क्या कहा?

गंगाधर : उन्होंने मुझे बहुत डाँटा, फटकारा। उस से पहले उन्होंने रामचंद्र, कृपासिन्धु को भी डाँटा, फटकारा था। सुंदराबाबा आजकल बहुत बदल से गए हैं।

राधू : लोग उन के बारे में तरह-तरह की बातें करने लगे हैं।

लेसी : क्या कहते हैं?

गंगाधर : यही सुनने में आ रहा है कि सुंदराबाबा स्त्रियों के साथ कुकर्म करते हैं। सब को तो मूर्ति पूजा के लिए मना करते हैं लेकिन स्वयं छिप-छिप कर मूर्ति पूजा करते हैं।

सॉटन : मुझे तो हमेशा से हिन्दू साधुओं पर संदेह होता था। हिन्दू साधु कदापि अच्छे नहीं हो सकते। सुंदरदास भी उन्हीं में से एक हैं। अन्य साधुओं से किसी तरह से अलग नहीं हैं।

गंगाधर : मुझे लगता है सुंदराबाबा पागल हो गए हैं।

लेसी : वे पागल नहीं हैं। पाखंडी हैं। उन्होंने हमारे विरुद्ध मुक़दमा करवा के हमारा अपमान किया है।

सॉटन : अब हम को उन के साथ कोई संबंध नहीं रखना चाहिए। गंगाधर, अब आप उन के आश्रम में कभी नहीं जाएँगे।

(अपने कुछ शिष्यों के साथ सुंदरदास का प्रवेश।)

सुंदरदास : मैं ऐसे बिन बुलाए आ गया, इस के लिए क्षमा चाहता हूँ।

लेसी : *(किंचित् क्रुद्ध हो कर)* आप यहाँ क्यों आए हैं? आप के पास हमारा कोई प्रयोजन नहीं है।

सुंदरदास : शांति! शांति! *(शिष्यों से)* बच्चो, यहाँ बैठ जाइए। *(सभी शिष्य बैठ जाते हैं)* यहाँ पर सभी लोग उपस्थित हैं—पादरी विलियम बांपटन, पादरी चार्ल्स लेसी, पादरी आमोस सॉटन। यहाँ पादरी गंगाधर सारंगी भी हैं। देख रहा हूँ यहाँ तो राधूदास भी हैं। अच्छी बात है। इतने सारे लोगों के सामने मैं अपना स्वरूप दिखाऊँगा।

लेसी : आप से हमारा कोई संबंध नहीं है।

सुंदरदास : बच्चो, धैर्य रखो। मैं जो कहने जा रहा हूँ धैर्यपूर्वक सुनिए। मैं आप को त्राणकर्ता ईसा मसीह के बारे में बताऊँगा। यीशु एक शिशु समान हैं। यीशु ने शिशुओं के बारे में क्या कहा था, जानते हैं? बालकों को मेरे पास आने दो और उन्हें मना न करो। क्योंकि परमेश्वर का राज्य उन जैसों का ही है। मैं तुम से सच कहता हूँ कि जो कोई परमेश्वर के राज्य को बालक की नाईं ग्रहण न करे, वह उस में कभी प्रवेश नहीं कर पाएगा। ऐसा ही शिशु था शिशु कृष्ण। शिशु कृष्ण, जैसे थे वैसे ही थे यीशु।

बांपटन : *(उत्तेजित हो कर)* यह मिथ्या है। यह घोर पाप की बात है।

सुंदरदास : मैं समझाता हूँ, किस प्रकार, जो यीशु हैं, वही कृष्ण हैं। कृष्ण का जन्म यदुवंश में हुआ, यीशु का जन्म यूदावंश में। दोनों का जन्म हुआ पशु पालक गृह में। दोनों ही राजा से भयभीत थे। मेरी और देवकी, दोनों

ही दिव्य तेज़ से गर्भवती हुई थीं। कंस के भय से कृष्ण को गोकुल भेजा गया था। हेरद के भय से यीशु को मिस्र में छिपाया गया। कंस और हेरद ने शिशु-हत्या की थी। यीशु और कृष्ण दोनों की बाँहें आजानुलंबित थीं। दोनों के वस्त्र लोहित वर्ण। काम्यक वन में कृष्ण ने साक कनिका से बारह हज़ार विप्रों को तृप्त किया था; और यीशु ने पाँच रोटियों और दो मछलियों से पाँच हज़ार लोगों को भोजन कराया। यीशु समुद्र के ऊपर चले थे। कृष्ण सागर के गर्भ में गए थे। कृष्ण ने पत्थर से मक्खन बनाया। यीशु ने जल से मदिरा। दोनों ने ही कुबड़े व्यक्ति को सीधा किया था। कृष्ण के बारह बाल सखा थे, यीशु के बारह शिष्य बने।

सॉटन : ये सब कुछ मिथ्या है। ये सब कुप्रचार है। बाइबिल में लिखा है, झूठे भविष्यवक्ताओं से सावधान रहो, जो भेड़ों के भेष में तुम्हारे पास आते हैं, परंतु अंदर से फाड़ने वाले भेड़िए हैं।

लेसी : और सुनिए—उस समय यदि कोई तुम से कहे कि देखो, मसीहा यहाँ है या वहाँ है। तो तुम विश्वास न करना। क्योंकि झूठे मसीहा और झूठे भविष्यवक्ता उठ खड़े होंगे और बड़े चिह्न और अद्‌भुत काम दिखाएँगे, कि यदि हो सके तो चुने हुओं को भी भरमा दें।

बांपटन : *(बहुत मुश्किल से उठ कर)* सुंदरदास, अत्यंत पाप की बातें बता रहे हैं।

सुंदरदास : पादरी बांपटन, आप अस्वस्थ हैं। मैं चमत्कार से आप को स्वस्थ कर दूँगा। जैसे ईसा मसीह ने अंधे को दृष्टि, मूक को वाणी, बधिर को श्रवण शक्ति दी थी और मृतक को जीवन दिया था।

बांपटन : आप के देवी-देवता तो हत्या करते हैं, हमारे यीशु जीवनदान करते हैं।

सुंदरदास : साधु! साधु! मैं भी जीवनदान करूँगा। कलियुग का ईसा मसीह मैं हूँ। समाचार ही हमारी वाणी है। मेरे भी बारह शिष्य हैं। *(गिनने लगते हैं)* देयतारी नायक, गंगा महांती, कृपासिन्धु साहू, सुदर्शन राउत, परमेश्वर मल्ल, पुरुषोत्तम महापात्र, वायदेव साहू, परशुराम राउत, हरी पाढ़ी, रामचंद्र याचक, गंगाधर सारंगी। ये हो गए ग्यारह शिष्य। और एक है *(वे राधूदास के पास जाते हैं)* ये राधूदास। राधूदास, तुम तो हमारे जूडस हो। जूडस इसकॉरियट्।

बांपटन : घोर पाप! घोर पाप! *(मन ही मन बाइबिल पढ़ते हैं)* और जब वह जैतून के पहाड़ पर बैठा था, तो चेलों ने उस के पास आ कर कहा, हमें बताएँ कि ये बातें कब होंगी, कब होंगी? और तेरे आने का और जगत के अंत का क्या चिह्न होगा? यीशु ने उन को उत्तर दिया, सावधान रहो, कोई तुम्हें न भरमाने पाए। क्योंकि बहुत से ऐसे होंगे जो मेरे नाम से आ कर कहेंगे, कि मैं मसीहा हूँ और बहुतों को भरमाएँगे। सुंदरदास आप लोगों को बहका रहे हैं, वह एक पाखंडी हैं।

सुंदरदास : *(इन सब बातों को अनसुना करते हुए)* क्यों बच्चो, समझ गए! मैं ही कृष्ण हूँ, मैं ही यीशु हूँ।

लेसी : कृपा करके आप यहाँ से चले जाइए।

सुंदरदास : *(पागलों की तरह बोलते ही रहते हैं)* मैं तो चला जाऊँगा परंतु अपने शिष्यों को भी साथ ले कर जाऊँगा। अच्छा, शिष्यों को रहने देते हैं। वे मेरी वाणी का प्रचार करेंगे। मेरी वाणी ही यीशु की वाणी है। मैं केवल अपने पुराने दास राधूदास जूडस को साथ ले कर जाऊँगा।

लेसी : आप निकल जाइए, नहीं तो आप को निकलवाना पड़ेगा।

सुंदरदास : मैं अपने आप चला जाऊँगा। लेकिन साथ में राधू को ले जाऊँगा।

राधू : मैं आप के साथ नहीं जाऊँगा।

सुंदरदास : क्या कहा रे राधू? तेरे मुँह से तो बहुत बातें निकल रही हैं। तुम क्या सुंदरदास को नहीं पहचानते। राधूदास जूडस इसकॉरियट। तुम नहीं चलोगे तो जाओगे कहाँ? अच्छा अभी रुको। कभी न कभी तो

आओगे। यदि हमें पता चला कि तुम ईसाई बन गए तो याद है न, तब भैरपुर में तुम्हारी क्या पिटाई हुई थी? मैं तो ऐसी पिटाई करूँगा कि तुम्हारी हड्डी-पसली एक हो जाएगी। अच्छी तरह याद रखना। अच्छा बच्चो अब चलो, चलें। विदा पादरी लेसी। विदा पादरी सॉटन, विदा पादरी बांपटन।

(सुंदरदास अपने शिष्यों के साथ तेज़ी से निकल जाते हैं। कुछ पल ख़ामोशी के बाद।)

लेसी : हम लोगों को इस बारे में थाने में रिपोर्ट करनी चाहिए।

सॉटन : ब्रदर लेसी, आप धैर्य रखिए। ऐसी अधीरता से काम नहीं करना चाहिए। सुंदरदास अब हमारे शत्रु हैं। हमें सरेआम अपमानित करके चले गए। इस बात का अवश्य प्रतिशोध लेना होगा।

बांपटन : *(तकलीफ़ से उत्तेजित हो कर खड़े हो जाते हैं)* झूठे भविष्यवक्ताओं से सावधान रहो, जो भेड़ों के भेष में तुम्हारे पास आते हैं, परंतु अंदर से वे फाड़ने वाले भेड़िए हैं।

(बोलते-बोलते गिर पड़ते हैं। सब लोग उन्हें उठाने के लिए पहुँचते हैं।)

सॉटन, लेसी : ब्रदर बांपटन!

तीसरा दृश्य

(लेसी के बँगले की बैठक। सुबह का समय। सॉटन और लेसी बैठे हुए हैं। पिछले हिस्से में ऐन और मरुआ अपने-अपने काम में लगी हैं। साथ में बलभद्र भी हैं।)

लेसी : देखते ही देखते दो वर्ष और बीत गए। मुझे ओड़िशा आए हुए पूरे नौ वर्ष हो गए।

सॉटन : कभी-कभी मैं सोचता हूँ—इस बीच हम ने बहुत कुछ कर लिया। लेकिन फिर सोचता हूँ तो लगता है, कुछ भी तो नहीं किया।

लेसी : जब मैं विलायत छोड़ कर यहाँ आ रहा था, उस समय मेरे दोस्तों ने मुझे कहा था—अगर ओड़िशा में किसी को ईसाई बनाने का विचार है, तो तुम्हारा विचार ग़लत है। उन का कहना था कि जगन्नाथ के भक्तों में से कोई भी ईसाई नहीं बन सकता। लेकिन मुझे ईश्वर पर पूरा भरोसा था। मिशन खोलने के छह वर्षों के बाद हमारे निरंतर प्रयास का फल मिल गया। वह भी एक स्वाभिमानी ब्राह्मण ने हमारे पास आ कर हमारा धर्म ग्रहण किया।

सॉटन : गंगाधर हमारे एक उत्तमकर्मी हैं। हमारे धर्म के लिए उन्होंने अपना घरबार, ज़मीन-जायदाद सब कुछ गँवा दिया।

लेसी : जो भी हो। हम को चैपल के पास की ज़मीन मिल ही गई और हम ने वहाँ गंगाधर के रहने के लिए घर बना दिया।

सॉटन : हम को ज़मीन इतनी आसानी से मिल जाएगी, यह हम ने सोचा भी न था। लेकिन राधूदास हमेशा कहते रहते थे—ज़मीन का मालिक अधिक पैसे मिलने पर ज़मीन ज़रूर दे देगा।

लेसी : मैं सोचता हूँ, कुछ और पैसे दे देने पर वह अपनी हनुमान की मूर्ति भी हमें बेच देता। इस से हम लोग जनता के सामने मूर्ति तोड़ कर लोगों को विश्वास दिला सकते थे कि पत्थर की मूर्ति में कोई शक्ति नहीं होती। *(थोड़ा रुक कर)* ब्रदर सॉटन, आप अभी कुछ समय पहले यह क्यों कह रहे थे कि मैं सोचता हूँ तो लगता है हम ने कुछ भी नहीं किया?

सॉटन : मैं यहाँ आने के बाद सोच रहा था—एक न एक दिन सारा ओड़ीसा ईसाई बन जाएगा। लेकिन इतने वर्षों के बाद भी हुआ क्या? सिर्फ़ कुछ ही लोग ईसाई बने। एक टूटे-फूटे मंदिर के ऊपर चैपल बनाया। लेकिन कहाँ है हमारे सपनों का ओड़ीसा? मंदिरों को तोड़ कर मिट्टी में मिला देने का सपना पूरा कहाँ हो सका? पुरी का जगन्नाथ मंदिर पहले की तरह ही सिर उठाए खड़ा है। पहले की तरह ही हज़ारों तीर्थ यात्री आ-आ कर पत्थर के भगवान के आगे सिर झुका रहे हैं। हिन्दुओं में पहले जैसी ही मूर्ति पूजा, जाति-प्रथा जारी है। हम लोग गाँव-गाँव, हाट-बाज़ार, सभी स्थानों पर जा-जा कर प्रचार कर रहे हैं। लेकिन उस प्रचार से फ़ायदा क्या है, ब्रदर लेसी?

लेसी : ब्रदर सॉटन, आप व्यर्थ ही निराश हो रहे हैं। आप अपने बारे में सोचिए। आप ने ओड़िया भाषा में एक व्याकरण की पुस्तक लिख कर प्रकाशित की जो कि ओड़िया भाषा की पहली व्याकरण पुस्तक है। इस पुस्तक से ओड़िया भाषा की प्रगति हो सकेगी।

सॉटन : ओड़िया भाषा क्या मेरे ही व्याकरण की पुस्तक पर निर्भर है, ब्रदर लेसी? मैं ने तो व्याकरण लिखी, हमारे धर्म के प्रचार के काम आने के लिए। ओड़िया भाषा की प्रगति के लिए नहीं। सोचा जाए तो हम लोगों ने जो कुछ भी किया, सिर्फ़ अपने धर्म-प्रचार के लिए। यहाँ के लोगों के लिए किया ही क्या?

लेसी : वह तो कंपनी का काम है।

सॉटन : कंपनी का काम! पैसे कमाने के अलावा ईस्ट इंडिया कंपनी का और कोई भी उद्देश्य है क्या? बिना किसी झंझट के शासन अच्छी तरह चलता रहे, इस के लिए कंपनी ने तो जगन्नाथ मंदिर के पंडे-पुजारियों के साथ भी समझौता किया हुआ है।

(तीन ग्रामीणों का प्रवेश। वे लेसी और सॉटन को देख कर, सिर हिलाते हैं।)

लेसी : आइए, आइए। आप का स्वागत है।

ग्रामीण : हमारे गाँव में एक बूढ़े पादरी घुड़सवारी करके आया करते थे। वे आजकल दिखाई नहीं देते। हम ने सोचा शायद यहाँ रहते होंगे। इधर से हम गुज़र रहे थे। सोचा मिलते चलें।

सॉटन : आप लोग भाई बांपटन की बात कर रहे हैं? दो वर्ष पहले उन की मृत्यु हो गई। उन की आत्मा को शांति मिले।

ग्रामीण : मृत्यु हो गई? अरे! अरे! बहुत ही अच्छे आदमी थे पादरी बाबा। सभी से बड़े ही प्यार से बातें करते थे। उन को कितना भी परेशान कर लो, उन के चेहरे पर क्रोध कभी नहीं दिखता था।

लेसी : भाई सॉटन और मैं भी भाई बांपटन जैसे पादरी हैं। आप लोग बैठिए। हम आप को अपनी पुस्तक देंगे। आप को ईसा मसीह की वाणी भी सुनाएँगे।

ग्रामीण : नहीं, हम इन काग़ज़ों का क्या करेंगे? पादरी बाबा हम सब से बहुत प्यारी बातें करते थे। इसलिए हम ने सोचा चलो देख लें, वो कैसे हैं। वैसे हमें ईसाइयत से क्या मतलब?

ग्रामीण : बाबा के बाल-बच्चे हैं?

लेसी : हाँ। उन की पत्नी है और दो बेटे भी हैं। भाई बांपटन की मृत्यु के बाद वे सब लोग विलायत वापस लौट गए।

सॉटन : पुरी में भाई बांपटन की समाधि है। आप की इच्छा हो तो वहाँ जा कर देख सकते हैं।

ग्रामीण : हम लोग जगन्नाथ के दर्शन के लिए तो जा नहीं पाते, समाधि देखने क्या जाएँ? बेचारे बाबा इतने अच्छे थे! स्वर्गवासी हो गए।

ग्रामीण : चलो भाई चलें, अब यहाँ और बैठ कर क्या करेंगे!

(आपस में बातें करते हुए गाँव वाले चले जाते हैं।)

सॉटन : बांपटन की मृत्यु के बाद मैं जितने भी दिन पुरी में रहा, शार्लट की क़ब्र पर जाते समय बांपटन की क़ब्र पर भी फूल चढ़ा कर आता था।

लेसी : बांपटन ईश्वर के प्रिय थे। इसीलिए ईश्वर ने उन्हें शीघ्र ही अपने पास बुला लिया। वहाँ ईसा मसीह ने उन से कहा होगा, वैल डन, गुड एंड फ़ेथफुल सर्वेंट! वहाँ पर वे ज़रूर शार्लट से मिलते होंगे।

सॉटन : इतने अच्छे व्यक्ति थे। लेकिन मरते समय उन को कितने कष्ट झेलने पड़े। अंत समय में तो उन का दिमाग़ भी ख़राब हो गया था। फिर भी जिस दिन उन की मृत्यु हुई उस दिन अंतिम साँस लेने से पहले वे बाइबिल सुना रहे थे, "हे यहोवा! क्रोध में आ कर मुझे झिड़क न दे, और न जलजलाहट में आ कर मेरी ताड़ना कर! क्योंकि तेरे तीर मुझ में लगे हैं, और मैं तेरे हाथ के नीचे दबा हूँ।"

लेसी : मुझे अफ़सोस रह गया, मैं उन की मृत्यु के पहले उन के पास नहीं पहुँच सका। सिस्टर बांपटन ने हमें ख़बर तो कर दी थी लेकिन मुझे यहाँ से निकलने में देर हो गई। मैं जब तक वहाँ पहुँचा, उन का शरीर ताबूत में रखा जा चुका था। हम लोगों ने उन के ताबूत को ले जा कर शार्लट की क़ब्र के पास ही दफ़नाया।

सॉटन : पुरी के डॉक्टर मुझे बांपटन के अंतिम दिनों की बातें बता रहे थे। एक दिन बांपटन से नर्स ने पूछा, आप कैसे हैं? बांपटन ने कहा, "मैं स्वर्ग जा रहा हूँ।" सिस्टर बांपटन ने उन्हें गोद में लिटा कर पूछा, "आप स्वर्ग जा रहे हैं?" बांपटन ने कहा, "हाँ!" यही उन की अंतिम बातें थीं।

लेसी : क्या पता, अंतिम क्षणों में वो क्या सोच रहे थे? मैं जब बांपटन के बारे में सोचता हूँ, मुझे याद आने लगता है कि जब मैं उन से पुरी में मिला था उन दिनों वे हमेशा घुड़सवारी करके प्रचार के लिए उत्सुक रहते थे। मैं तो सोचता हूँ, मरते वक़्त भी उन की अंतिम बात यही रही होगी कि मुझे स्वर्ग जाना है। मेरा घोड़ा लाओ!

सॉटन : ओड़िशा में हम लोगों ने अपने बहुत से प्रियजनों को खो दिया। देखते ही देखते ब्रदर पेग्स की तीन-तीन छोटी बच्चियाँ गुज़र गईं। ब्रदर जोशूआ क्रपर, ब्रदर बांपटन भी स्वर्गवासी हो गए। मेरी पत्नी और साथ में पाँच महीने का मेरा बेटा भी मुझे अकेला छोड़ कर चल बसे। कितना कुछ हो गया इस बीच! बाद में मेरा बालासोर का घर बह गया। ओड़िशा में अकाल पड़ गया। हमें दो-दो बार पुरी का मिशन बंद करना पड़ा। इस बार तो मिशन बंद करने का काम मुझे सौंपा गया।

लेसी : आप की तबीअत ठीक हो जाने पर जब आप लौटेंगे, तब पुरी-मिशन फिर से चल पड़ेगा।

सॉटन : कौन जाने? मेरी तबीअत तो ख़राब होती चली जा रही है। मैं भी कुछ दिनों बाद ओड़िशा छोड़ कर अमेरिका चला जाऊँगा। फिर कब तक वापस आऊँगा, क्या पता?

लेसी : आप शीघ्र स्वस्थ हो जाएँगे। ओड़िशा के प्रति हमारे अनेक दायित्व हैं।

सॉटन : हो सकता है, हम लोग और भी कुछ लोगों को ईसाई बना लें। यही तो?

लेसी : जिस को हम ने अपना पहला ईसाई बनाने के लिए सोचा था उस ने तो हमारे साथ विश्वासघात किया।

सॉटन : सुंदरदास ईसाई नहीं बने तो क्या हुआ? उन के शिष्य तो ईसाई बन गए। गंगाधर सारंगी, रामचंद्र याचक, कृपासिन्धु साहू, कमली, डाआनी, दयितारी नायक, करुणा साहू, फिणु पाढ़ी, हरी पाढ़ी, त्रिलोचन, वामदेव, बलराम—ये सब तो ईसाई बन गए।

लेसी : अंत में तो हम ने राधूदास को भी ईसाई बना लिया।

सॉटन : हाँ, अच्छी बात है। लेकिन जिन सुंदरदास के बारे में हम ने इतना सोचा था कि वे हमारे बन कर हमारे

धर्म के प्रचार में सहायता करेंगे, वे ही बन गए हमारे परम शत्रु।

लेसी : वे एक पाखंडी मसीहा बन गए। उन का दिमाग़ भी ख़राब हो गया।

सॉटन : कभी-कभी मुझे लगता है, हमीं लोगों ने उन्हें पागल बना दिया। उन का पागलपन तब चरम सीमा पर पहुँच गया जब राधूदास भी ईसाई बन गया।

लेसी : उन्होंने राधूदास को बहुत मारा।

सॉटन : मारने की वज़ह से हम ने उन पर केस करके उन को जेल भी तो भिजवाया। उन्होंने हम को कचहरी में घसीट कर हम पर जुर्माने का बांड भरवाया था। हम ने उसी का प्रतिशोध लिया।

लेसी : न्याय-विचार से उन्हें जेल भेजा गया। सुंदरदास स्वयं साहेब लोगों की विचार-पद्धति की प्रशंसा किया करते थे।

सॉटन : पिछली बार जब उन्हीं मजिस्ट्रेट ने हमारे विरुद्ध फ़ैसला सुनाया था, हम लोगों ने उस फ़ैसले की निन्दा की थी। इस बार का फ़ैसला हमारे हक़ में होने के कारण हम लोग प्रसन्न हो गए।

लेसी : जो भी हो, सुंदरदास को राधूदास की पिटाई नहीं करनी चाहिए थी। राधूदास तो अपनी मर्ज़ी से ईसाई बने थे। किसी ने उन्हें ईसाई बनने के लिए मज़बूर नहीं किया था।

सॉटन : मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि ये लोग स्वर्ग जाने के लालच में ईसाई तो बन गए, लेकिन इन्हें इस जन्म में क्या मिला? इन्होंने तो इस जन्म का सुख-चैन भी खोया।

लेसी : आप ये सब क्या बोल रहे हैं? ब्रदर सॉटन! हम लोगों ने तो नरकगामी लोगों का उन के दुर्भाग्य से उद्धार किया। हम ने तो पापियों के भविष्य को उज्ज्वल बना दिया।

सॉटन : इन सब का परिवार इन से बिछुड़ गया। इन लोगों ने अपना घर-बार खो दिया। पति-पत्नी बिछुड़ गए। माता-पिता बच्चों को साथ नहीं रख सके। गाँव में दंगे-फ़साद होने लगे। सब तरफ़ अशांति पैदा हो गई। मैं सोचता हूँ कि यदि हम लोग यहाँ नहीं आते तो ऐसा क्यों होता?

लेसी : ब्रदर सॉटन, आप अस्वस्थ हैं। विश्राम कर लीजिए।

सॉटन : परेशान मत होइए। मैं ठीक हूँ।

लेसी : हम ने यहाँ आ कर सिर्फ़ पापियों को ईश्वर की वाणी ही नहीं सुनाई, और भी बहुत से काम किए हैं। जैसे, इन के लिए स्कूल खुलवाए, रोगियों का इलाज़ करवाया। कंधग्राम के मेरियायों को बचाया। पुरी मंदिर की कुप्रथाओं को दूर करने के लिए भरसक कोशिश की।

सॉटन : यदि हम न आते तो?

लेसी : तब यहाँ के लोग पहले की तरह अज्ञान एवं अंधकार के गर्त में डूबे रहते।

सॉटन : हमारे आने से वे प्रसन्न तो हैं?

लेसी : क्यों नहीं? *(उन्होंने पुकारा)* मेरी, डेविड, राधूदास। *(तीनों उन के पास आते हैं)* तुम सब क्या कहते हो? तुम लोग प्रसन्न हो या नहीं? मेरी, तुम गाँव में अछूतों की तरह रहती थीं। गाँव वाले तुम को दुत्कारा करते थे। तुम यहाँ पर खुश तो हो? तुम्हें भरपेट खाना, पहनने के लिए अच्छे कपड़े मिलते हैं? डेविड! तुम बताना किस प्रकार तुम गाँव में पले-बड़े हुए थे। तुम्हारे पिता ने तुम को बेच डाला था। कंध लोग तुम को बलि चढ़ाने जा रहे थे। तुम को यहाँ रोटी-कपड़ा मिल रहा है। पढ़ना-लिखना भी सीख रहे हो। और आप राधूदास! सालों साल सुंदरदास एवं अन्य बाबाओं के पीछे-पीछे गाँव-गाँव घूमते रहते थे। उन लोगों की सेवा करने से भी जो ज्ञान आप को प्राप्त न हो सका, वो सब ज्ञान हम ने आप को दिया। क्या कहते हो तुम लोग, मेरी, डेविड,

राधूदास! यह ठीक बात है या नहीं?

(तीनों सिर हिला कर हाँ करते हैं।)

सॉटन : मरुआ, बलभद्र, राधूदास। आप लोग क्या ऐसा ही जीवन चाहते थे? क्या आप इस तरह के जीवन से खुश हैं?

(कोई जवाब नहीं देता। इसी बीच सुंदरदास आ पहुँचते हैं। सब लोग उन को देख कर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उन की दाढ़ी बढ़ी हुई है। चेहरे पर पहले जैसी न तो मुस्कान है और न ही चंचलता। वे सब से हाथ मिलाते हैं।)

सुंदरदास : आप लोग मुझे देख कर चकित हो गए?

लेसी : आप यहाँ आएँगे, हमें आशा नहीं थी।

सॉटन : आप का स्वागत है, कृपा करके बैठ जाइए।

सुंदरदास : *(बैठने के पश्चात)* मैं आज ही जेल से रिहा हुआ हूँ। जेल में मेरे अच्छे कार्यों की वजह से कुछ दिनों पहले ही रिहाई मिल गई। सोचा, कुजीवर लौटने से पहले आप लोगों से मिल कर धन्यवाद देता जाऊँ।

लेसी : धन्यवाद?

सुंदरदास : हाँ, मुझे जेल भिजवाने के लिए धन्यवाद!

लेसी : आप ने राधूदास को पीटा था। इसलिए उन्होंने आप पर केस किया था।

सुंदरदास : आप को शायद मालूम नहीं। हमारे और राधूदास के बीच क्या रिश्ता है। पहले मैं जब उस की ताड़ना करता था, वह कुछ भी नहीं बोलता था। नहीं, ये मुक़दमा मेरे और राधू के बीच का नहीं था। और आप पर जो मुक़दमा कमली और डाआनी को ले कर किया गया था, वह मुक़दमा उन्हीं के पतियों ने किया था, मैं ने नहीं किया था। वह भी केवल एक बहाना था। राधू, कमली, डाआनी और उन के पति—वे लोग तो हमारे अस्त्र थे। युद्ध तो था मेरा और आप का। राधूदास मेरा शत्रु नहीं है। कमली और डाआनी के पति भी आप के शत्रु नहीं हैं। शत्रुता तो है मेरे और आप के बीच।

लेसी : आप ने हमारे धर्म-प्रचार में बाधा उत्पन्न की। आप के जो शिष्य ईसाई बन गए, आप ने उन्हें डाँटा, फटकारा। इसलिए आप हमारे शत्रु हो गए।

सुंदरदास : आप भी कभी मुझे बंधु समझा करते थे। जिन दिनों मैं आप की दस आज्ञाओं को अपना कर उस का प्रचार किया करता था, उस समय आप ने मुझे बधाई दी थी लेकिन जब से. . .

लेसी : *(सुंदरदास की बात काटते हुए)* आप ने खुद ईसा मसीह बनने का ढोंग किया।

सॉटन : ब्रदर लेसी, उन को बोलने दीजिए।

सुंदरदास : भाई सॉटन, मैं ने जो कहा, मुझे जेल भिजवाने के लिए धन्यवाद देता हूँ, उस बात का कोई ख़ास मतलब था। लोग समझते हैं कि तपस्या के लिए सब से अच्छा स्थान है निर्जन आश्रम, या फिर सुदूर हिमालय। लेकिन मैं ने देखा कि इन सब से और भी उत्तम स्थान है बंदीगृह। जेल में मनुष्य अकेला हो जाता है, यह बात नहीं है। जेल में मनुष्य का गर्व, साहस, अभिमान, अहंकार, सब का लोप हो जाता है। मनुष्य कितना तुच्छ है, हर क्षण उसे इस का अनुभव होता रहता है। वही है तपस्या का पहला पाठ।

(सुंदरदास कुछ पल के लिए चिन्तामग्न हो जाते हैं।)

सॉटन : आप अपनी जेल-अनुभूति के बारे में बता रहे थे।

सुंदरदास : हाँ, मैं अपनी जेल की उपलब्धियों के बारे में बता रहा था। वहाँ रहते हुए मैं ने अपने संपूर्ण जीवन का

विच्छेदन किया। मैं क्या था, क्या चाहता था, और क्या बना। जिन दिनों मैं आठगढ़ के राजा का सेनाध्यक्ष था, उन दिनों भी प्रसन्न रहता था। शिकार के समय जीव-जंतुओं का वध होते देख आनंदित होता था। परंतु एक दिन मैं ने अपनी जीवनधारा बदल डाली।

सॉटन : आप ने तो अपने जीवन को बदला और अधिक उन्नत जीवन के लिए।

सुंदरदास : नहीं बता सकता क्यों? उस क्षण मुझे लगा था कि मैं ने अब तक जो जीवन व्यतीत किया, वह ग़लत था। मैं जो कुछ भी करता आया हूँ, वह सब अर्थहीन है। मैं ने अपने अतीत का विश्लेषण किया। मैं ने विचार किया कि अपने भविष्य को मैं किस तरह बनाऊँ। उस के लिए हम ने शास्त्रों का अध्ययन किया। लोगों के साथ वाद-विवाद किया। अंत में कुजीवर में अकेले बैठ कर ध्यान किया। ध्यान से एक निर्णय पर पहुँच सका। जैसे जीवन, समाज और आचार-व्यवहार के बारे में।

सॉटन : आप ने कुजीवर आश्रम की स्थापना की।

सुंदरदास : उस समय मैं ने आश्रम की स्थापना के बारे में नहीं सोचा था। हमारे समाज में साधु-संतों के प्रति लोगों की इतनी भक्ति है कि आश्रम की स्थापना अपने आप हो गई। मैं कौन हूँ, मेरा धर्म क्या है? मैं किस पर विश्वास करता हूँ, सब कुछ जानने से पहले ही लोगों ने मेरे लिए आश्रम बना दिया। मेरे पास शिष्य आ गए और मैं बन गया सुंदरदास।

लेसी : हिन्दू-धर्म में अनेक बनावटी आश्रम और ढोंगी-संन्यासी हैं।

सुंदरदास : केवल हिन्दू-धर्म में ही क्यों? हर धर्म में ढोंगी लोग हैं। किस धर्म में प्रवंचक नहीं हैं? किस धर्म को ग़लत कार्यों के लिए, अनर्थ एवं युद्ध के लिए इस्तेमाल नहीं किया गया? वैसे मैं इन की बात नहीं कर रहा था। मैं बता रहा था अपनी बात।

सॉटन : कृपा करके आगे बताएँ, आप अपने जीवन परिवर्तन की बात बता रहे थे।

सुंदरदास : हाँ, तब मेरी समझ में आ गया, जीवन कैसा होना चाहिए। परंतु मनुष्य के लिए क्या इतना आसान है कि वह जैसा जीवन चाहेगा, वैसा ही पा सकेगा? समाज अनेक माँगें करता है मनुष्य से। जैसे मुझे देखिए। मैं सुंदरदास का सामान्य जीवन चाहता था, लेकिन मेरे ऊपर लाद दिया गया साधु सुंदरदास का जीवन। साधक से मैं बन गया साधु। मैं अपना सामान्य जीवन व्यतीत करने की बजाए बन गया मठाधीश।

एक राजा बनने के जंजाल से मठाधीश बनने का जंजाल कुछ कम नहीं है। उस समय व्यक्ति अपना व्यक्तिगत जीवन नहीं जी सकता। उसे वैसा ही जीवन व्यतीत करना पड़ता है जैसी दूसरों की इच्छा हो। और यह जीवन भी कोई कम यातनापूर्ण जीवन नहीं है। आश्रम बनवा कर उस में मुझे रखने के बाद यहाँ भीड़ जमा होने लगी। आश्रम में आए लोगों को मैं प्रवचन सुनाने लगा। इतने दिनों के अध्ययन, चिन्तन, मनन के बाद जो कुछ उपलब्धि हुई, वह सब मैं ने लोगों को सुनाई। कुछ लोगों को बातें पसंद आईं और कुछ लोगों ने इस का विरोध किया। मेरे कुछ शिष्य बने। लोगों को मैं ने अपना मत मनवाने के लिए प्रेरित करने की कोशिश की।

सॉटन : जो उचित है एवं सत्य है उस का प्रचार करना प्रत्येक उत्तम व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

सुंदरदास : उत्तम व्यक्ति का पहला कर्त्तव्य है स्वयं उत्तम जीवन व्यतीत करना। परंतु मैं निरंतर प्रयत्न में लगा रहा, किसी तरह लोग मेरे मत से सहमत हो सकें। मूर्ति-पूजा, जाति-भेद का प्रभाव हमारे समाज में इतना गहन है कि लोगों के मन से हटाना मेरे लिए भी संभव नहीं हो सका। जब मैं तर्क और उपदेश के द्वारा लोगों को प्रेरित करने में असमर्थ हो गया तब मैं ने उन के मन में भय और विश्वास पैदा करने के लिए चमत्कार का सहारा

लिया। जिन को यह विश्वास हो जाता हो कि शून्य से फूल तोड़ कर लाया जा सकता है, वह तो कुछ भी विश्वास कर सकते हैं।

लेसी : महापुरुषों के लिए चमत्कार दिखाना संभव है।

सुंदरदास : मैं अपने शिष्यों के लिए महापुरुष बन गया। कृपासिन्धु, देविका के बच्चे जन्म के साथ ही मर जाया करते थे। मेरे पास आने के बाद उन के तीन-तीन स्वस्थ बच्चे पैदा हुए। उन्होंने समझ लिया कि यह सब कुछ हमारे कारण हो सका। लेकिन जब कमली का बच्चा नहीं बच सका, लोगों ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। इस तरह के मिथ्यावाद से मैं महान बन गया।

सॉटन : आप जो उपदेश दिया करते थे वे तो सच ही होते थे।

सुंदरदास : व्यक्ति को दूसरों को उपदेश देने से पहले उस का पालन स्वयं करना चाहिए। जैसे मैं उपदेश दिया करता था, क्रोध नहीं करना चाहिए। यह कहना कितना आसान था परंतु मैं स्वयं अपने क्रोध पर क़ाबू नहीं पा सका।

सॉटन : मनुष्यमात्र ही दुर्बल और असंपूर्ण है।

सुंदरदास : यह केवल मेरी दुर्बलता नहीं थी। मैं तो सोचता हूँ कि मेरा विश्वास ही संपूर्ण नहीं होगा। मरुआ ने उस समय ठीक ही कहा था। मैं हमेशा कहता था कि स्त्री-पुरुष एक समान हैं। लेकिन गंगाधर को ईसाई बनाना और कमली, डाआनी को ईसाई बनाना मैं एक समान क्यों नहीं मान सका? मैं समझता हूँ यह मेरे स्वयं का अभाव था।

आज मैं जब कारागार से छूटा, पता नहीं कैसे ख़बर पा कर हमारे बहुत से शिष्य बाहर मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन लोगों ने सोचा, मैं उन से कुछ बोलूँगा। परंतु उस से पहले तो मुझे स्वयं अपने विश्वास को दृढ़ करना होगा। इसलिए उन सब से विदा ले कर मैं आप के पास चला आया।

(सुंदरदास एकदम ख़ामोश हो जाते हैं, जैसे उन की सारी बातें पूरी हो गई हों।)

सॉटन : आप कुछ हमारे और अपने संबंध के बारे में बता रहे हैं।

सुंदरदास : हाँ। आप से मेरा व्यक्तिगत संबंध होने से पहले मेरा संबंध हुआ आप के धर्मग्रंथ के साथ। मुझे दस आज्ञाओं की पुस्तक पढ़ने से पहले यह नहीं मालूम था कि बाइबिल क्या है? ईसा मसीह कौन हैं? मैं ने दस आज्ञाओं को इसलिए नहीं अपनाया कि वे किसी शास्त्रों में लिखी हैं या उस को ईश्वर ने कहा है। बल्कि मैं ने उन्हें अपनाया उन आज्ञाओं के अच्छे उपदेशों के कारण। मैं ने जब ईसा मसीह के बारे में पढ़ा, उन्हें उन की महानता के लिए मन ही मन पूजा।

लेसी : लेकिन बाद में आप हमारे विरुद्ध हो गए।

सुंदरदास : आप ने तो मुझे अपनी दस आज्ञाओं का प्रचार करने के लिए नहीं कहा था। मैं ने स्वयं किया था। उसी प्रकार आप ने हमारे शिष्यों को हम से नहीं माँगा था, मैं ने स्वयं भेजा था उन को आप के पास आप की सहायता के लिए। परंतु आप ने तो मेरे कार्य को ग़लत समझा।

लेसी : आप हमारे धर्म पर विश्वास करते थे, इसलिए हम लोग चाहते थे कि आप हमारा धर्म भी ग्रहण कर लें।

सुंदरदास : आप चाह रहे थे, मैं ईसाई बन जाऊँ, परंतु मैं अपना धर्म छोड़ कर कैसे औरों का धर्म ग्रहण करता? मैं ने जो कुछ उचित समझा, उन बातों का पालन करने में मुझे कोई संकोच नहीं था। मैं मूर्ति-पूजा नहीं करता था। जाति-भेद नहीं मानता था। हिन्दुओं का आचार-विचार नहीं मानता था। इसलिए पंडित-पुरोहित मुझ से रुष्ट रहा करते थे। परंतु मैं उन बातों से चिन्तित नहीं था। मेरे पास जो आता था, मैं उन्हें अपने विश्वास के बारे

में बताया करता था। जिस की इच्छा होती थी वह सुनता था। जिन को मेरी बातों पर विश्वास हो जाता, वह वैसा ही आचरण करता। समस्या तो तब पैदा हुई जब मैं ने आप लोगों की तरह उन को प्रेरित करने की कोशिश की। और जब मैं ने दस आज्ञाओं के प्रचार के लिए लोगों को गाँव-गाँव भेजना आरंभ किया।

सॉटन : आप क्या यह नहीं सोचते जो सत्य है, उसे लोगों में प्रसारित करना उचित है?

सुंदरदास : सब से बड़ा सत्य है मनुष्य। यदि हमारे किसी प्रचार से किसी व्यक्ति का अहित होता हो, व्यक्ति व्यक्ति के बीच समस्या खड़ी होती हो तो ऐसे प्रचार से क्या लाभ?

सॉटन : प्रत्येक धर्म के प्रचार के कुछ नियम होते हैं।

सुंदरदास : कुछ दिनों से लगातार मैं सोचता आ रहा हूँ कि जिस से व्यक्ति को हानि पहुँचती हो उसे कभी धर्म नहीं कहा जा सकता। धर्म तो है विश्वास, अतः विश्वास है एकांत और व्यक्तिगत। धर्म तो व्यक्ति के अंदर होना चाहिए, उस को घर, मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर के अंदर या धर्म को सड़क, हाट-बाज़ार में कोर्ट-कचहरी के अंदर लाने से अमंगल ही होगा। विपत्तियाँ आएँगी, समस्याएँ उपजेंगी। यही सब है हमारी जेल की उपलब्धियाँ।

(सब लोग कुछ पल के लिए शांत हो जाते हैं।)

सुंदरदास : मैं बहुत देर से बोल रहा हूँ। अब आप अपनी बात बताएँ ब्रदर लेसी, ब्रदर सॉटन!

सॉटन : मैं कुछ ही दिनों में ओड़ीसा छोड़ कर जाने वाला हूँ।

सुंदरदास : आप ठीक ही कह रहे हैं, ब्रदर सॉटन। आप बहुत अस्वस्थ लग रहे हैं। आप को जलवायु परिवर्तन की आवश्यकता है। ईश्वर आप का मंगल करें।

लेसी : साधु सुंदरदास, आप चाय लेंगे?

सुंदरदास : *(उठ खड़े होते हैं)* नहीं, आज नहीं। मैं फिर कभी आऊँगा।

(सुंदरदास उन से हाथ मिला कर जाने लगते हैं।)

सुंदरदास : सब का मंगल हो। अरे बच्चो, अरे राधू, अरे मरुआ, अरे बलभद्र, इस परदेस में और कितने दिनों तक यूँही पड़े रहोगे बच्चो? चलो, मेरे साथ घर चलो।

(सुंदरदास चले जाते हैं। उन के पीछे-पीछे राधू, मरुआ, बलभद्र थोड़े झिझकते हुए चले जाते हैं। लेसी सॉटन को कुर्सी पर सहारा देते हुए बैठाते हैं एवं स्वयं भी थक कर बैठ जाते हैं।)

किताबें—1

अरुण कमल

अशोक वाजपेयी का घर और बाहर

कविता कवि से आगे जाती है—उसका अतिक्रमण करती है। सच्ची कविता हद नहीं बाँधती, बल्कि हद को तोड़ती या कम से कम ठेलती है। जो कविता करती है, ज़रूरी नहीं कवि करता हो। कविता अलक्षित न जाये यह शुभकामना की जा सकती है। कवि अलक्षित रह जाये तो कोई ग़म नहीं।

—'भूमिका' की आख़िरी पंक्तियाँ *(घास में दुबका आकाश)*

लेकिन संयोग ऐसा रहा कि अशोक वाजपेयी के मामले में कविता ही लगभग अलक्षित रही, जब कि कवि ज़रूरत से ज़्यादा लक्षित। इतनी तेज़ रौशनी पड़ती रही कि चकाचौंध में वस्तु ही नहीं दिखी। पहली बार एक साथ अशोक वाजपेयी की इन कविता-पुस्तकों और एक विचार-पुस्तक *समय से बाहर* पढ़ते हुए और फिर उन पर लिखने का मन बनाते हुए मैं लगातार संशय में रहा। अब तक जो प्रतिमा बनी थी, निरीक्षण उस के मेल में नहीं आ रहे थे। आज हिन्दी का वातावरण कुल मिला कर ऐसा है कि आलोचना या विचार-व्यापार बहुधा किंवदंतियों के आधार पर चलता है। अलग-अलग कवियों, समीक्षकों, कवि-समूहों के बारे में कोई कथा चल पड़ती है और फिर झूठ-सच का विचार कोई नहीं करता। जब गंभीर विचार-विमर्श और वाद-विवाद का स्थान गप्प ले ले तो ऐसा स्वाभाविक है। इन पुस्तकों को पढ़ने पर अशोक वाजपेयी की जो *मिथ्या* है, जिसे रंजित करने में स्वयं उन का भी हाथ कम नहीं, वो टूटती है और जैसी भी है एक हाड़-माँस की काया हमारे सामने उभरती है जो अमर तो नहीं, फिर भी सगुण है। *समय से बाहर* पुस्तक, मुझे कहने में ज़रा भी संकोच नहीं, कहीं से कलावाद की घोषणा नहीं, बल्कि कला और जीवन के, वर्तमान समाज के, प्रत्यक्ष-परोक्ष संबंधों का सटीक और महत्त्वपूर्ण विश्लेषण है। इसी तरह अशोक वाजपेयी की कविता, शाश्वतता पर अपने आग्रह के बावजूद, मुख्यतः जिजीविषा की कविता है—यहीं इसी नश्वर 'जीवन के आसपास' की कविता, कहीं से पदार्थ-जगत का निषेध नहीं।

अशोक वाजपेयी की कविताओं की मूल भूमि है ठेठ निम्नमध्यवर्गीय क़स्बाई जीवन जिस के प्रति एक अविच्छिन्न अनुराग इन कविताओं में मिलता है। दैनंदिन के मानव-संबंध, माँ-पिता, भाई-बहन-बेटी, घर-परिवार, पुराने मुहल्ले और साथ-साथ बढ़े रूख-पात, पशु-पक्षी—यही वो जीवन है जो शुरू से अंत तक अशोक वाजपेयी की कविताओं का आश्रय है। *घास में दुबका आकाश* की कविता 'इन्हीं दिनों' इस का अनुपम उदाहरण है जहाँ सधे, स्थिर स्वर में, लगभग आवेगहीन निरपेक्षता के साथ माँ की मृत्यु का बखान है। 'अमर मेरी काया', 'स्वर्ग में नरक' और 'पिता के जूते' इसी की संगी कविताएँ हैं। घर का मोह, आरंभिक स्थिरता और सुरक्षा का मोह बारंबार इस खंड की कविताओं में व्यक्त होता है और एक तरह की आवाजाही अतीत और वर्तमान और भविष्य में चलती रहती है—'हम अपने बच्चों को छोड़ जाते हैं पूर्वजों के पास काम पर जाने से पहले।' पूर्वजों और पूर्व जीवन की स्मृति यहाँ केवल कविता की विषय-वस्तु नहीं है बल्कि बढ़ कर धीरे-धीरे सार्वभौमिक घर का पर्याय बन जाती

है—

कहाँ है वह घर
जहाँ हम वापस जाना चाहते हैं
. . .
जहाँ हर मकान दूकान में बदलने की होड़ में है—
उस भीड़ और हाहातूती में खोजना मुश्किल होगा
बचपन का बस्ता, संगाती, छुपकर खायी चाट
आकाशनीम के मिथुनों के ऊपर का नीलाकाश—

यह मात्र स्मृति में अवस्थित घर नहीं है, आकांक्षा का भी घर है, ऐसी दुनिया का विकल्प 'जहाँ हर मकान दूकान में बदलने की होड़ में है'। 'अधपके अमरूद की तरह पृथ्वी', 'चौकन्ने जानवर की तरह पृथ्वी', 'तोतों से बची पृथ्वी', 'कायाकल्प', 'छोटी-सी दुनिया' कविताएँ उसी विकल्प का विस्तार हैं 'जहाँ जीवन तोतों के रास्ते पर पड़ता है' और 'एक छोटे कीड़े की तरह सिर उठा कर धूप-छाँह और चिड़ियों के अरण्यरोदन को देखती-सुनती है पृथ्वी', जहाँ 'एक अधपके अमरूद की तरह तोड़ कर पृथ्वी को हाथ में लिए है मेरी बेटी'।—यह एक नितांत शांत, सुषम जीवन है, निर्दोष और समस्वर। कविता उसी जीवन की तलाश है, दूसरी शताब्दी की एक बच्ची से ले कर बाईसवीं शताब्दी के बूढ़े तक काल के विभिन्न अवयवों की फेंटाफेंटी में : *अपनी-अपनी उम्मीद लिए/फ़िलहाल हम चल रहे हैं/उस मोड़ की ओर/उस घर की ओर/उस जल और धूप की ओर।*

अशोक वाजपेयी की कविता उसी घर की खोज है जो स्मृति और कल्पना दोनों प्रांतरों में बसा है। वह घर पूर्णता का निवास है। अशोक वाजपेयी की जीवन-दृष्टि का पुंज। मनुष्य का जीवन निरंतर उसी घर की खोज है, और कला या काव्य उस खोज की सर्वाधिक संघनित अभिव्यक्ति। 'मल्लिकार्जुन मंसूर' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ हैं : *काल के खुरदुरे आँगन में/समय के लंबे गूँजते गलियारों में/वे गाते हैं/अपने होने के जीवट का अनथक गान/. . .वे समूचे संसार को एक फूल की तरह चुनकर/कालदेवता के पास/फिर प्रफुल्लता पर लौटने के लिए/रख आते हैं/. . .उँगली पकड़/हमें अनश्वरता के पड़ोस में ले जाते हैं/*—उस घर की तलाश कहीं न कहीं इसी अनश्वरता की तलाश है—'अँधेरे और उजाले में सदियों से अपना ठौर खोज रही है पृथ्वी'।

ये कविताएँ हमारे रोज़-ब-रोज़ के जटिल, कठिनाइयों भरे जीवन को *लाँघ कर* एक समानांतर संसार का सृजन करती हैं। यहाँ हमें वर्तमान का वो चेहरा नहीं मिलता जिस के कि हम आदी हैं। हालाँकि कविताएँ पारिवारिक संबंधों से आरंभ होती हैं, पर वहाँ रुकती नहीं, बल्कि वृहत्तर आशयों की ओर बढ़ती हैं जिसे अशोक वाजपेयी 'एक क़िस्म की ईश्वरहीन आध्यात्मिकता' कहते हैं। यही अशोक वाजपेयी के रचना-संसार की विशेषता है। समय का दबाव लगातार बना रहता है—'यह समय, यह अँधेरा, यह भारी असह्य समय' का दबाव। भले ही ऊपर-ऊपर पहचान में आने वाली वस्तुएँ और प्रचलित भंगिमाएँ यहाँ न हों, लेकिन भीतर-भीतर अपने समय का अहसास लगातार मौजूद है, निरंतर क्षरित हो रही मनुष्यता का : *यह भरोसा ढहाकर किया गया अश्लील अट्टहास/निर्लज्जता का दिग्विजय के अश्व पर देशाटन/आततायियों के तहखानों में/सुरंग लगा कर पहुँचा आदि सत्य/यह बस्तियों के ऊपर घृणा का मेघाच्छादन/यही हमारा समय है।*

और इस के समानांतर अथवा इस के प्रतिवाद के रूप में एक उम्मीद है : 'उम्मीद ने चुना है एक छोटा-सा पथहारा शब्द "शायद" : *सब कुछ नष्ट नहीं होगा/कुछ तो बच जाएगा।* और जो बचेगा *'अगर बच सका तो वही बचेगा हम सब में थोड़ा-सा आदमी'* जो :

रौब के सामने नहीं गिड़गिड़ाता
जो धोखा खाता है पर प्रेम करने से नहीं चूकता
जो अपने घर को चीज़ों का गोदाम बनने से बचाता है
वही थोड़ा-सा आदमी

और यह आदमी बचेगा अपने शब्दों से, अपनी कविता में—

हाथ में नहीं है जीवन भी
जो देर सबेर होगा समाप्त—
मुझे ले जायेगी राख की तरह उड़ा कर मृत्यु
यह दृश्य भी हो जायेगा ओझल— .
बचेंगे सिर्फ़ शब्द ही
जो किसी के हाथ में न होंगे।

अस्थिरता, नश्वरता और क्षरण के बीच घर की तलाश एवं आदमी के बचने की उम्मीद को व्यक्त करतीं ये कविताएँ सघन रूप से ऐन्द्रिक हैं। जीवन के प्रति लालसा अंततः जीवन के बिम्बों से ही व्यक्त होती हैं, वक्तव्यों से नहीं। घर, मुहल्ले, माँ-पिता, बहन-बेटी और पृथ्वी, ये सब मुखर और मूर्त हैं—'फिर घर', 'कहाँ है घर' से ले कर उन प्रसंगों तक जहाँ एक 'नीरव स्त्री' चुप बैठी है गरम दूध से भरा गिलास लिए और काले जूतों पर पसरे हुए जीवित पैरों का दबाव है और अँधेरे में धीरे-धीरे रिसता पानी पत्थरों के पड़ोस में ठहरता है और पृथ्वी को ढो कर धीरे-धीरे ले जा रही हैं चीटियाँ और मुकाम आ जाने के बाद भी बस की अपनी सीट न छोड़ने की इच्छा— । जिसे अशोक वाजपेयी 'एक क़िस्म की ईश्वरहीन आध्यात्मिकता' कहते हैं वह कविता में संभवतः जीवन के प्रति लालसा से उत्पन्न होती है और रिक्तता के अनुभव के अवसाद से।

जीवन के प्रति यह लालसा अशोक वाजपेयी की मृत्यु संबंधी कविताओं में भी बरक़रार है और यही लालसा मृत्यु को भी सहनीय बनाती है। मृत्यु जीवन का अवसान है और पुनः जीवन में वापसी का कारण भी। मृत्यु अपरिहार्य है। परंतु यह अपरिहार्यता जीवन के प्रति विराग या निस्पंद-भाव उत्पन्न करे ऐसा नहीं। बल्कि इस के विपरीत यह अपरिहार्यता जीवन के प्रति लगाव को, जिजीविषा और रसिकता को उत्कट बना देती है। घर की खोज और उस खोज में पूरे कुटुंब, पड़ोस, पशु-पक्षी-वनस्पति सब को शामिल करने के बाद यदि यह लगे कि उपसंहार अंततः जीवन का ही संहार होगा तो हठात् इसे स्वीकार करना भी कठिन है :

जीवन भर के साथ-संग के बाद
हम अकेले क्यों रह जायेंगे उस यात्रा में?

और तब शायद यह सांत्वना कि हम रूप बदल कर आयेंगे, पक्षी की तरह, हरियाली की तरह, पलाश पर नयी छाल की तरह : *वह अंत/जिसके बाद हम वापस आयेंगे/और पहचाने न जायेंगे/. . .*फिर भी जीवन के प्रति राग, बल्कि मोह इतना अटूट है कि लगता है : *अंत के बाद/हम समाप्त नहीं होंगे—यहीं जीवन के आसपास/मंडरायेंगे/. . .हम तो यहीं/मटमैलेपन पर/वापस आयेंगे।*

मृत्यु पर लिखी ये कविताएँ जीवन के प्रति एक चिम्मड़ राग का घोष करती हैं। जहाँ यह हताश स्वीकार दीखता है, अंत का स्वीकार, अंत के बाद कुछ नहीं होने का स्वीकार, वहाँ भी जीवन के तत्काल और उष्ण विवरण इस स्वीकार का निषेध करते हैं : *न थोड़े से दूध की हलकी-सी चाय/न बटनों के आकार से/छोटे बन गये काजों की झुँझलाहट।* इस पूरी वृत्ति की एकाग्र अभिव्यक्ति है कुमार गंधर्व के लिए विदागीत 'बहुरि अकेला' जो जीवन के विभिन्न कोनों-साँधियों, बचपन से उपांत तक के प्रसंगों से जूझते-गुज़रते अंत में मानो इस समाधि-लेख (एपिटाफ़) के साथ समाप्त होती है—*अंत का समय/आरंभ का समय।*

मृत्यु की ये कविताएँ जीवन के महाप्राण स्वर हैं।

जिस कवि में ऐसी जिजीविषा हो उस की प्रेम कविताओं में यदि देह की तृष्णा प्रबल मिले तो आश्चर्य कैसा? लेकिन यह देख कर विस्मय होता है कि अशोक वाजपेयी की 'प्रेम कविताओं' में, जिन की एक पूरी पुस्तक यहाँ मौजूद है, तृष्णा तो है, अवसाद नहीं। यह देख कर भी विस्मय होता है कि ये कविताएँ स्त्री-पुरुष संबंधों की खोजबीन नहीं हैं, न यौन-संबंधों का आख्यान—ये मूलतः देह-गाथा हैं, स्त्री-देह का उत्सव मनाती कविताएँ। मुझे जो कविताएँ सब से अच्छी लगी हैं वो हैं 'भिलाई में', 'एक लंबी-अधूरी प्रेम कविता', 'दुःख तेरे होने का', 'आयु

का आश्चर्य', 'अगर तुम', 'मैं चला जाऊँगा' और 'सूर्य-स्मरण'। 'भिलाई में' अशोक वाजपेयी की श्रेष्ठ कविता है। इस संग्रह में 'पहला चुंबन' से ले कर 'केलि' तक के जितने देह-प्रसंग हैं वे सब उपस्थित हैं। कवि ने पूरी तन्मयता से 'कुचाग्रों' से ले कर 'आर्द्र अँधेरे' तक को अंकित किया है। यह सही है कि देह, प्रेम तथा यौन प्रसंग समकालीन हिन्दी कविता के लगभग वर्जित प्रदेश हैं। हालाँकि शमशेरजी के अंतिम संग्रह में इस कोटि की महत्तम रचनाएँ मिलती हैं। तो क्या यह सच है कि ऐसे अनुभवों को 'चाहिए इक उम्र असर होने तक'? ख़ैर! अशोकजी की ये कविताएँ एक कमी को कुछ हद तक पूरा करती हैं। कुछ हद तक इसलिए कि यहाँ इन 'प्रेम कविताओं' में 'आध्यात्मिकता' नहीं है, या कम है, जबकि उस की उम्मीद यहाँ थी। जॉन डन पर लिखी अपनी पंक्ति में टी.एस. इलियट कहते हैं : 'नो कॉन्टैक्ट पॉसिबल टु फ्लेश अलेड द फ़ीवर ऑफ़ द बोन'—देह के चरम संपर्क के बाद भी घटा नहीं हड्डी का ज्वर। तो, अशोक वाजपेयी की इन कविताओं में देह के आर्द्र अँधेरों तक संपर्क तो है, पर हड्डियों का ज्वर घटता नहीं है। जहाँ यह रिक्तता का बोध या अवसाद है वहाँ कविता उठान लेती है, जैसे 'भिलाई में', 'आयु का आश्चर्य' और 'मैं चला जाऊँगा' में। ऐसी कविताओं में गहन इंद्रियबोध भी है—

उसकी आवाज़ में
आगे आने वाले फलों की
कसमसाहट है—
उसकी आवाज़
अलसाई हुई है आम्र मंजरियों से

जबकि अन्यत्र यह ऐन्द्रिकता कम है, जैसे 'केलि' शीर्षक कविता में जहाँ धरती-आकाश-सूर्य-चंद्रमा के बावजूद कविता में ज़ोर नहीं है। ऐसा मुझे अनेक कविताओं में लगा है, एक कृत्रिमता एवं 'सिन्सियेरिटी' का अभाव। यह आरोप बहुत क्रूर है, फिर भी। क्योंकि वह जो कहते हैं, या करते हैं उस का कोई सुराग नहीं छोड़ते, इसीलिए शक होता है।

प्राथमिकतः अशोक वाजपेयी जिजीविषा और रसिकता के कवि हैं। उन की श्रेष्ठ कविताएँ जीवन के प्रति सम्मोहक आमंत्रण हैं। अशोक वाजपेयी के कवि-स्वभाव में जीवन का उल्लास है और प्रायः रिक्तता का अवसाद भी। यही अशोक वाजपेयी की विशिष्टता है।

डॉ नामवर सिंह के बाद पिछले एक-दो दशकों में जिन कुछ आलोचकों ने हिन्दी साहित्य जगत को लगातार उद्वेलित और आलोड़ित रखा है उन में अशोक वाजपेयी अग्रगण्य हैं। उन की आलोचना विचलित और विक्षुब्ध करते हुए भी स्फूर्ति देती है और झगड़ने का न्यौता भी।

समय से बाहर एक महत्त्वपूर्ण और अवश्य पठनीय पुस्तक है। इस में संगीत, नृत्य, रंगमंच, रूपंकर कलाओं तथा कविता पर निबंध एवं सहजात कविताएँ संकलित हैं। यह पुस्तक अशोक वाजपेयी के कुछ मूल आग्रहों, धारणाओं और साथ ही कुछ *मिथ्याओं* को समझने के लिए भी ज़रूरी है। जैसा कि मैं ने इस निबंध के बिल्कुल शुरू में कहा कि कहा-सुनी के आधार पर कुछ मिथ्या (या मिथक) गढ़ लिए जाते हैं और उसे रुक कर जाँचने की ज़हमत नहीं उठाई जाती। दुर्भाग्य से अशोकजी ने भी कुछ ऐसी ही मिथ्याएँ गढ़ ली हैं और शुरुआत ही वह ऐसी ही एक मिथ्या से करते हैं कि 'इन दिनों समय का आतंक समूचे साहित्य पर है' और 'समय को समाज का लगभग समानार्थी भी माना जाता है'। इस के विलोम-रूप में अशोक वाजपेयी प्रस्तावित करते हैं कि 'साहित्य और कलाएँ ऐतिहासिक-सामाजिक समय के बरक्स अपना समय रचती हैं।' जो मिथ्या है उस का कोई साक्ष्य वह नहीं देते क्योंकि इस तरह की तमाम मिथ्याएँ या तो अर्धकल्पित होती हैं या ऐसे लोगों के 'विचारों' पर आधारित जिन का उल्लेख भी आवश्यक न जान पड़े। समय का 'आतंक' तो कला पर रहता ही है, किन्तु कला हमेशा उस 'आतंक' से बाहर जाती है, उस का अतिक्रमण करती है और ऐसा करके ही वह भंगुर जीवन को स्थायी बनाती है। आनंदवर्धन ने बहुत पहले कहा था : 'अपारे काव्य संसारे कवि एकः प्रजापतिः यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं

परिवर्तते' । इस में महत्त्वपूर्ण यह है कि *यही* विश्व कविता की वस्तु है, यही *समय* और *समाज* जिस का अतिक्रमण कविता को करना है । इसीलिए कविता पर इस विश्व, इस समय, इस *लोक* का इतना अधिक चाप रहता है, जैसा कि अशोकजी स्वयं *बहुरि अकेला* में कहते हैं : *न होना भाषा या कविता में संभव ही नहीं है/समय से बाहर क़दम रखना भाषा से भी बाहर जाना है ।* और तब ब्रह्म से तादात्म्य भले हो, सृजन नहीं होगा । भाषा भी तो समयकृत और लोककृत है ।

इस पुस्तक में स्वयं अशोक वाजपेयी ने कला और वर्तमान समय व समाज के संबंधों के विषय में कुछ उपयोगी सूत्र दिए हैं । वह कहते हैं : 'कलाओं के सामाजिक आशय और स्रोत होते हैं इस से इंकार नहीं । पर वे उन्हीं तक महदूद नहीं हैं और न ही वे उन्हीं से प्रेरित रची या समझी जा सकती हैं—साहित्य और कलाएँ ऐतिहासिक-सामाजिक समय के बरक्स अपना समय रचती हैं ।'

यह ठीक ही है । यह जो 'अपना समय' है कला का, वही तो उसे स्थायित्व या शाश्वतता देता है, अन्यथा हज़ारों वर्ष पुरानी रचना आज भी हमारे लिए अर्थवान नहीं होती । लेकिन यह भी सत्य है कि 'पहला समय' की नश्वर मिट्टी ही 'दूसरा समय' का शाश्वत बीज धारण करती है—उस के 'उर का कटु त्यागा' ।

'दूसरा समय' अनेक प्रश्नों, विवादों को उकसाने वाला निबंध है । इस की एक आरंभिक प्रतिज्ञा है : 'मनुष्य के समूचे इतिहास में यह शायद पहली बार हुआ है कि राजनीति अन्य सभी अनुशासनों और उद्यमों का केन्द्रीय रूपक बन गया है' । इस प्रतिज्ञा से मैं पूर्णतः सहमत हूँ । वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध उक्ति 'द वर्ल्ड इज़ टू मच विथ अस' की तर्ज पर कहा जा सकता है 'पॉलिटिक्स इज़ टू मच विथ अस' । अशोकजी सही कहते हैं कि अब 'राजनीति ही संस्कृति का नियमन करने लगी है' । वाल्टर बेन्यामिन ने काफ़ी पहले 'आर्ट इन दी एज़ ऑफ़ मैकेनिकल रिप्रोडक्शन' के अख़ीर में इस के विरुद्ध चेतावनी भी दी थी ।

अशोकजी आगे कहते हैं, 'कलाएँ स्वयंप्रतिष्ठ हैं, यद्यपि यह धारणा हमारे यहाँ ख़ासी प्राचीन है, इन दिनों मान्य नहीं है ।' किसे मान्य नहीं है? कलाओं की *सापेक्ष* स्वायत्तता तो मार्क्सवादी आलोचक भी मानते हैं और मार्क्स का तो प्रसिद्ध वाक्य ही है, 'कला यथार्थ जगत को अंगीकार करने की एक *भिन्न* एवं *स्वतंत्र* विधि है' । इसीलिए अशोकजी का यह कहना कि 'साहित्य और कलाओं का सच पहले से दिए या जाने हुए सच की अभिव्यक्ति नहीं होता' स्वयंसिद्ध का ही पुनर्कथन है । कला का कार्य ही जीवन को भिन्न और स्वतंत्र तरीक़े से ग्रहण कर उसे रूपांतरित करना है । प्राकृतिक समय को ऐतिहासिक समय में और फिर उस ऐतिहासिक समय को कला-समय में बदलने का काम मनुष्य ही करता है । हमारी 'सामाजिक-ऐतिहासिक नियति' *आज* यह है कि हम कला-समय तक पहुँचने से वंचित रह जाते हैं। आज के मनुष्य की नियति कला-समय का आस्वाद नहीं है । वह ऐतिहासिक सामाजिक समय के दबाव से त्रस्त है जो अंततः 'राजनीतिक दबाव' में व्यक्त होता है जिस का उल्लेख ऊपर हो चुका है । इसलिए इस दबाव से मुक्ति में ही कला की भी मुक्ति है और ऐसा इस दबाव को केवल शुभविदा कह कर समाप्त नहीं किया जा सकता ।

इस मुक्ति की चर्चा करते हुए अशोक वाजपेयी कहते हैं कि राजनैतिक स्वराज से पहले हम विचार तथा सृजन का स्वराज पा चुके थे । हमारे स्वतंत्रता संग्राम में साहित्य और कलाओं की कोई आनुषंगिक नहीं, यह पूर्वकल्पी भूमिका रही है । यहाँ प्रेमचंद का प्रसिद्ध कथन याद आता है कि साहित्य राजनीति के पीछे नहीं, आगे-आगे चलने वाली मशाल है । लेकिन इस के ठीक बाद अशोकजी कहते हैं, 'शायद साहित्य और कलाएँ ऐसी जगह हैं और बनी रह सकती हैं जहाँ भारत का स्वराज क़ायम रह सकता है' । यहाँ वह पुनः ऐतिहासिक समय में आ कर भारत के स्वराज की चिन्ता करते हैं । लेकिन क्या यह संभव है कि भारत का स्वराज ख़त्म हो जाए और भारतीय कलाओं का स्वराज क़ायम रहे? क्योंकि तुरंत पहले उन्होंने 'पश्चिम से आक्रांत बौद्धिकता' पर चिन्ता व्यक्त की है और आगे अभी हम देखेंगे कि कैसे स्वयं अशोकजी सामाजिक परिवर्तनों के कलाओं पर पड़ते अनिष्टकारी दबाव को सामने रखते हैं ।

'सुनने गुनने का अर्थ' शीर्षक महत्त्वपूर्ण निबंध में अशोकजी लिखते हैं, 'लगता है कि यह समय संगीत में श्रेष्ठता अर्जित न कर सकने का समय बन कर रह जायेगा' । इस के कारणों की खोज करते हुए अशोकजी सर्वथा

ग़ैर-सांगीतिक कारणों तक जाते हैं—जैसे माइक व्यवस्था का आविष्कार-प्रसार, बड़ी संगीत सभाओं का चलन, रेडियो जैसे माध्यमों पर उपलब्ध अवधि-सीमा, नई संपन्न रसिकता का दबाव, गति और क्षिप्रता पर अतिरिक्त आग्रह आदि। दिलचस्प यह है कि जो संगीत ऐतिहासिक-सामाजिक समय का सर्वाधिक अतिक्रमण करता माना जाता है, वही अपने समय के क्षुद्र दबावों से इतना अधिक आक्रांत है। अशोकजी ने व्यावसायिकता के दबावों का विशेष उल्लेख किया है और गहरी पीड़ा से पूछा है—'. . .क्या संगीत के मन में इस बेहद संशयभरी संदेहग्रस्त शताब्दी के अवसान के निकट कभी अपने पर संदेह होता है?'

नृत्य पर भी व्यवसायीकरण के बढ़ते ख़तरे का ज़िक्र अशोक वाजपेयी करते हैं। नृत्य का 'अर्थदरिद्र व्यायाम' में बदलते जाना उस का एक लक्षण है। साथ ही, 'नृत्य की बढ़ती मध्यवर्गीयता ने उस की बुनियादी शास्त्रीयता पर सब से अधिक दबाव पैदा किया है।' बड़ी शिद्दत के साथ अशोकजी कहते हैं, 'सामाजिक संरक्षण का स्वरूप बदलने से किसी कला के स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह इसका ज्वलंत उदाहरण है।' नृत्य में एक बड़ा दिलचस्प परिवर्तन यह भी हुआ है कि 'उसमें उल्लेखनीय पुरुष नर्तक बिरले ही रह गये हैं।' 'इस परिवर्तन का उसके सौन्दर्य शास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा है' और ज़ाहिर है, यह परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का—स्त्री-पुरुष-भेद की समाप्ति आदि प्रयत्नों का ही द्योतक है। इसी तरह गुरु-शिष्य परंपरा का भी क्षरण हुआ है। जिस से साधना का अवमूल्यन और अंततः समूची शास्त्रीयता का अवमूल्यन हो रहा है। इस का मुख्य कारण बढ़ती व्यावसायिकता ही है : 'फ़िल्मों के प्रभाव में और नृत्य पर मीडिया द्वारा काफ़ी ध्यान दिये जाने के कारण उसमें व्यवसायिकता भी बढ़ी है।' आगे अशोकजी एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न करते हैं : 'जब इस शताब्दी में वैचारिक संघर्ष साहित्य और कलाओं में केंद्रीय है, शास्त्रीय नृत्य उससे अलग-थलग रह कर स्वयं अपने लिए हाशिये की स्थिति नहीं चुन रहा है?' उत्तर देते हुए अशोक जी कहते हैं : 'साहित्य सत्ता से बराबर दूरी बनाये रखता है जबकि प्रायः नृत्य और संगीत. . .सत्ता से निकटता बनाने के लिए सचेष्ट दीख पड़ते हैं।' 'हो सकता है कि एक कारण यह भी हो कि नृत्य मंदिर और राजसभा के दो स्पेसों के अलावा कहीं और होने से घबराता है—उसने आज के पवित्रता और भव्यता से विच्छिन्न उदासीन नागरिक स्पेस का नृत्य होने की चेष्टा नहीं की है।' तो क्या बिना इस चेष्टा के, बिना संरक्षण की इच्छा से मुक्ति के, बिना व्यावसायिकता के प्रतिरोध के नृत्य अथवा संगीत अपना *स्वराज* पा सकेंगे, *समय से बाहर* जा सकेंगे?

अशोकजी ने नृत्य और संगीत पर तात्कालिक सामाजिक दुष्प्रभावों की गहराई से व्याख्या की है। इसी संदर्भ में उन का यह वाक्य रंगमंच और नाटक के संबंध में ग़ौर करने लायक़ है : 'रंगमंच पर एक विचित्र तरह का *रूपवाद* [जोर मेरा] हावी हो गया लगता है।. . .जिनके पास कुछ कहने को नहीं है वे यह आशा कर रहे हैं कि रूप अपने आप ही कुछ काम का कह देगा।' अशोकजी को *रूपवाद* का इतना सशक्त विरोध करते देख सहसा वे सारे कलावादी-रूपवादी विशेषण याद आ जाते हैं जो उन्होंने लगातार अर्जित किए हैं।

सत्यजित राय पर लिखे एक निबंध में अशोकजी का आग्रह है कि 'श्रेष्ठ व्यक्तिगत प्रतिभा के अलावा स्वतंत्रता (राजनैतिक) से मुक्त हुई शक्ति और परंपरा के अपेक्षाकृत कम महसूस किये जाने वाले दबाव ने सत्यजित राय की महानता को कहीं न कहीं ज़रूर संपोषित किया है।' समाज और कला के अंतर-संबंधों पर विचार करते हुए अशोकजी कहते हैं : 'आज शब्द के सुनियोजित उपयोग और रोज़मर्रा के ग़ैरमध्यवर्गीय जीवन के बीच इतना अंतराल और अवरोध आ गये हैं कि शब्द की प्राणधारा सूख-सी रही है।. . .राजनेता, धर्मगुरु, पत्रकार, विज्ञापन आदि सब लगातार शब्दों के साथ अनाचार कर रहे हैं।' वह आगे कहते हैं, 'अनजाने या अज्ञेय के प्रति हमारी जिज्ञासा का क्षरण बहुत तेजी और असंदिग्ध रूप से हुआ है। हमारी जीवन शैलियों, रूपाकारों आदि की बहुलता का स्थान धीरे-धीरे विविधता ले रही है जो अनेक दृष्टियों के जनतंत्र का नहीं बल्कि अधिकतर उपभोक्तावादी दृष्टि की बढ़ती तानाशाही का संकेत है। कुल मिलाकर हालत यह है कि साहित्य और कलाओं को सत्ता और समाज द्वारा हाशिये पर फेंके जाने का, उपभोक्तावादी शक्तियों द्वारा उनके तुच्छीकरण का और मीडिया द्वारा उनके सनसनीखेज बनाये जाने की प्रक्रियाओं का एक साथ सामना करना पड़ रहा है।' यह सामाजिक-ऐतिहासिक समय के दबाव का उचित और सूक्ष्म आकलन है। इस दबाव के प्रतिरोधस्वरूप अशोकजी का प्रस्ताव है कि साहित्य और

कलाएँ 'इन वैचारिक शक्तियों' के उपनिवेश बन कर न रह जायँ या उनके साहित्यिक या कलात्मक संस्करण बन कर न खप जायँ, बल्कि एक स्वतंत्र, स्वायत्त दृष्टि के रूप में अपना वाज़िब स्थान ग्रहण करें।' मैं निजी तौर पर उन के प्रस्ताव से सहमत हूँ। 'सामान्य और सरलीकृत की तानाशाही या सर्वसत्तावादिता के बरक्स एक बहुलतावादी दृष्टि' की वकालत करते हुए, अशोक वाजपेयी अपने पूर्वाग्रहों का उद्यापन करते हैं :

> राजनीति और तकनालॉजी मिल कर हर जगह बेजा कब्ज़ा करती जा रही हैं. . . । इसमें शक नहीं कि हम बीसवीं शताब्दी के निकट एक सबसे सुसज्जित बर्बरता के सामने हैं और हमें उसके विरुद्ध कार्रवाई और प्रतिरोध का शिविर बने रहना चाहिए। जो माध्यम इस प्रतिरोध और सत्याग्रह में शामिल नहीं होंगे, उन्हें न इस समाज में अंततः कोई जगह मिलेगी, न ही संस्कृति के इतिहास में।

अर्थात् कलाओं को 'समय के बाहर' जा कर भी अंततः समाज में जगह पाने के लिए सुसज्जित बर्बरता का विरोध करना ही होगा। यह अशोक वाजपेयी का आग्रह है।

'समय से बाहर' के प्रायः सभी निबंध गंभीर पठन-पाठन की माँग करते हैं। नृत्य, संगीत और रंगमंच के बारे में मैं ने इन निबंधों से बहुत कुछ पहली बार जाना, और सीखा। जिस श्रद्धा से अशोक वाजपेयी ने कुमार गंधर्व और मल्लिकार्जुन मंसूर पर लिखा है वह दुर्लभ है। 'कुमार गंधर्व का अवसान' एक ऐसा पाठ है जहाँ मैं कोई निशान न लगा सका। इतना मार्मिक।

चर्चित किताबें :

घास में दुबका आकाश : अशोक वाजपेयी की चुनी हुई कविताएँ; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 1994; मूल्य 160 रुपए

तत्पुरुष : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1989; मूल्य 45 रुपए

थोड़ी सी जगह : अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताएँ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 1994; मूल्य 60 रुपए

कहीं नहीं वहीं : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1990; मूल्य 60 रुपए

समय से बाहर : वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर; 1994; मूल्य 160 रुपए

श्याम सुंदर शर्मा

बदलते समय से मुठभेड़

दो पुस्तकें हैं—*उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद* एवं *उत्तर-आधुनिक परिदृश्य*। दोनों एक तरह से एक-दूसरे की पूरक हैं। संस्कृति-चिन्तक और विचारों के इतिहासकार के रूप में सुधीश पचौरी के हाल ही के चिन्तन का निचोड़। पहली पुस्तक में विवेचना पर ज़ोर है तो दूसरी में विश्लेषण पर। पहले *उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद* को लें।

आधुनिकता से उत्तर-आधुनिकता तक की यात्रा का वृत्तांत दिया गया है ल्योतार, जेमेसन, बौद्रीआ के विचारों का निचोड़ बता कर और तकनीक और माध्यम की इस बदलाव में भूमिका की बात करके। इस बदलाव की दिशा का संकेत देने में एडोर्नो और होर्खहाइमर की भूमिका पर भी ध्यान दिया गया है। जो बात उभर कर सामने आती है वह यह है कि उत्तर-आधुनिकता तकनीकी युग से अविभाज्य है और तकनीक और माध्यम के नए वातावरणों के बिना संभव नहीं। दैनिक जीवन में तकनीक और माध्यम के हस्तक्षेप पर विशेष ध्यान दिया गया है। संस्कृति के क्षेत्र में स्तरीकरण और एकरूपीकरण की भूमिका पर भी बात की गई है। तकनीकी परिवर्तनों से ज्ञान की अवस्था में भी परिवर्तन आया है। ल्योतार के अनुसार हम बहुत से 'अंतों' के युग में जी रहे हैं। राष्ट्रराज्यों, संस्थानों, ऐतिहासिक परंपराओं का अंत अर्थात् उन का ऊर्जाहीन होते चले जाना। सर्वव्यापी विकेन्द्रवाद की बात भी ल्योतार के संदर्भ में की गई है। उत्तर-आधुनिकता 'अभाव' में ही 'भाव' ढूँढती है। जेमेसन की मुख्य उपलब्धि सुधीश के अनुसार यह है कि जेमेसन ने नई अर्थव्यवस्था, जीवन-स्थितियों और नई सांस्कृतिक संरचनाओं के बीच अंतःसंबंध के बिन्दुओं को एक हद तक स्पष्ट किया है। उत्तर-आधुनिक यथार्थ की चंचलता और अस्थिरता को रेखांकित करना भी जेमेसन की बड़ी उपलब्धि है। उन्होंने समाज की तमाम प्रक्रियाओं को विचारधारात्मक प्रक्रियाओं की तरह चिह्नशास्त्र (समिऑटिक्स या सेमिऑलॉजी) की गतिशीलता के रूप में व्याख्यायित किया है। उत्तर-आधुनिकता की एक बड़ी स्थिति 'बहुलवाद' है। उच्च संस्कृति और निम्न संस्कृति का भेद समाप्त हो गया है। अर्थ और संस्कृति एक-से होते जा रहे हैं। कृति का अंत हो रहा है और 'पाठ' (टैक्स्ट) कृति की जगह ले रहा है। उत्तर-आधुनिकतावाद का सब से नया माध्यम हो गया है—वीडियो।

सुधीश के अनुसार बौद्रीआ का चिन्तन मुख्यतः 'छलना की सत्ता' से जुड़ा है। वर्तमान स्थिति एक ऐसे 'अतियथार्थ' (हाइपर रिऍलिटी) की है जहाँ कोई किसी को चुनौती नहीं देता और कोई भी छलों के परस्पर

आदान-प्रदान की मौजूदा व्यवस्था को उलटना नहीं चाहता। अब चिह्नों (साइन) के संस्थापन के लिए उस वास्तविक दुनिया की ज़रूरत नहीं रह गई जिस का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। छवियों का नया अर्थशास्त्र अपनी संहिता (सांस्कृतिक नियम) स्वयं बनाता है। पूँजीवाद के इस नए चरण में आर्थिक क्षेत्र अथवा उत्पादक क्षेत्र को संस्कृति या विचार के क्षेत्र से, बिम्बों, प्रतीकों, भावनाओं एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र से अलग रख के चलना असंभव हो गया है। 'छलना के निर्माण' के बाद निर्बाध कामनाओं का निर्माण इस उत्तर-आधुनिक यथार्थ का अगला चरण है, जहाँ जनता की पहचान उस की कामनाओं से होती है। कामनाओं से फ़ैशन, आतंकवाद, देह और मृत्यु ये सब कैसे जुड़े हैं, इस पर भी बौद्रीआ ने ध्यान दिया है।

पुस्तक के सातवें लेख में 'संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद' की बात और अंतिम लेख में देरिदा और विखंडन की बात की गई है। 'संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद' में सॉस्यूर, लेवी स्त्राउस और रोलाँ बार्थ के चिन्तन पर विस्तृत बात की गई है जो पूरी तरह तर्कसंगत है। साथ ही रोमान याकोब्सन के 1968 के वक्तव्य 'क्लोज़िंग स्टेटमेंट' के महत्त्व को भी रेखांकित किया गया है। मुकारोवस्की का ज़िक्र भी सार्थक है, परंतु एलियट, रिचड्र्स, लीविस आदि को इस लेख में लाना पूरी तरह आवश्यक नहीं था। नव्य समीक्षा और संरचनावाद के बीच कुछ अंतर अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, इसलिए संरचनावाद और नव्य-समीक्षा को साथ-साथ लेना उतना आवश्यक नहीं था, विशेषतः तब जब इस पुस्तक का मुख्य आधार यूरोपीय विचारधाराएँ हैं।

'संरचनावाद और विखंडन' के संदर्भ में देरिदा की बात करने वाले लेख में एकात्मकता सातवें लेख से अधिक है। सातवें लेख में भी रोलाँ बार्थ के कार्य की व्याख्या काफ़ी सशक्त है। यह अवधारणा दे कर कि 'पाठ' का निर्माण ही असली पाठ है, लेखकीय अनुभवों तक पहुँचना नहीं, बार्थ ने उत्तर-संरचनावाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर ही दिया था। देरिदा वाले लेख में सुधीश बताते हैं कि उत्तर-संरचनावाद के केन्द्र में सॉस्यूर या लेवी स्त्राउस नहीं हैं, बल्कि नीत्शे हैं। वे लाकाँ व मिशेल फ़ूको के योगदान की भी सही विवेचना करते हैं। विखंडन की व्याख्या भी सुधीश ने बखूबी की है और इस पूरी बात में पॉल द मान के कार्य को लाना भी पूरी तरह उचित है। देरिदा ने हुसेर्ल की फ़िनॉमिनोलॉजी (दृश्य-प्रपंच?) का विखंडन किया और कहा कि हर पाठ अपने भीतर विखंडन की क्रिया छिपाए रखता है, क्योंकि पाठ जिसे 'दबाता' है उसी से 'मैत्री' भी करता है। देरिदा के अनुसार विखंडन की क्रिया याद दिलाती है कि भाषा किस तरह दर्शन की योजना को जटिल बनाती है या बाहर फेंकती है। विखंडन विचार को निरस्त करता चलता है। विचारधारा, जो पश्चिमी दर्शन का सत्तावादी भ्रम है, विचारधारा यानी तर्क जो पश्चिमी समाज का संचालक रहा है—विखंडन उस तर्क को व्यर्थ करता है।

कांट, हाबेरमास, हाइडेगर, एडोर्नो, हेगेल, ल्योतार, जेमेसन, बौद्रीआ, देरिदा, द मान, सॉस्यूर, लेवी स्त्राउस सरीखे चिन्तकों के चिन्तन के मुख्य सूत्रों का विवेचन भर अपने आप में एक बड़ी चुनौती है और सुधीश इस चुनौती पर खरे उतरे हैं। परंतु एक बात अखरती है। बीच-बीच में जहाँ-जहाँ सुधीश ने इन विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में भारतीय समीक्षा और चिन्तन की वर्तमान अवस्था की बात की है, वहाँ एक प्रकार का हीन-भाव सामने आता है। स्थिति कितनी भी ख़राब क्यों न हो, कुछ आशावादिता तो अपेक्षित है ही! यह मान कर चलना कि यहाँ अभी 'आधुनिकता की समस्याएँ जन्मी ही नहीं हैं, आई ही नहीं हैं' (पृ. 16), एक तरह से सुधीश के पूरे 'प्रोजेक्ट' पर प्रश्न-चिह्न लगाता है। इसी प्रकार का संदेह पृष्ठ 98 पर इन शब्दों में दीखता है : 'आधुनिक हिन्दी समीक्षा जो मूलतः यूरोप के आधुनिकतावादी विभिन्न संप्रदायों से प्रभावित रही है, यदि आज की स्थितियों की कोई सर्वाश्लेषी व्याख्या में नाकाम नज़र आती है और अपने जगत की सांस्कृतिक समस्याओं के समक्ष दयनीय नज़र आती है तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि आधुनिक हिन्दी समीक्षा जहाँ से उधार लेती रही है, आज समीक्षा का

संकट वहीं ज़्यादा गहराया है।' उसी पृष्ठ पर कहा गया है : 'हिन्दी की समीक्षा में तो अभी संरचनावाद भी पूरी तरह से प्रवेश नहीं कर पाया है, लेकिन जहाँ ऐसा हुआ है, वहाँ भी अधकचरापन अधिक है. . .'

दूसरी पुस्तक में जब सुधीश कहते हैं कि आलोचक या विचारक को चाहिए कि वह एकता की कहानी न लिखे, अनेकता की लिखे, और रचना की कहानी न लिखे, विखंडन की कथा लिखे—तो क्या वे यह मान कर चलते हैं कि वैसा कर सकने के लिए हिन्दी के आलोचक या विचारक को किसी पूर्वनिर्धारित रास्ते से ही हो कर आना होगा?

उत्तर-आधुनिक परिदृश्य संभवतः *उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद* के कुछ पहले की पुस्तक है। इस में तीन खंड हैं और 32 टिप्पणियाँ। समसामयिक भारतीय यथार्थ (या 'अतियथार्थ'?) से जुड़े संस्कृति-चिन्तन की प्रखर बानगी नज़र आती है इन टिप्पणियों में। पुस्तक के तीन खंड हैं : 1. कुछ उत्तर-आधुनिक प्रस्ताव, 2. माध्यम और उपभोक्तावाद, 3. विखंडन, नया जनक्षेत्र और नई संरचना के प्रश्न।

अधिकांश टिप्पणियों की पृष्ठभूमि बने हैं : अयोध्या, सेक्यूलरिज़्म, हिन्दुत्व, उपभोक्ता संस्कृति का हमारे जीवन में दख़ल, जन-संस्कृति (मास कल्चर) का उभरना और विकेन्द्रीकरण। कला की प्रक्रिया से ध्यान हटा कर उस के प्रभाव-सापेक्ष और सफलता-सापेक्ष हो जाने पर काफ़ी बल दिया गया है। संस्कृति का 'उत्पादन' बनना इसी से जुड़ा है। सर्वाधिक (15) टिप्पणियाँ द्वितीय खंड में आती हैं, जहाँ माध्यम और उपभोक्तावाद की बात की गई है। 'वस्तुओं ने हमारे साथ क्या किया है', विज्ञापन और कविता का संबंध, डिज़ाइनर-कल्चर का वर्चस्व, विज्ञापन-वस्तु संबंध का महत्त्व, टूथपेस्ट द्वारा नीम को परे धकेल देना, साबुन द्वारा सास-बहू संबंधों का पुनर्निर्धारण, उपहार-संस्कृति का अर्थ, हमारे जीवन में ईर्ष्या-संस्कृति का समावेश, दैहिक संबंधों और देह-गाथा के नए समीकरण, माध्यम और जनतंत्र का संबंध—इन सभी पर बात की गई है और संस्कृति से जुड़ी आलोचना को एक अस्मिता दी गई है इस सब के द्वारा।

बाक़ी टिप्पणियों में से अधिकांश या तो धर्मनिरपेक्षता और धार्मिकता दोनों को नए तरीक़े से देखने की ज़रूरत पर केन्द्रित हैं, या उत्तर-आधुनिक शैतानियों की बात करती हैं। आसान समीकरणों के विलुप्त हो जाने और प्रश्नों और उत्तरों के गड़बड़ा जाने ने मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि को किस संकट से दो-चार किया है, उस की भी चर्चा है। बात यह सामने आती है कि समग्रताओं ('टोटेलिटीज़') की भाषा से हटा जाए। कोई नया मुहावरा खोजा जाए। ज़मीन-तले करवट ले रहे परिवर्तनों के प्रति हम सजग हों। 'हिन्दू' को मात्र विषय के रूप में न देखा जाए। देरिदा वाले 'दिफरांस' के महत्त्व को समझा जाए। विकास और आधुनिकीकरण से उपजे नए यथार्थों (बहुलवाद) को पूरी तरह समझा जाए। आलोचना में एक ही भाषा में बोलने की मजबूरी से बचने का रास्ता निकाला जाए।

परंतु एक तरह से सुधीश की अपनी विचारधारा में भी उतना खुलापन नहीं है जितना वे औरों से चाहते हैं। उदाहरणार्थ, द मान हमें यह भी बताते हैं कि आलोचना की कोई भी भाषा एक तरह के 'टोटलाइज़ेशन' से बच नहीं सकती। भाषा का अपना स्वरूप एवं उस की अपनी नियति ही कुछ ऐसी है। सुधीश में यदि पुराने मूल्यों के विखंडन को ले कर एक तरह की उदासी है, तो यह आग्रह भी है कि नए सामाजिक यथार्थ की बात एक तरह की भाषा में ही की जाए। पर उस के लिए तो कई तरह की भाषाएँ हो सकती हैं! यदि आधुनिकता से जुड़े संकट अभी पूरी तरह नहीं आए तो न सही, आधुनिकता से पूर्व की स्थिति में भी कई तरह के उत्तर उपलब्ध होंगे! माध्यम का आक्रमण यदि है तो कुछ हमारे ढाँचे में निहित सुरक्षाएँ भी होंगी ही! एकता की भाषा अभी भी उतनी निरर्थक नहीं

हुई। स्वयं सुधीश का मानना है कि 'जन-संस्कृति' अच्छा-बुरा बहुत कुछ साथ ले कर चलती है। एक जगह वह कहते हैं कि सवाल धर्मनिरपेक्षता जैसी अवधारणा का उतना नहीं जितना धर्म की नई संरचना करने का है : एक आधुनिक संरचना करने का है। यह संरचना क्या पूरी तरह अतीत या परंपरा या मिथकों या प्रतीकों से कट सकती है?

और कविता? वह तो विज्ञापनों के बीच भी जिएगी। उन के बीच से उछल कर बाहर आएगी और आती रहेगी। किसी भी रूप में सही, 'कामना' रहेगी तो कविता भी रहेगी। उत्तर-आधुनिक यथार्थ और अति-यथार्थ कविता से बहुत कुछ छीनेगा तो कुछ देगा भी। अगर कुछ रंग आधुनिकता के मुक़ाबले कम प्रफुल्ल होंगे तो भी रंग तो होंगे ही। कुल मिला कर 'सिनेरियो' (परिदृश्य) उतना बुरा नहीं है। इस सब से बाहर का रास्ता काफ़ी हद तक नई साहित्यिक और बहु-माध्यमी तकनीकों में से भी मिलेगा, यह तय है।

पहली पुस्तक में भी उत्तर-आधुनिकता के साहित्यिक-तकनीकी पक्ष की बात कुछ ज़्यादा होती तो बेहतर था। साथ ही, फूको-लाकाँ-देरिदा-बार्थ के समग्र काम में विद्यमान अंतर्विरोधों का कुछ ज़िक्र भी ज़रूरी था। उन अंतर्विरोधों के अहसास मात्र से 'यहाँ' के लोगों (विशेषतः रचनाधर्मियों) के लिए कुछ और रास्ते अवश्य खुलते। और फिर 'वहाँ' और 'यहाँ' की आधुनिकता में अंतर तो है ही। यह संभावना नकारी नहीं जा सकती कि हमारा 'सीमित' ज्ञानोदय (एनलाइटनमेंट या रेनेसां?) और उस से निकलने वाली हमारी 'सीमित' आधुनिकता उसी हद तक उत्तर-आधुनिकतावादी हमलों का तोड़ भी अपने भीतर छिपाए हो।

लेकिन ऐसे सभी अनुष्ठानों का (दोनों पुस्तकों को साथ लिया जाए तो) सब से श्रेयस्कर पहलू होता है उन के द्वारा लाई गई सजगता और अहसास और पेचीदा विचारों का अधिकाधिक लोगों तक पहुँचाना। उस दृष्टि से भी और इन सब 'इस्तेमालों' से हट कर स्वयं अपने आप में सुधीश की ये दोनों पुस्तकें बहुत कुछ ऐसा करती हैं जो हिन्दी में पहले (अधिक) नहीं हुआ। कुछ बारीक़ियों के प्रति सतत सजगता जो ऐसे जटिल विषयों की चर्चा में रहनी ही चाहिए जो सुधीश के कार्य में बहुत हद तक विद्यमान है। वैसी दृष्टि रखना और उसे ऐसे अनुष्ठानों की सेवा में ला पाना अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है।

चर्चित किताबें :

उत्तर-आधुनिक परिदृश्य (उपभोक्ता संस्कृति के रूप) : सुधीश पचौरी; सचिन प्रकाशन, 7/34, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; 1994; मूल्य 100 रुपए

उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद : सुधीश पचौरी; हिमाचल पुस्तक भंडार, सरस्वती भंडार, गाँधी नगर, दिल्ली 110091; 1994; मूल्य 85 रुपए

किताबें—3

भगवत रावत

यथातथ्यता का आवेग

ज़मीन से जुड़ने और समाज और उस के यथार्थ आदि के बारे में इतनी ज़्यादा बातें कही गईं और कविता में इन बातों का इस बुरी तरह इस्तेमाल भी किया गया कि इन शब्दों से हिन्दी पाठकों को एक तरह की चिढ़ छूटने लगी थी। प्रगतिशील और जनवादी चेतना के विचारवान लोग तक उन कविताओं में राहत खोजने लगे थे जिन में लोक छवियों या लोक रंगों के लुभावने प्रकृत रूपों की ताज़गी के अलावा और कुछ नहीं था। धीरे-धीरे कविता में कथ्य और समझ का ह्रास होने लगा था। या तो वह क्षेत्रीय बोलियों की सुगंध और उस की छवियों की तरफ़ मुड़ने लगी थी या फिर जीवन संघर्ष और सामाजिक यथार्थ के नाम पर क़वायद-सी करती दिखने लगी थीं। ऐसे समय में निरे कथ्य के बल पर विष्णु खरे के नए कविता संग्रह *सबकी आवाज़ के पर्दे में*—ने सारे दृश्य में न केवल एक ज़रूरी हस्तक्षेप किया, समकालीन हिन्दी कविता के सामने कई सारे सवाल भी खड़े कर दिए।

कविता समाज की चाहे जितनी पक्षधर रही हो, चाहे जितनी ज़मीन से जुड़े रहने का दावा करती रही हो, अपने स्वरूप में वह थोड़ी-बहुत तो ज़मीन के ऊपर ही रहती आई है और शायद इसी में उस का कविता होना भी छिपा माना जाता रहा है। लेकिन कविता इतनी *'डाउन टू अर्थ'* भी हो सकती है कि उसे आप कविता मानने से इंकार करते हुए भी इंकार नहीं कर पाएँ, यह अहसास पहली बार यदि किसी ने कराया है तो वे हैं श्री विष्णु खरे।

सबकी आवाज़ के पर्दे में उन की कविताओं में न तो कहीं संसार को बदलने का कोई दावा है, न सामाजिक उत्पीड़न और शोषण के प्रति कोई हाय-हाय, न आवेश, न आक्रोश। फिर भी ज़िन्दगी और यथार्थ में घुलमिल कर इतनी गहरी पैठी हुई हैं कि यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि विष्णु खरे सचमुच 'लालटेन' जंला रहे हैं या लालटेन जलाने पर कविता लिख रहे हैं। 'मैला ढोने की अमानवीय प्रथा' जैसी कविता पढ़ते हुए कविता और उस के सौन्दर्य संबंधी आप की समस्त रुचियों को झटका तो लगता ही है, आप की नींद भी हराम हो जाती है। विष्णु खरे की ये कविताएँ पाठक को मुक्त नहीं करतीं, गहरे संकट में डालती हैं। आप चाहें भी तो इन कविताओं में से अधिकांश को पढ़ते हुए साँस नहीं ले सकते, क्योंकि आप साँसत में फँस चुके होते हैं। यह भी नहीं कि थोड़ी ही देर में आप को छुट्टी मिल जाए।

तथ्यपरक भाषा के ज़रिए, पूर्व-अर्जित लगभग सभी काव्य कौशलों को नकारते हुए विष्णु खरे ने जिस कविता को ईजाद किया है, उसे देख कर कोई सामान्य पाठक यह मान ले सकता है कि विष्णु खरे की कविता का हिन्दी कविता की परंपरा से कुछ लेना-देना नहीं है। या यह भी कि उन की कविता, कविता नहीं और चाहे जो हो। विष्णु खरे ने इन हदों तक जा कर समकालीन हिन्दी कविता को तोड़ा है और यह काम वे पिछले तीस सालों से करने में लगे रहे हैं जो अब जा कर इस संग्रह में फलित हुआ है। अगर विष्णु खरे पर कोई यह आरोप लगाए कि वे पिछले तीस सालों से केवल यही कविताएँ तो लिख रहे हैं या यह कि उन की कविता यात्रा के विकास के ग्राफ़ का पता लगाना मुश्किल है तो बहुत ग़लत नहीं होगा। यह अपनी जगह सच होगा, पर सब से बड़ा सच यह है कि इस

कविता संग्रह में जो कविताएँ छन कर आई हैं उन्होंने हिन्दी कविता के दृश्य में एक हड़कंप तो पैदा कर ही दिया है।

इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ पढ़ते हुए यह अहसास निरंतर होता रहता है कि आप जिस दुनिया में प्रवेश करते हैं वह बिल्कुल आप की ही है। उस में न कोई अजूबा है न कोई अद्वितीयता। सब कुछ चिर-परिचित है। एक ऐसा विसंगतियों से भरा हुआ निरा यथार्थ है जिसे हम रोज़ देखते हैं, जिस में हम रहते हैं, फिर भी हमें लगता है जैसे हम यह सब पहली बार देख रहे हैं। जब वे कहते हैं : *औरतों पर मर्दों के ज़ुल्म के बारे में बहुत कुछ कहा गया है/पत्नियों पर पतियों की क्रूरताओं को भी/सामान्य तथा विशेषज्ञों ने/विभिन्न कोणों से देखा है/वे सच्चाइयाँ अपनी जगह होंगी/लेकिन यहाँ कुछ और संकेत ही अभीष्ट हैं. . .*—हमारी पत्नियाँ

तो वे यही कहना चाहते हैं कि देखा तो यह सब आप ने भी है पर वे जो देख रहे हैं शायद महसूस आप ने भी किया हो, पर इस तरह देखने और कहने का साहस ही उन की कविता है। इसीलिए वे कहते हैं : *यदि हम सजग और संवेदनशील व्यक्ति हैं/और ऐसा मानने में झूठा संकोच कैसा कि हम हैं/तो हमने ग़ौर किया होगा/कि किस तरह हमारे लिए हमारी पत्नियों की ज़िन्दगी/सिर्फ़ उस दिन से शुरू होती है/जब हमने उन्हें पहली बार देखा था।*

इस उद्धरण की पहली दो पंक्तियाँ हमारी मध्यमवर्गीय संवेदनशीलता और सजगता पर चोट ही नहीं करती उसे जगाती भी हैं। विष्णु खरे की अधिकांश कविताओं में 'मैं' नहीं, 'हम' का स्वर है। यह 'हम' वह मध्यवर्ग है जिस में वे स्वयं शामिल हैं। वे हमेशा इसी की संवेदना को चुनौती देते हैं। उन की कविता जन-जन को संबोधित होने का स्वाँग नहीं करती, भले ही वे कविता भीख माँगने वाले लोगों पर ही क्यों न लिख रहे हों। उन का निशाना यही मध्यवर्ग है जो निरंतर अपने पढ़े-लिखे, सजग और संवेदनशील होने का दंभ पाले रहता है और यह कोई बहुत आकस्मिक नहीं है कि विष्णु खरे की अधिकांश कविताएँ उस भाषा की संरचना को ही अपनी कविता का आधार बनाती हैं, जिस का इस्तेमाल हम सब यानी मध्यवर्गीय अफ़सरों से ले कर बाबू वर्ग तक तरह-तरह से दफ़्तरों की फ़ाइलों, शोध ग्रंथों, रिपोर्टों, अर्जियों, प्रतिवेदनों, समाचारों, बड़े-बड़े सेमीनारों और सम्मेलनों में करते हुए उसी में अपने दाँव-पेच या महारत दिखाते हैं, जो अपने स्वभाव में न केवल ठंडी, उबाऊ और संवेदनहीन होती है, अधिकतर पुस्तकीय और टेक्नीकल क़िस्म की होती है। किन्तु जब विष्णु खरे इसी भाषा में कविता करते हैं तो ज़ाहिर है कि उस समय उन के 'कुछ और संकेत ही अभीष्ट' होते हैं। कविता उस के बाहर ही क्यों, उस के भीतर भी है और शायद विष्णु खरे की सारी ताक़त इसी तरह की भाषा में कविता को संभव करने में लगी है। उन की कुछ और कविताओं की पहली पंक्तियाँ पढ़ने से शायद मेरी बात और साफ़ हो सके : *लालटेन जलाना उतना आसान बिल्कुल नहीं है/जितना उसे समझ लिया गया है/अव्वल तो तीन-चार सँकरे कमरों वाले छोटे से मकान में भी/कम से कम तीन लालटेनों की ज़रूरत पड़ती है/और रोज़ किसी को भी राजी करना मुश्किल है कि/वह तीनों तैयार करे/और एक ही आदमी से हर शाम/यह काम करवा लेना तो असंभव है।* ('लालटेन जलाना') । लगता है आप लालटेन जलाने पर कोई निबंध पढ़ रहे हैं।

इससे पहले कि इस विषय पर कुछ कहा जाय/बेहतर होगा कि तरद्दुद में डालने वाले/इस पूरे मुहावरे पर ग़ौर करें/जो, ध्यान दें, है/सिर पर मैला ढोने की अमानवीय प्रथा. . .— (मैला ढोने की अमानवीय प्रथा) । लगता है आप राष्ट्रीय महत्त्व के किसी सेमिनार में किसी पेपर का वाचन सुन रहे हैं।

ये सभी पंक्तियाँ बहुत ही तथ्यात्मक ढंग से देखी हुई चीज़ों के प्रति न केवल आप की संवेदनशीलता को चुनौती देती हैं, उसे जगाती भी हैं, ठीक उसी भाषा तंत्र के द्वारा जिस के माध्यम से ही हम और आप अक्सर बड़ी-बड़ी निर्णायक भूमिकाएँ निभाते रहते हैं या जिस के शिकार भी होते हैं। विष्णु चीज़ों पर इस तरह तथ्यों को उलट-पुलट कर विचार करने के मध्यवर्गीय कारकूनी अंदाज़ का मखौल ही नहीं उड़ा रहे, वे इसी भाषा तंत्र के ज़रिए उस का खोखलापन भी उजागर करते हैं : *बहरहाल इस भाव वाचक संज्ञा के आते ही/प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या/सिर पर मैला ढोने को प्रथा कह सकते हैं।*

और यह सब करते हुए विष्णु खरे की कविताओं में कहीं भी अभियोग नहीं है। उन की ये कविताएँ मध्यवर्गीय मानसिकता की *आत्माभियोग* की ऐसी कविताएँ हैं जो समस्त अमानवीय और असंवेदनशील तंत्र को ध्वस्त करती हैं। विष्णु खरे अपनी कविताओं में जहाँ मध्यवर्ग के सोच-विचार के नकलीपन और प्रपंच को बहुत बारीक़ी से

उजागर करते हैं, वहीं वे मध्यवर्ग की त्रासद ज़िन्दगी और उस की विरूपता के यथार्थ को भी अद्‌भुत ढँग से रचते हैं। 'जो टैम्पो में घर बदलते हैं', 'बेटी' और 'लड़कियों के बाप' जैसी कविताओं को पढ़ कर कोई सचमुच भावुक भी हो सकता है। अगर कविता के लिए यह दुर्गुण है तो सचमुच विष्णु खरे की कविता में यह है। पता नहीं क्यों, हम जो हमारे जीवन में है उसे कविता से बाहर कर देना चाहते हैं! अपनी बेटी के लिए हम भावुक हो सकते हैं, कविता में नहीं! हो जाएँगे तो कविता के प्रति कौन-सा अपराध हो जाएगा? अगर यह अपराध है तो विष्णु खरे ने यह अपराध भी किया है। इन कविताओं में विष्णु खरे अपने आवेग को छिपा नहीं पाए हैं। इन में भाषा की कोई चतुरता भी नहीं दिखा पाए। इसीलिए ये कविताएँ उन की अन्य कविताओं की तुलना में भावावेग की कविताएँ हैं।

विष्णु खरे की कविता परंपरा के बोझ से भले ही मुक्त दिखती हों, लेकिन वह अनिवार्य रूप से हिन्दी काव्य-परंपरा के विकास का ही स्वाभाविक परिणाम है। निराला के बाद की आधुनिक हिंदी कविता के कई रंग थे। अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन ने जिन विविध रंगों से हिन्दी कविता के दृश्य को बनाया वे इतने अलग-अलग हैं कि धोखे से भी वे एक-दूसरे के घर में दिखाई नहीं देते। लेकिन इन के बाद के कवियों ने अलग-अलग होते हुए भी कविता की एक सामान्य भूमि की रचना भी की। कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही, श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथ सिंह और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि ऐसे कवि हैं जो एक दूसरे के काव्य-वृत्तों को काटते हुए अनुभव, संवेदना और भाषा की ऐसी सामान्य भाव भूमि भी रचते हैं जिन में एक दूसरे की आवाजाही को देखा जा सकता है। यह सामान्य भाव-भूमि है जीवन के यथार्थ में सीधे धँसने की जो यहाँ तक भी निराला के ज़रिए विकसित होती हुई आई। यह ध्यान देने की बात है कि विष्णु खरे की एक कविता का शीर्षक ही है, 'जो मार खा रोई नहीं' यह निराला की 'तोड़ती पत्थर' नामक कविता ही हिन्दी की वह कविता है जहाँ से यथार्थ को उस के यथा-तथ्य रूप में पकड़ते हुए कविता को संभव किया गया है। बाद के कवियों में रघुवीर सहाय ही ऐसे कवि हैं जो इस सामान्य भाव-भूमि को ही अपनी कविता की विशिष्ट भूमि बनाते हैं। वे यथार्थ में सीधे धँसते हैं और निरंतर एक ऐसी भाषा की तलाश में रहते हैं जिस के 'दो अर्थ न हों'। भाषा की यह तलाश यदि रघुवीर सहाय के ही समकालीन किन्तु ठीक उन की अगली पीढ़ी के जिन कवियों ने की, उन में विष्णु खरे सब से प्रमुख कवि माने जाएँगे। समकालीन हिन्दी कविता का एक रास्ता यह भी है। विष्णु खरे जीवन के यथार्थ के इस रास्ते से ऐसी चीज़ें बटोरते हैं जिन में कविता की किसी को कोई गुंजाइश दिखाई नहीं देती।

विष्णु खरे की कविता की भाषा के बारे में जो मैं ने पहले कहा है, यदि उस पर ध्यान दें तो यह एक आश्चर्य ही जान पड़ेगा कि अपने समस्त ब्योरों, विवरणों और पूरी तरह तथ्यात्मक यथार्थ में विन्यस्त होने के बावजूद फलितार्थ में यही भाषा आप के भीतर गहरी मानवीय करुणा पैदा करती है। यह बात अलग है कि कभी-कभी ये ब्योरे ज़रूरत से ज़्यादा भी लगने लगते हैं, जिस के कारण अनुभव की सांद्रता में कमी आती लगती है और एक तरह की एकरसता भी पैदा होती है। लेकिन विष्णु के यहाँ कथ्य का आवेग इतना अधिक रहता है कि आप इस एकरसता को लाँघ जाते हैं। विष्णु खरे की अनुभव संपदा बहुत बड़ी है। यही कारण है कि कविताओं में ब्योरे कहीं 'रिपीट' होते नहीं दीखते। उन के सभी दृश्य इस माने में अद्वितीय हैं। यह सामान्य और साधारण की अद्वितीयता है। मैं कह यह रहा था कि विष्णु खरे की काव्य भाषा अपने फलितार्थ में गहरी मानवीय करुणा ही पैदा करती है। मुझे तो यहाँ तक लगता है कि विष्णु की कविताओं की व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र की रस मीमांसा तक जा कर की जा सकती है। अपने समस्त आधुनिक बोध के साथ जीवन की सारी जटिलताओं से होते हुए विष्णु खरे अंततः कविता में करते क्या हैं? वे आप को भाव विभोर भले न करते हों, लेकिन ऐसी गहरी करुणा में आप को डुबो देते हैं जहाँ से ऊपर आने में काफ़ी समय लगता है। 'दिल्ली में अपना फ़्लैट बनवा लेने के बाद', 'चौथे भाई के बारे में', 'मिट्टी' और 'लालटेन जलाना' जैसी स्मृतियों में जाने वाली कविताओं की रचनात्मक बुनावट भी बहुत भिन्न नहीं है। दरअसल विष्णु खरे की कविता भारतीय शास्त्रीय संगीत की तरह है, जिस में धीरे-धीरे भाषा और उस के समस्त तंत्र का लोप होता जाता है और अंत में सिर्फ़ राग बचा रह जाता है। वे ठेठ अभिधा के अत्यंत आधुनिक कवि हैं। उन की कविताओं में शब्द अपने मूल अर्थों में ही हैं। आप उन की कविता का कोई दूसरा अर्थ नहीं निकाल सकते। यही नहीं, वह और केवल वही आप को दिखाई देगा जो विष्णु खरे दिखाना चाहते हैं। आप उन के सहारे इधर-उधर

नज़र दौड़ा नहीं सकते और न कुछ अलग से सोच सकते हैं।

विष्णु खरे की कविता के बारे में यह बात अलग से विचारणीय हो सकती है कि क्या वे अपनी कविता में लगभग 'डिक्टेट' ही करते रहते हैं। कविता में कहीं बीच में जो जगह छूटी हुई होती है, वह उन की कविताओं में नहीं है। पूरे संग्रह में उन की केवल एक कविता है 'सिलसिला', जो सारी कविताओं से अपने रचना-विधान में बिल्कुल अलग है और यह कविता भी उन की श्रेष्ठ कविता है। इस में अनुभव की जगह अनुभूति ने ले ली है। इसीलिए इस का आकार शायद छोटा है। यह कविता वह 'स्पेस' छोड़ती है जहाँ आप कविता के साथ होते हुए स्वतंत्र भी होते हैं और नीच में कहीं भी रुक कर, और भी बहुत कुछ देखने और महसूस करने लगते हैं :

वह जो एक बुझता हुआ-सा कोयला है
फूँकते रहना है उसे
हर बार राख उड़ने से
जिसमें भौंह नहीं आँख को बचाना है
वह थोड़ा दमकेगा
जल कर छोटा होता जाएगा
लेकिन कोई चारा नहीं फूँकते रहने के सिवाय। —'सिलसिला'

विष्णु खरे की कविताएँ श्रव्य से ज़्यादा दृश्य हैं, बल्कि अधिकतर दृश्यों की ही कविताएँ हैं। वे वर्णन की कविताएँ हैं। यह वर्णन ही संपूर्ण दृश्य-बंध की रचना करता है जिस का आधार भाषा की गद्यात्मकता है। वह पूरी एक इकाई बन कर ही कविता में रूपांतरित होता है। विष्णु खरे की कविता में से यही कारण है कि 'कोटेबल कोट्स' (चमत्कारी उद्धरण) ढूँढ कर निकालना लगभग असंभव है, लेकिन घोर गद्य जैसी दिखती इन कविताओं में जो नाटकीय व्यंजना अंतर्निहित है, उसे कविता के साधारण श्रव्य पाठ में पकड़ पाना मुश्किल है। उस के लिए इन कविताओं का नाट्य पाठ आवश्यक है। इन की भाषा में शब्दों की ध्वनियाँ नहीं, वाक्य संरचनाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं और वाक्य संरचनाओं में आने वाले बलाघातों को नाट्य पाठ ही पकड़ सकता है। यही कारण है कि ये कविताएँ श्रोतव्य की अपेक्षा पठनीय अधिक हैं। विष्णु खरे की ये कविताएँ हरिशंकर परसाई के ललित निबंधों के बहुत पास दिखाई देती हैं क्योंकि उन की भाषा के चरित्र में ही व्यंग घुला हुआ है। यही कारण है कि इन कविताओं की भाषा अपने स्वरूप में आवेग और आवेश से रहित दिखाई देते हुए भी जीवंत हो उठती है। यदि व्यंग इस भाषा में न घुला होता तो विष्णु खरे कुछ कर ही नहीं पाते। यही व्यंग अंततः गहरी मानवीय करुणा में फूटता है।

विष्णु खरे की सभी कविताओं पर बातचीत करने के लिए पर्याप्त समय और स्थान चाहिए जो यहाँ संभव नहीं। मेरे लिए इन कविताओं को पढ़ना एक ऐसा अनुभव था जैसे किसी अत्यंत शातिर, तेज़, बदमाश और उद्दंड लड़के को किसी कोने में अकेले खड़े बिसूरते हुए देख लिया हो। उन की कविताएँ ही उन का मन है। ये कविताएँ जीवन और उस के यथार्थ को उस के यथातथ्य रूप में पकड़ने का एक नया रास्ता खोजती हैं। विष्णु की समवयस्क पीढ़ी के लोग यह काम किसी न किसी रूप में करते रहे हैं। इस तरह की कविताएँ लिखी जाती रही हैं, लेकिन विष्णु ने इस तरह की कविता को जो अपनी दृष्टि और व्यवहार दिया है, उस से ये अब केवल विष्णु खरे की ही धरोहर बन गई हैं।

किसी एक कविता संग्रह में यदि नब्बे फ़ीसदी कविताएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण और चर्चा के योग्य हों तो यह उस कविता संग्रह का गुण है या दोष यह मैं नहीं जानता, क्योंकि ज़्यादा अच्छाई भी संदेहास्पद हो सकती है। बहरहाल बहुत समय के बाद एक ऐसा कविता संग्रह पाठकों के सामने है जिस् की लगभग सभी कविताएँ गुणवत्ता में एक दूसरे के आजू-बाजू ही खड़ी दिखाई देती हैं।

और अंत में यह कि पता नहीं क्यों, विष्णु खरे की कविताएँ पढ़ते हुए बार-बार मुझे तुलसीदास की एक चौपाई याद आती है : *कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।*

चर्चित किताब :

सबकी आवाज़ के पर्दे में : विष्णु खरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, 2, अंसारी रोड, नई दिल्ली 110002; 1994; मूल्य 90 रुपए

किताबें—4

श्याम विमल

जीवन सौन्दर्य के प्रस्ताव

चर्चित कथाकार गोविन्द मिश्र की ये चार पुस्तकें 1985 से 1995 के बीच प्रकाशित हुई हैं, जिन में *पाँच आँगनों वाला घर* (1995) उन के प्रकाशित सात उपन्यासों में सब से नया है। इन चारों पुस्तकों में एक उपन्यास, एक उपन्यासिका, दो प्रकाशित उपन्यासों के एक-एक अंश, एक लंबी कहानी (धाँसू), चौदह (बारह प्रतिनिधि मिला कर) कहानियाँ, एक कथा-नाटक, साहित्य के संदर्भ में चार लेख, देश-विदेश के स्थलों को ले कर दस यात्रा-वर्णन, दो संस्मरण, पाँच कविताएँ, एक अनाम प्रेम पत्र, 18 वर्ष की उम्र से 54 वर्ष की उम्र के बीच मात्र छह दिनों के डायरी अंश, बुंदेली के महाकवि ईसुरी पर एक पृष्ठ की ललित टिप्पणी, दो भूमिकाएँ और अपनी रचना-प्रक्रिया पर चार आलेख। प्रस्तुत चारों कृतियों के अलावा भी शेष तीन उपन्यास, सात-आठ कहानी-संग्रह, कुछ निबंध, साक्षात्कारों का संग्रह आदि विविध पुस्तकें प्रकाशित संपादित-विज्ञापित हैं, तीन उपन्यासों के पुरस्कृत होने की सूचना भी है।

पच्चीस-तीस वर्षों में फैली रचनाशीलता को उजागर करने वाली गोविन्द मिश्र की कृतियों में कृतिकार का निज़ी, समाजी, परिवेशगत, अनुभूत-गृहीत संदर्भ, वास्तविक और काल्पनिक कथ्य और विचार, पूर्वग्रह और समाग्रहण जहाँ रचना के प्रसंगों में उजागर होता है, उन के पात्रों के कृत्यों-बातों से झाँकता है, अपने समय को सामने साथ रखता हुआ शिल्प-शैली-भाषा-प्रयोगों से अंकित होता है, वहाँ लेखकीय भूमिकाओं व अपनी रचना प्रक्रिया की अनारोपित अभिव्यक्तियों से, डायरी-पत्रों से सत्यापित हो कर अपने कृत संकल्पों से मनुष्य को विश्वस्त और अंतःप्रेरित भी करता है। यहीं कृतिकार की दृष्टि और 'विज़न' पहचान में आते हैं।

मुझे याद आ रहा है गोविन्द मिश्र का सत्तर के दशक में दिल्ली में आयोजित एक संगोष्ठी में उठी वैचारिक बहसों में अपना-सा लगता वक्तव्य, जो मात्र आयातित विचार-धाराओं से अलग छिटका हुआ और वैयक्तिक लाँछनों की कड़वी बारिश में न भीगता हुआ उन का स्वतंत्र व्यक्तित्व भी।

मुझे याद है एक समाचार-पत्र में छपा हुआ लघु लेख, जिस में मिश्र ने साहित्यिक जगत के लिए कुछ कर गुज़रने को योजनाबद्ध संवादात्मक सुझाव दिए थे। तब उन का परिपक्व युवा-काल था। विचार में वह कूद पड़ने की कुव्वत भी रखते थे, वह कदाचित् लेखकत्व से सहमत कुछ करने वाला व्यक्तित्व सँजोए हुए लगे थे।

अब उन की रचनाएँ पढ़ते हुए लगता है वह दुनिया देखे-भाले हुए हो कर अपनी क़लम या साहित्य के ज़रिए बात को समाज तक पहुँचाने में ही अपनी सामर्थ्य सीमा में रह कर संतुष्ट हैं। उन के भीतर का जो नैतिक बोध है जिसे उन्होंने पीढ़ियों के बीच बदलते रिश्तों की टूटन से, राजनीति में भ्रष्टाचार के प्राबल्य से, ईमानदारी की असफलताओं के पीछे भौतिक रुझान या दृष्टि का परिवर्तित रूप महसूस करते जाने से तथा भारतीय स्त्री के आधुनिकता के नाम पर भटकते जीवन एवं तत्संबंधी दृष्टिकोण को वह अपने कथा-पात्रों के माध्यम से अपनी अंतर्वेदना को प्रकट करते नज़र आते हैं।

लेखन या साहित्य केवल मनोरंजन का ज़रिया हो या यात्रा में समय काटने की चीज़ बने, अधिकांशतः पाठकवृंद की ऐसी कुछ अपेक्षाएँ आज प्रतीत होती हैं। इन अपेक्षाओं की पूर्ति में बहुत कुछ घटिया माल (साहित्य के नाम पर) बाज़ार की पटरियों पर और रेलवे बुक स्टालों पर नज़र आता है। उस से बिल्कुल भिन्न, अर्थात् समय, समाज व्यवस्था, राजनीति विद्रूप, जीवन शैली की आलोचनात्मक व्यथा-कथा कहने-लिखने वालों में गोविन्द मिश्र भी शिद्दत के साथ सक्रिय हैं।

एक भूमिका में लिखने पर बैठने को प्रार्थना पर बैठना मानने वाले गोविन्द मिश्र अपने जीने के संघर्ष में निहित यातना से गुज़रने को एक ही धारा से जुड़ने और उसे विकसित करने की आकांक्षा में अपनी नैतिकता को उपेक्षित नहीं कर सके हैं। 'लेखक की नैतिकता रचना में शक्ति बन कर उतरती है और हर नई रचना पलट कर लेखक की नैतिकता का संवर्धन भी करती है।' उन का मानना है कि हमारी माँ-समान प्रकृति को पीछे ढकेल कर आधुनिक विकृत सभ्यता के नाम पर भौतिक सुख-सुविधा बटोरने में जीवन की इति-श्री मान लेना और इसी मान्यता की तरफ़ साहित्य और कला को ढकेल देने की ज़बर्दस्त साज़िश चल रही है आज। 'आदमी को आदमी बनाए रखना, उसे संबल देना, उसे भौतिकी से पूर्णतया न दब जाने देना. . .आज साहित्य के सामने असली चुनौतियाँ ये हैं।'

साहित्यिक संगोष्ठियों में बुलावे पर, कभी लेखक शिविरों के मौके पर, सराकरी अफ़सरी करते हुए उसी के तहत कभी ख़र्चे उठा सकने वाले वेतन से देश-विदेश भ्रमण की वाहन निवासादि सुविधाओं का लाभ तथा अनुभवों, स्थलों, क़स्बाई ग्रामीण आदिवासी जनों से ले कर ओहदेदार महानगरीय मित्रों व नवपरिचितों तक के बीच पाए हुए अवसरों स्वभावों प्रकृति दृश्यों और देखी-सुनी-जानी कल्पित और अर्जित परिस्थितियों की इतनी सामग्री लेखक की निरीक्षण शक्ति का ईंधन तो बनना ही चाहिए। लिखने की ऊर्जा व भाषाई गुणवत्ता से रचना तो सहज संभाव्य है। *झूलती जड़ें* में समाहित यात्रा-संस्मरणों में बस्तर की आदिवासी जीवन-शैली का दर्शन, अंडमान निकोबार के ऐतिहासिक-भौगोलिक संदर्भ व प्राकृतिक रूप-छटाएँ देखी जा सकती हैं। मध्य ऐतिहासिक काल में जीने-मरने को उत्सव की तरह स्वीकारने वालों की जातीय गौरव के धनी वीरों के और जौहर की धरती, राणा प्रताप और पद्मिनी की, गोरा बादल और मीरा की एवं अरावली पहाड़ियों व झीलों की धरती का अतीतोन्मुख स्मरण भी अंकित है। इन के अलावा सतपुड़ा के घने जंगलों में बसे पचमढ़ी-तामिया के स्थल तथा आसपास फैले पुराने मंदिरों, ऐतिहासिक खंडहरों की स्थापत्य कलाओं को निहारने का आनंद और फिर हरे-भरे स्वच्छ शिक्षित प्रदेश केरल की पेरियार नदी के साथ-साथ चलते-दौड़ते-बहते काव्यात्मक वर्णन, भारत के पूर्वांचल प्रदेशों के दृश्य, रहन-सहन, खान-पान व रिवाजों का चाक्षुष अनुभव भी है जो यात्रेच्छु के मन को उद्दीप्त व प्रेरित करते हैं। मिश्र यात्रा-काल में कभी-कभी उन स्थलों पर मनुष्य की स्वार्थपरक दख़लंदाज़ी पर अपनी आलोचकीय टिप्पणियाँ भी करते हैं, जैसे वृक्षों की कटाई से बिगड़ता पर्यावरण, सड़क-पुल-निर्माण पर ख़र्च होने वाली योजना राशि की भरपाई मात्र काग़ज़ों में होने की आशंका इत्यादि।

यात्री लेखक का यह उचित सुझाव क्रियान्वयन की माँग करता है कि भारत भर के प्राकृतिक अंचलों में ऐसे अनेक स्थल हों जो लेखकों के सृजन वर्ग के लिए 'आरक्षित' और आवश्यक सुविधाओं से युक्त हों। लेखन से ताल्लुक़ रखने वाले अपने लेखों में गोविन्द मिश्र का मंतव्य है कि सिर्फ़ मार्क्सवादी सिद्धांतों को भौतिक शक्ति बनाने के लिए लिखना लेखक होना नहीं, कार्यकर्त्ता होना है। यथार्थवाद की लगाम खींच कर नहीं रखने से लेखन 'नाराज़गी और घृणा' की अभिव्यक्ति मात्र हो कर रह जाएगा। समाज कोई कूड़े का ढेर नहीं है, न ही साहित्यकार सफ़ाईदार, जो झाड़ू उठाए और साफ़ कर दे। अतः 'वादों' के घेरों से निकल कर जीवन की उन चीज़ों को ढूँढ़ना चाहिए जो जीवन में तो हैं, पर जैसे ओट हो गई हैं। आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्यीकरण लादने की वजह से हम जो लेखक और ग़ैर-लेखक भी भारतीय समाज और अपनी ज़मीन से कटते जा रहे हैं, उस की चिन्ता भी जहाँ-तहाँ प्रसंगानुरूप प्रकट है। साहित्य का असली स्वर शाश्वतता का है न कि तात्कालिक यथार्थ का, जिस के ज़रिए जीवन की कुरूपता पर ही ज़्यादा ध्यान दे कर संवेदनहीनता और मूल्यहीनता को लेखन के माध्यम से और ज़्यादा प्रचारित किया जा रहा है।

गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि चौदह कहानियों की ख़ासियत यह है कि इन में समाज के विभिन्न वर्ग, 'टिपिकल' चरित्र, परिवारों की वर्तमान परिस्थितियाँ, संबंधों की एवं महानगरी व ग्रामीण जीवन की झलकियाँ, भ्रष्टाचार की दलदल में फँसा जनतंत्र, वृद्ध पीढ़ी का दुःखद आत्मालाप, अफ़सरों-कर्मियों की बकवासें आदि विविध प्रसंग हैं जो जीवन में अक्सर आते हैं। 'जनतंत्र' कहानी की शैली एकालाप-प्रत्यालाप के सिलसिलों से भरी है। जनतंत्र क्या पागल बना देता है? सौ तरह के सलाहदाता हैं, किसे सुनें, किसे बरजें। आसपास के जनों के तंत्र में फँसा अपने जीवन के लिए लड़ता मास्टर-सरीखा सीधा आदमी गाली दे तो भीतर-भीतर खुद को दे सकता है या समूचे तंत्र को। 'ख़ाक़ इतिहास' (चेकोस्लाव जीवन पर आधारित) मीठा दर्द छोड़ने वाली विदेश-देश को एक-सा करती स्नेहिल कहानी है। 'मुझे घर ले चलो' छँटनी का शिकार हुए मज़दूर की बीमारी, फिर मृत्यु पर करुणोत्पादक कहानी है। काशी में लावारिस लाशों के संस्कार के लिए स्वेच्छया डोम का काम करता अज्ञात-कुलशील 'पगला बाबा' का कथा-पात्र, समाज सेवा के लिए अपने को प्रचारित करने वाले अकर्मण्यों पर चुटीले व्यंग की काली राख उँडेल जाता है। लेखक की अंडमान निकोबार यात्रा का सुफल है 'आल्हखंड' कहानी, जिस में द्वीप में ख़त्म होने जा रही वृद्ध पीढ़ी के अनुभवों-संवादों से उन के साथ-साथ उन के वक़्त का इतिहास भी झड़ते पत्तों-सा खड़खड़ा कर ख़त्म हो जाने को है।

लंबी कहानी 'धाँसू' ऊँचे पदों, लाभप्रद स्थानों, नाम-प्रसिद्धि पाने की दिशाओं के पीछे 'पिक्कारी' जानवर की तरह पड़ जाने वाले धाँसू क़िस्म के चाटुकार अवसरवादी लोगों पर ख़ासा कटाक्ष है। ये लोग राजनीतिज्ञ, साहित्यकार, बुद्धिजीवी आदि सभी क्षेत्रों में देखने को मिल जाते हैं। इसी कहानी 'धाँसू' ने गोविन्द मिश्र को साहित्यिक जगत में चर्चित भी किया था। पुस्तक में संकलित एकमात्र कथा-नाटक *गलत नंबर* फ़ोन की शरारत से आदमी-औरत की भीतरी प्रवृत्ति को उघाड़ने के लिए ही लिखा गया लगता है। अपने समग्र विधा-लेखन के प्रदर्शन की ख़ातिर लगता है गोविन्द मिश्र को 'आल राउंडर' होना नापसंद नहीं; शायद इसीलिए पाँच कविताएँ भी जड़ दी गईं, जिन में 'उपसंहार' ही कसी हुई सारगर्भित है।

पाँच आँगनों वाला घर उन का सातवाँ, ताज़ा उपन्यास है। कथा-काल पचास वर्ष, 1940 से 1990 तक का है। संयुक्त परिवार वाला विशाल घर, जो बनारस में बसा है, जिस के पाँच आँगनों में क़िस्म-क़िस्म के सामंती आयोजन होते रहे हैं : मुजरे, मुशायरे, कवि-सम्मेलन, रामलीलाएँ, भाँडों के नाच, बेटे-बेटियों के विवाहोत्सव। बग्घी, टमटम, इक्के, अस्तबल, कुआँ, ठाकुर-मंदिर और अनगिनत कमरे। कथावस्तु के अनुसार पहली पीढ़ी की सब से बुज़ुर्ग महिला स्नानार्थ नियमपूर्वक गंगाघाट पर जाने वाली तथा पुराने रीति-रिवाजों से गहरे जुड़ी हुई विधवा जोगेश्वरी के चार बेटों के कुनबे आदि मिला कर सौ के लगभग व्यक्ति। इन सब का चूल्हा एक ही। ऐसे विशाल परिवार के मिल-जुल कर रहने की कल्पना इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ते युवा कर सकते हैं क्या? ऐसे वृहद फलक वाले उपन्यास में जहाँ चार पीढ़ियों का लेखा-जोखा हो और पाँचवीं पीढ़ी का जन्म विदेश में संभावित हो, उन में अनेकानेक पात्रों के स्वभावों-चित्रणों, अंतर्बाह्य ब्योरों, कारनामों के गोंधल में पड़ कर समझने के लिए आज के व्यस्त जीवन में पाठक के पास फ़ुर्सत कहाँ है? यहाँ आशय यह नहीं कि ऐसा ज़िन्दगीनामा अतीत की खोह में डाल दिया जाए, या उल्लेख्य न हो। बीसवीं सदी की ज़िन्दगी का इतिहास ऐसी साहित्यिक कृतियों में ही सुरक्षित रहेगा, जिस से आने वाला समय बहुत कुछ ले सकता है, कुछ छोड़ भी सकता है।

इस में घरेलू और बाहरी अनेक ज़िन्दगियाँ और परिस्थितियाँ हैं, जैसे सन् 1940 के बाद के स्वतंत्रता संघर्ष की चरम स्थिति, देश-विभाजन, चीनी आक्रमण, कांग्रेस का विभाजन, आपातकाल, जनता पार्टी-काल तथा नब्बे तक का राजनीतिक संक्रमण काल। इस सब के परिप्रेक्ष्य में परिवारों और पीढ़ियों पर कैसे-कैसे प्रभाव-दबाव पड़ते हैं कि पाँच आँगनों वाले घर की पारिवारिक विशालता पीढ़ी-दर-पीढ़ी टूटती-बिखरती, जीविका हेतु बोलचाल में अंग्रेज़ियत का प्रवेश होने देती, संवेदनहीनता, पारंपरिक मूल्यों में निकटतम रिश्तों को अपमानित करते हुए पैसे को महत्त्वपूर्ण मान कर स्वार्थ-साधन करती, विदेशों में पलायन इत्यादि।

जब खान-पान होटलों-बाज़ारों में सुलभ हो तो संयुक्त कुटुंब के एक चूल्हे-चौके का क्या काम? जब बाहरी

संबंध जोड़ कर यौन-क्षुधा मिटाई जा सकती हो तो. . . रक्त-संबंधों को खींचतान कर निभाए रखने में क्या तुक? बदलते समय के साथ-साथ ऐसे ही पारिवारिक मूल्यों के संकटों में पड़े होने का अहसास कराने वाला यह उपन्यास है। लेखक ने तो कथा तत्त्वों के माध्यम से अहसास कराया ही है किन्तु जीवन-मूल्यों को कैसे सुरक्षित रखना है, अपनाना या उन में समयोचित बदलाव लाना है, यह दायित्व पाठक का हो जाता है। लेखक ने किसी प्रकार के आदर्शवाद की घोषित स्थापना नहीं की है, पर परिणामों तक पहुँचाने की स्वाभाविक गति को शैली की दृष्टि से असंतुलित नहीं होने दिया है। यथार्थ की दृष्टि से यह गति अवनति के गर्त की तरफ़ तीव्रतर हो रही है, इस सच्चाई को निःसंकोच हालात के ज़रिए समीक्षित किया गया है।

'लेखन में समाज परिवर्तन' नामक आलेख में गोविन्द मिश्र इस मान्यता के ज़्यादा पक्षधर प्रतीत होते हैं कि समकालीन लेखन में यथार्थ के नाम पर जीवन की कुरूपता पर ही ज़्यादा ध्यान देने की अपेक्षा, कुछ ऐसा भी किया और दिया जाना चाहिए जो कष्ट की घड़ी में व्यक्ति का संबल बन सके। जैसे 'सौंदर्य, प्रेम, प्रकृति, सौहार्द और ऐसी कितनी चीज़ें अब भी हैं' जो जीवन के प्रति प्रेम-रुचि-विश्वास-आस्था और उम्मीदें बँधाती हैं। इन के पक्ष में जो कृतिकार हो उसे पलायनवादी नहीं माना जाना चाहिए। इसी लेख में गोविन्द मिश्र एक संकल्प के साथ लिखते हैं : 'मैं अपनी आगे आने वाली कृतियों में जीवन की इन चीज़ों को (सौंदर्य-प्रेम आदि) ढूँढ़ना चाहूँगा, जो जीवन में तो है, पर (आधुनिक उत्तर-आधुनिक कहलाने की ग़रज़ से) जैसे ओट हो गई हैं।' हमें उन की ऐसी कृतियों के आगमन की प्रतीक्षा करते रहना चाहिए।

चर्चित किताबें :

झूलती जड़ें : राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली; मूल्य 17-50 रुपए

प्रतिनिधि कहानियाँ : राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली; मूल्य 18 रुपए

मुझे घर ले चलो : पराग प्रकाशन, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली; मूल्य 100 रुपए

पाँच आँगनों वाला घर : राधाकृष्ण प्रकाशन; मूल्य 125 रुपए

किताबें—5

रमेश ऋषिकल्प

संस्मरण : निकट भी, दूर भी

संस्मरणों में स्मरण किया जाने वाला व्यक्ति विभिन्न आयामों और कोणों से पाठक के सामने प्रस्तुत होता है। प्रत्येक व्यक्ति में इतनी-इतनी परतें होती हैं कि वह हज़ारों व्यक्तियों के द्वारा विवेचित और विश्लेषित किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का उसे जाँचने, समझने और पसंद किए जाने का अपना ढँग हो सकता है। यह बात उसी क्षण शुरू हो जाती है जब कोई व्यक्ति किसी को संस्मरण लिखने के लिए चुनता है। हम उसी व्यक्ति को संस्मरण के लिए चुनते हैं जो हमारी चेतना और मन का हिस्सा बन जाता है। शायद इसीलिए अजित कुमार ने संस्मरण की अपनी किताब का शीर्षक *निकट मन में* दिया। वैसे तो ये तीनों किताबें संस्मरण की अच्छी किताबें हैं, लेकिन निःसंदेह अजित कुमार की *निकट मन में*, काशीनाथ सिंह की *याद हो कि न याद हो* और चरणसिंह अमी द्वारा संपादित *भाऊ समर्थ* अलग-अलग ढंग से लिखी किताबें हैं।

अजित कुमार का *निकट मन में* संस्मरणों का दूसरा संग्रह है जिस में पंद्रह निबंध हैं। अजित कुमार कवि भी हैं इसलिए इन के इन संस्मरणात्मक निबंधों में कवि मन की गहराई और परिवेश को रचने की कुशलता हमें दिखाई देती है। ये संस्मरण हिन्दी साहित्य के लिए इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन में साहित्यकारों के अंदर का व्यक्ति उभर कर हमारे सामने आया है। जैसे अजित कुमार ने हिन्दी के चर्चित कवि रघुवीर सहाय पर जो संस्मरण लिखा है वो बहुत अच्छा और काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। इस संस्मरण में अजित कुमार ने जहाँ एक ओर रघुवीर सहाय के कवि व्यक्तित्व को और उस के विकास के सोपानों को हमारे सामने उभारा है, वहीं हमें व्यक्ति रघुवीर सहाय भी समझ में आता है।

'उलझन की बात यह थी कि रघुवीर बाबू "मन-मानी" और "जग-जानी" के बीच कभी-कभी बड़ा बेढब रिश्ता बिठाने लगते थे। खिलंदड़ी वाले दिनों में उस का भी अपना एक मज़ा था—बुत्ता देना, वादाखिलाफ़ी करना, लटकाए रखना—मध्यवर्ग के हम सभी लेखक इन फ़नों में माहिर थे, आत्मरक्षा के यही हथियार थे हमारे पास, इसलिए रघुवीर बाबू के या हम में से किसी के भी बारे में यह मज़ाक आम था कि मिलने का समय कनॉट प्लेस में दे देने पर वे लोदी गार्डेन्स में होंगे, और जब आप ऑल इंडिया रेडियो के सामने उन की प्रतीक्षा करते होंगे, तब वे "ऐल्प्स" या "वेंगर्स" में चाय पी रहे होंगे. . .'। इस बात से हम जान सकते हैं कि सब कुछ अच्छा लिखने वाला लेखक पूरी तरह खुद भी व्यवस्थित और आदर्श हो, यह ज़रूरी नहीं है। लेखक भी अपने लेखन से अलग हट कर उतना ही दुनियादार और लापरवाह हो सकता है जितना एक आम आदमी। इन संस्मरणों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि ये तत्कालीन परिवेश को बखूबी बुनते हैं। यह परिवेश बहुत क़ीमती चीज़ है। इसी परिवेश में लेखकों की लेखन क्रिया की छुपी हुई ऊर्जा दिखाई देती है। यह परिवेश और माहौल इन लेखकों के साहित्य में भी हमें नहीं मिल सकता। इस परिवेश को बुनते हुए हमें हिन्दी जगत की बहुत-सी ऐसी सूचनाएँ और जानकारियाँ मिल जाती हैं, जो हमारे लिए दुर्लभ तो होती ही हैं, दूसरी तमाम चीज़ों का रिश्ता भी समझ में आता रहता है।

वे भारत भूषण अग्रवाल पर लिखते हुए पाठक को सन् 1949 या 50 के इलाहाबाद में ले जाते हैं और फिर पाठक एक नई दुनिया में अपने आप को महसूस करने लगता है—'सन् 49 या 50 की उस पहली मुलाक़ात के साथ मैत्री का जो दौर आरंभ हुआ वह अटूट रहा। लखनऊ मेरा घर था। इलाहाबाद में मैं पढ़ता था, ख़याल है सन् 1950 के क़रीब भारतजी का भी तबादला इलाहाबाद हो गया और अगले दो-तीन वर्ष लगभग हर दिन या दूसरे-तीसरे दिन ज़रूर हमारी मुलाक़ात होती थी। वे टैगोर टाउन में रहते थे। पंतजी का घर भी निकट ही था। दफ़्तर भारतजी का थार्नहिल रोड पर था और ओंकार सुरतदास—सतीश आदि मित्रों की गप-गोष्ठियाँ यूनिवर्सिटी में जमती थीं। इन सब जगहों के अलावा परम मिलन-स्थल सिविल लाइंस तो था ही।' इस पूरे विवरण में सिर्फ़ भारत भूषण अग्रवाल ही नहीं हैं बल्कि सन् 50 का इलाहाबाद भी है। वहाँ की सिविल लाइंस है। गप-गोष्ठियों से भरी यूनिवर्सिटी है और छायावाद के एक स्तंभ पंतजी का मकान भी है। ऐसी स्थिति में संस्मरण का फलक व्यापक होता जाता है और पाठक की काल चेतना बदलती जाती है। वो भी इन सब लोगों के साथ हो लेता है। पाठक की समय चेतना इन संस्मरणों के साथ-साथ यात्रा करती है। अजित कुमार के द्वारा लिखे ये संस्मरण सच्चे और समूचे लगते हैं। यह तभी संभव हो पाया है जब कि संस्मरणकार उन्हें हमेशा के लिए छाया चित्र की भाँति अपने मन में समा सका है। अजित कुमार ने हिन्दी जगत के एक विशाल व्यक्तित्व और महान साहित्यकार 'अज्ञेय' के ऊपर तीन निबंधों में अपने संस्मरण लिखे हैं जिन का निश्चय ही बहुत महत्त्व है क्योंकि ये एक ऐसे व्यक्तित्व के बारे में हैं जिस पर लिखना न तो हर व्यक्ति के लिए संभव है और न आसान। अजित कुमार का यह अनुभव अज्ञेय की आत्मीयता, मितभाषिता और कोमलता को प्रभाषित करता है—'कई साल पहले की बात है। जाड़े की शाम थी। मैं उन से मिलने गया था। लौटते समय कुछ देर हो गयी थी। स्कूटर की किक से मुझे उलझते देख, उन्होंने सिर्फ़ इतना ही पूछा, "आप के पास कार भी तो है न!" मैं समझ नहीं सका कि यह प्रश्न था या केवल कथन था, इसलिए संक्षिप्त "जी हाँ" कह कर चल पड़ा लेकिन रास्ते में मैं ने सोचा कि कदाचित उन की वह टिप्पणी विदा-समय के नमस्कार का एक औपचारिक विस्तार भर न थी, शायद उस में यह इशारा भी मौजूद था कि इतनी सर्दी में स्कूटर की जगह कार का इस्तेमाल करना मेरे लिए अधिक सुविधाजनक हो सकता था।' अजित कुमार के इन संस्मरणों में अजितजी का संस्कारी मन भी रचा हुआ दिखाई देता है; इसी आधार पर तो अज्ञेय की एक छोटी-सी उक्ति का अर्थ इतनी आत्मीयता के साथ खुलता हुआ दिखाई देता है। अज्ञेय की उक्त पंक्ति का अर्थ हर व्यक्ति के अंदर अपने-अपने ढंग से खुल सकता है। अजितजी के मन में जिस ढंग से खुला है वह अज्ञेय को उन के समूचे व्यक्तित्व के साथ ग्रहण करने का उन का अपना ढंग है। अजित कुमार के लिखे संस्मरणों को पढ़ कर हमें सिर्फ़ वह व्यक्ति ही प्राप्त नहीं होता जिस पर संस्मरण लिखा है बल्कि वह व्यक्ति भी हमें प्राप्त होता चलता है जिस ने संस्मरण लिखा है। इसीलिए अजित कुमार अज्ञेय की उपयुक्त पंक्ति के बारे में रास्ते भर यही सोचते रहे कि 'उन का अभिप्राय जो भी रहा हो, अपने तईं मुझे बखूबी मालूम था और पूरे रास्ते मैं इस का आनंद लेता रहा कि यदि किसी भी अन्य लेखक या परिचित के साथ यह प्रसंग छिड़ा होता तो मैं वहीं ठहर, पुरानी कार के मुक़ाबले नए स्कूटर की सहूलियतों और खूबियों का बखान शुरू कर देता, जबकि अज्ञेयजी के साथ ऐसी फ़ालतू गपशप की गुंजाइश मुझे तब नज़र नहीं आयी थी।' यह था अजित कुमार का अंतर्मन 'अज्ञेय' को अपने ढंग से ग्रहण करने का।

अजित कुमार ने इसी प्रकार से 'बच्चन' और कन्नड साहित्य के पुरोधा मास्ति वेंकटेश आयंगार के ऊपर संस्मरण लिखे हैं। इन संस्मरणों में बच्चनजी पर लिखे संस्मरण उन के स्नेहिल और दूसरों को आदर देने के भाव को विकसित करके हम तक पहुँचाने का प्रयास है। अजितजी बच्चनजी के काफ़ी संपर्क में रहे हैं। उन्होंने बच्चनजी को 'सामान्य लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक निकट से देखा और जाना है' इसीलिए वो बच्चनजी के जीवन और उन की कविता में एक ऐसे रिश्ते को ढूँढने का प्रयास करते हैं जहाँ बच्चन का पूरा संघर्ष उभर कर सामने आता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उतार-चढ़ाव आते हैं। ये उतार-चढ़ाव निःसंदेह व्यक्ति को रचते और गढ़ते हैं। यदि कोई व्यक्ति इन संघर्षों को अपने संस्मरण की वस्तु बनाता है तो यक़ीनन वह एक ऐसी ऊर्जा को संचित करके सब के लिए मुहैया करता है। बच्चनजी के जीवन संघर्ष को अजितजी ने एक ऊर्जा के रूप में स्मरण किया है। वह बच्चनजी के व्यक्तित्व के उन बिन्दुओं को देख पाए हैं, जिन्हें बच्चनजी किसी को भी नहीं देखने देते—अपने अंतरंग से अंतरंग

बंधु को भी नहीं। प्रश्न उठता है कि फिर अजितजी उस कोठे में कैसे प्रवेश कर गए? असल में कोई भी व्यक्ति किसी के अंतरतम बिन्दु तक अपनी संवेदनाओं के रॉकेट से पहुँचता है। यह पहुँचने वाले के संवेदन यंत्र की सूक्ष्मता पर निर्भर करता है। अजित कुमार के पास कवि मन है इसीलिए वो बच्चनजी के बारे में महसूस करते हैं—'अक्सर मैं उनकी इस बात को लेकर सोचता रहा हूँ और मुझे लगा है कि वे बहुतों को अपना स्नेह देने और बहुतों से बेहद स्नेह पाने के बावजूद कहीं भीतर ही भीतर बहुत अकेले हैं। मैंने अक्सर महसूस किया है कि मानव-सुलभ भावनाओं को अपनी कविता में झंकृत करने वाले इस कवि के अंतर में एक कोठा ऐसा भी है जहाँ वह किसी को—अपने अंतरंग से अंतरंग बंधु को भी प्रवेश नहीं करने देता।' स्मृति बड़ी विचित्र चीज़ है उस का संबंध काल को अपने लिए स्थायी रूप से रोक लेने का होता है। वह बार-बार काल को रचती है और रचते हुए उसे भरपूर जीती है। 'एक याद और एक बोझ' में अजित कुमार ने मास्ति वेंकटेश आयंगार की स्मृति को इसी रूप में जीया है। उन की स्मृति को जीते हुए ऐसा लगता है जैसे संस्मरण लेखक अपनी पूरी परंपरा और संस्कृति के प्रवाह में बह रहा है और हम सब में समाती जा रही तथाकथित आधुनिकता की विकृति को महसूसं कर रहा है। अजित कुमार मास्ति वेंकटेश आयंगार की स्मृति को जब दोहराते हैं तो वह आयंगार के व्यक्तित्व मात्र को ही याद नहीं करते, बल्कि परंपरा और आधुनिकता को भी समझने की कोशिश करते हैं। इसलिए वो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि—'उन के प्रति कृतज्ञ मन यह सोच कर, उस दिन सहसा बड़ी आत्मग्लानि से भर उठा था—और इस की याद आज बेतरह आ रही है कि एक ओर तो वे थे—मास्ति वेंकटेश आयंगार, जिन्होंने हमें मान दिया और दूसरी ओर हम थे—अपनी संस्कृति और परम्परा से विच्छिन्न, आधुनिकता की जूठन पर पले दो तुच्छ लेखक, जिन्होंने इतना भी याद नहीं रखा कि जब उन के धुले-पुँछे चरण सामने थे तो उन का स्पर्श करने से पहले, कम से कम अपने जूते-चप्पल तो उतार देते. . .अपने हाथ-पैर तो धो लेते. . .हम अपनी इस भूल को सुधार पायें, इसका अवसर मुझे तब तो नहीं मिल पाया, पर आज जब उन की स्मृति को दोहराता हुआ, मैं उन से मानो एक बार फिर मिलकर अपने को स्वच्छ अनुभव कर रहा हूँ, तो मेरे मन का वह बोझ शायद कुछ कम ज़रूर हुआ है।' इसी प्रकार के द्वंद्वों और आत्मविवेचन से पूर्ण हैं उन के अन्य संस्मरण। धर्मवीर भारती, अश्विनी कुमार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल और देवीशंकर अवस्थी पर लिखे गए उन के संस्मरण निश्चित रूप से संस्मरण विधा के लिए योगदान है। उन के द्वारा लिखे गए सभी संस्मरणों में एक ऐसा संबंध उभर कर आता है जिस में न तो कोई दुराग्रह है और न कोई पक्षपातपूर्ण आग्रह है। एक ईमानदारी है जो संस्मरणों को अधिक विश्वसनीय बनाती है।

संस्मरणों की दूसरी पुस्तक है काशीनाथ सिंह की *याद हो कि न याद हो*। यह पुस्तक एक कहानीकार की है जिसे कहानी कातने की आदत है। अपनी इस किताब में जिन साहित्यकारों पर उन्होंने अपने संस्मरण लिखे हैं उन्हें प्रस्तुत कहानी के ढंग से ही किया गया है लेकिन वो हैं उन की स्मृति का ही अंग। यानी पूरी तरह वास्तविक और लेखक से पूरी तरह संबंधित। संबंध संस्मरण के लिए आवश्यक है। बिना संबंध के व्यक्ति को न तो जाना जा सकता है और न पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकता है। संबंध अलग-अलग ढंग का हो सकता है। एक बात निश्चित रूप से होनी चाहिए कि संस्मरण लेखक को संस्मरण लिखते समय निःसंगता का व्यवहार करना चाहिए। यह बात काशीनाथ सिंह ने स्वीकार भी की है। वह खुद मानते हैं कि—'मेरा अनुभव रहा है कि निःसंगता ऐसी रचनाओं की विश्वसनीयता का स्रोत भी है और शक्ति भी। ज़रा सी चूक आपको अविश्वसनीय, बेईमान, झूठा, ईर्ष्यालु, दंभी और घटिया बना सकती है। सावधानी हटी कि दुर्घटना घटी!' लेकिन काशीनाथ सिंह की इस किताब में ऐसी कोई दुर्घटना नहीं घटी है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस किताब में रचे गए सभी व्यक्ति और उन के संस्मरण इतने सच्चे हैं कि संस्मरण लेखक के प्रति एक आदर का भाव मन में पैदा होता है। 'किस्सा साढ़े चार यार' में काशीनाथ सिंह बड़ी ईमानदारी से एक तीर से कई शिकार करते हैं, जब वह राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर का बयान करते हैं अपने ख़ास रंग में। असल में अपने इस संस्मरण में काशीनाथ सिंह ने पूरे साहित्यिक माहौल को बेपर्दा किया है। हालाँकि पाठक को यह समझने में देर नहीं लगती कि खुद काशीनाथ सिंह भी इस माहौल का एक हिस्सा हैं। लेकिन इस माहौल के ये लेखक किस प्रकार जोड़-तोड़ और राजनीति के प्रति ललचाई निगाहों से

देखते रहते हैं—यह बात साफ़ शब्दों में हमारे सामने आती है। असल में यह संस्मरण अपने समय और स्थितियों का संस्मरण है केवल कुछ साहित्यकार मित्रों का नहीं, क्योंकि साहित्यकारों की मानसिकता तो उन के अपने समय से निर्मित हो रही है। चाहे रवीन्द्र कालिया हो, गोविन्द मिश्र, मधुकर सिंह या कमलेश्वर, सब अपने-अपने में मस्त एक-दूसरे को क्या समझ रहे हैं! काशीनाथ सिंह के शब्दों में जब हम कमलेश्वर को यह कहते हुए सुनते हैं तो सुनते ही रह जाते हैं कि उन्होंने लेखकों को बनाया वर्ना उन की हैसियत ही क्या थी। काशीनाथ सिंह ने अपने पाठकों के सामने यह नज़ारा खींचा—'बहरहाल, अभी मित्र लोग सुरूर में आए ही थे कि जाने किधर से गोविन्द मिश्र और मधुकर सिंह के साथ गिलास उठाए कमलेश्वर चले आए और एक कुर्सी खींच कर बैठ गए। जाने किस बात पर उत्तेजित थे वे। बोले, तुम लोग दो कौड़ी के लेखक। तुम लोग हो किस खेती की मूली, तुम्हारी हैसियत क्या थी? तुम लोगों को लेखक मैंने बनाया। मैंने लिखना सिखाया। भाषा तक लिखने की तमीज़ न थी, कहानी क्या लिखते?' सचाई यह है कि यह एक पूरे कहानी आंदोलन का कच्चा चिट्ठा है। यहाँ भले ही काशीनाथ सिंह ने खुद को औरों से बेहतर दिखाने की कोशिश की हो। लेकिन हैं वो भी इन्हीं लोगों में से एक।

याद हो कि न याद हो में एक संस्मरण हजारीप्रसाद द्विवेदी पर है जिस में हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी जगत विशेष कर बनारस की पूरी की पूरी राजनीति के समेत हमारे सामने प्रस्तुत हुए। यहाँ हमें सिर्फ़ एक व्यक्ति या उस का व्यक्तित्व ही दिखाई नहीं देता बल्कि एक पूरा नाटकीय परिदृश्य चलता हुआ दिखाई देता है। काशीनाथ सिंह के संस्मरणों में दृश्य-विधान देखते ही बनता है। इस से संस्मरण में कथात्मकता के साथ-साथ चित्रात्मकता का सुख भी मिलता है। 'होल्कर हाउस में हजारीप्रसाद द्विवेदी' में द्विवेदीजी अपनी पूरी विरोधी स्थितियों के साथ लड़ते, जूझते हुए दिखाए गए हैं जिस से संस्मरण लेखक बड़ी सफ़ाई से राजनीति की विकृति और बड़े-बड़े पदों पर बैठे लोगों के बौनेपन को उभारता है और तब समझ में आता है कि इस विकृत राजनीति में हर व्यक्ति राजनीति का मोहरा है। चाहे वह कुलपति जोशी हों, हजारीप्रसाद द्विवेदी हों या खुद काशीनाथ सिंह हों। सब के अपने स्वार्थ हैं सिद्धांत नहीं। यह दूसरी बात है कि हम उन्हें सिद्धांतों का जामा पहनाने की कोशिश करें। विश्वविद्यालयों में पनपती जिस गुंडागर्दी को काशीनाथ ने अपने संस्मरण में दिखाया है उस का पूरा श्रेय उस सत्ता और संस्कृति को जाता है जिस ने इस देश पर अधिकांश राज्य किया। ऐसे विकृत परिवेश में हजारीप्रसाद द्विवेदी भी बच नहीं सकते इसीलिए तो—'छात्रों का सारा क्रोध जोशी से हट कर पंडितजी पर चला आया था और अब न वे उन के पूज्य रह गए थे और न श्रद्धेय। उन का नाम सुनते ही गालियाँ फूटतीं लड़कों के मुँह से।' असल में काशीनाथ सिंह अपने संस्मरण को सिर्फ़ व्यक्ति तक ही नहीं रखते, वह उसे उस के समय की समूची स्थिति और परिस्थितियों में रख कर देखते हैं, जिस से व्यक्ति प्रमाणित होता चलता है और अधिक विश्वसनीय भी। इसीलिए काशीनाथ सिंह के इन संस्मरणों का ऐतिहासिक महत्त्व भी बनता चलता है। इस दृष्टि से उन का एक और संस्मरण देखा जा सकता है—'देख तमाशा लकड़ी का' जिस में सिर्फ़ शहर बनारस है कोई ख़ास व्यक्ति नहीं। एक ख़ास समय का बनारस। बनारस के बहुत से जाने-अनजाने कोने। शहर की राजनीतिक फ़िज़ाँ। बहुत कुछ ऐसा जो संस्मरण लेखक की चेतना का हिस्सा है। इस में काशीनाथ सिंह ने व्यंग का सहारा भी लिया है जिस के माध्यम से वो पूरी की पूरी स्थिति का मज़ाक़ उड़ाते हैं।

काशीनाथ सिंह ने त्रिलोचन, धूमिल और अपने बड़े 'भैया' डॉ. नामवर सिंह के ऊपर जो संस्मरण लिखे वो बेजोड़ हैं। एक तो तीनों ही हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं और तीनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। लेकिन यह कहना अनुचित न होगा कि 'गरबीली गरीबी वह' में काशीनाथ ने अपने बड़े भाई नामवर सिंह के प्रति आदर और सम्मान ही अधिक व्यक्त किया है। उन के जीवन के कुछ पक्ष ऐसे भी हैं जिन पर आलोचनात्मक ढंग से प्रकाश डाला जा सकता था जैसे काशीनाथ सिंह ने धूमिल और त्रिलोचन के ऐसे पक्षों को उभारा है। पर हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह उन के लिए जैसे महामानव हैं। उन में श्रद्धा भाव के अतिरिक्त और कुछ देखना भी पाप हो। हो सकता है उन की स्मृति में उन के केवल ऐसे ही पक्ष रहे हों पर जैसा उन्होंने अपनी पैनी शैली से दूसरे लोगों को उन के अच्छे बुरे सभी रूपों में रखा है वैसा वे हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह के साथ नहीं कर पाए। द्विवेदी और नामवर सिंह पर लिखते समय दूसरे लोगों के प्रति ही समीक्षात्मक रुख ज़्यादा रहा है बजाय इन दोनों के।

भाऊ *समर्थ : भाँत-भाँत के रंग* चरणसिंह अमी द्वारा संपादित एक अच्छी और सार्थक किताब है। सार्थक इसलिए कि इस में संपादक ने कई लोगों के दृष्टिकोण से भाऊ समर्थ और उन के कलात्मक और जीवन संघर्ष को प्रस्तुत किया है। भाऊ समर्थ कला के क्षेत्र में एक प्रयोगशील दृष्टि ले कर चले थे। अपना रास्ता उन्होंने खुद बनाया—चाहे वह जीवन हो या कला। इसीलिए किसी सत्ता या संस्था से समझौता नहीं किया क्योंकि उन के मन में यह स्पष्ट था कि समझौता करते ही अंदर का कलाकार मरने लगता है। इसीलिए उन्होंने कई नौक़रियाँ छोड़ीं, पुरस्कारों की राजनीति को ठुकराया और पूरी तरह कला के मूल्यों के प्रति समर्पित हुए। इसीलिए वो लोगों की स्मृति में सब से अलग और सब से निराले हैं। स्मृति में हर व्यक्ति नहीं रह पाता। हम चाहें किसी भी व्यक्ति से संबंध रखें पर स्मृति अपने ही ढंग से चीज़ों को सँजोती है। हम लोगों को इस्तेमाल करते हैं और भूल जाते हैं पर स्मरण उसी व्यक्ति का करते हैं जिसे हमारी आत्मा स्वीकार करती है। डॉ. विजयबहादुर सिंह की यह बात बिल्कुल ठीक है कि—'कला के आलोचक पता नहीं भाऊ को इन पलड़ों पर तोलते हैं या नहीं, पर भाऊ बिल्कुल नज़रअंदाज़ कर दिए जाने पर भी दिखते रहेंगे। उन का दिखना न शास्त्रियों की कृपा पर निर्भर है, न मेरे जैसे दोस्तों की शुभेच्छा पर। उसका रहस्य उस निष्ठा में खोजा जा सकता है, जो अब तक अनगिनत रेखांकनों को रच चुकी है और फिर भी जिसे कल्पनाओं का टोटा नहीं पड़ा है। असंख्य साँसों की तरह जो निरंतर गतिमान है। धारावाहिक क्रम में जो निरंतर जारी है। बिना किसी मोटे मकसद के, बिना किसी दाय या प्रलोभन के।'

किताब में तमाम लेख भारत में कला और कलाकार की स्थिति और हैसियत को उजागर करते हैं जहाँ भ्रष्टाचार और नौकरशाही कला और कलाकार का जम कर अपमान करते रहे हैं। हिन्दी और मराठी भाषा के विद्वान प्रभाकर माचवे ने भाऊ पर लिखे संस्मरण में अपनी यह पीड़ा स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त की है—'मैं उन की कला का प्रशंसक हूँ। कई बार मध्यप्रदेश वालों को मैंने सुझाया कि भाऊ को कला वाला श्रेष्ठ सम्मान दो। पर वहाँ मेरी कौन सुनता है? वहाँ तो सरकारी रुख देख कर भाई-भाई को इनाम दिलाते रहते हैं। बेचारे बेन्द्रे की भी कितनी देर बाद याद की। वहाँ असल में कला, कविता इत्यादि के मानदंड और ही हैं।. . .भाऊ के चित्रों का चुनिंदा संग्रह छपना चाहिए। पर कौन छापे? न महाराष्ट्र सरकार को चिंता है, न केन्द्रीय ललित कला अकादेमी को।'

सब के सब लेख संस्मरण नहीं लगते। कुछ लेख तो टिप्पणियाँ करके ख़त्म हो जाते हैं लेकिन निःसंदेह कुछ लेख संस्मरण के रूप में दिखाई देते हैं जैसे उमेश चौबे का 'सोच के चित्रकार' डॉ. कांति कुमार का 'बैलों को ललकारते हुए' या अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'प्रकृति का लाड़ला पुत्र'। शायद इस का कारण यह है कि यह किताब भाऊ समर्थ से संबंधित विभिन्न प्रकार की सामग्रियों से सँजोई गई है। इसीलिए इस में न केवल विभिन्न लोगों के लेख और टिप्पणियाँ हैं बल्कि इस में भाऊ के पत्र, उन के साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार, भाऊ की रचनाएँ, उन पर लिखी गई कविताएँ भी हैं। निःसंदेह ऐसा करके चरणसिंह अमी ने अच्छे संपादक होने का सबूत दिया है। इस से भाऊ समर्थ मुकम्मल ढंग से अपने पाठकों और चाहने वालों के सामने उभर कर आए हैं। चरणसिंह अमी की यह बात बिल्कुल ठीक है कि—'भाऊ दा के इस सम्मान-ग्रंथ के आयोजन का महत्त्व इस बात में नहीं है कि उन के चाहने वालों ने इस में अपने संस्मरण लिखे हैं। श्रद्धा ज़ाहिर की है। मेरे ख़याल से यह मौक़ा है जबकि हम उन का बहाना लेकर लघु पत्र-पत्रिकाओं की कला-यात्रा, उन की समस्याएँ और संभावनाओं पर भी विचार करें क्योंकि भाऊ दा की कला-यात्रा लघु पत्रिकाओं की कला-यात्रा का पर्याय बन गयी है।' यह नई ज़मीन कभी भी बड़े-बड़े पत्र-पत्रिकाओं को पसंद नहीं आती क्योंकि उन्हें तो सिर्फ़ वह माल चाहिए जो बिकाऊ हो। कला और साहित्य की विकास-यात्रा तो पूरी दुनिया में लघु पत्र-पत्रिकाओं में ही दिखाई देती है। इसीलिए भाऊ समर्थ कला को विकास के नए सोपानों तक पहुँचाने के लिए जाने जाएँगे। इसीलिए (स्व.) अनिल कुमार ने लिखा है कि—'भाऊ एक रूढ़िद्रोही कलाकार है और निश्चय ही वह सब रूढ़ियों का विरोधी है। उसने न केवल अपनी कला के क्षेत्र में पुरानी मान्यताओं के "नट बोल्ट्स" ढीले किए हैं, बल्कि उसने अपने निज़ी जीवन में भी तथाकथित रूढ़िवादी असामाजिक मान्यताओं को खुली चुनौती दी है।'

भाऊ समर्थ पर संपादित इस किताब में भाऊ के साथ जो चार 'बातचीत' छापी गई हैं वह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

उन के माध्यम से कला और उस की सृजन प्रक्रिया से जुड़े हुए कई सवालों के जवाब भी मिलते हैं। बातचीत के दौरान कलाकार सहज ढंग से खुलता है और बेलाग जवाब देता है। ये जवाब पूरी व्यवस्था और परिवेश को जानने के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

चर्चित किताबें :

निकट मन में : अजित कुमार; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 1992; मूल्य 50 रुपए

याद हो कि न याद हो : काशीनाथ सिंह; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1992; मूल्य 65 रुपए

भाऊ समर्थ : भाँत-भाँत के रंग : सं. चरणसिंह अमी; पराग प्रकाशन, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली 110032

किताबें—6

नगेन्द्र चौरसिया

तीन पीढ़ियों के तीन कवि

कवि रामदरश मिश्र ने जिस माटी से, जितने संघर्षों से हो कर इतनी दूर तक की यात्रा तय की है, उस साहित्यिक यात्रा का वर्णन ही अपने आप में अनुभव का पिटारा है। गीत से हो कर साहित्य की सारी विधाओं को एक साथ गंभीरता के साथ सम्हालते हुए निरंतर रचनाशील रहना अपने आप में बड़ी उपलब्धि है। सभी रचनाओं में उन के तथा आसपास के जटिल जीवन की मानवीय जिजीविषा, विश्वास और मूल्यों की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है। इन्होंने मानवीय मूल्यों में बुनियादी आस्था को अपनी रचनाधर्मिता और वैचारिकता को केन्द्रीय भाव माना है। इस आस्था से संश्लिष्ट हो कर दलित उत्पीड़ितों की पक्षधरता न केवल उग्र और नकारात्मक होने से बची है, बल्कि उस में संवेदनात्मक सघनता भी आई है। मूल्यों के प्रति उन की आस्था आरोपित नहीं, बल्कि उन के जीवन में अनुभवों से छन कर प्राप्त होने वाली ऊर्जा है। जिया हुआ परिवेश ज़्यादा गाँव वाला है, वैसे छोटे नगर से महानगर तक की कई तरह की यात्राएँ भी हैं, लेकिन इन में उन की ज़मीन, उन की ग्राम संवेदना, उन का अपना माहौल बार-बार व्यक्त हुआ है। वे स्वीकारते भी हैं कि हिन्दुस्तानी आदमी के जीवन की सही और गहरी पहचान गाँव के संदर्भ में ही हो सकती है। इस का प्रमाण रामदरश मिश्र की चुनी हुई रचनाओं का संकलन *बूँद-बूँद नदी* से मिलता है।

इस संकलन में तिरपन कविताएँ, ग्यारह कहानियाँ, तीन आत्म कथ्य, छह निबंध, तीन यात्रा-संस्मरण तथा दो उपन्यास अंश हैं। इस के द्वारा विद्वान संपादक ने मिश्र जी की बहुआयामी कृति-शक्ति का परिचय कराने की कोशिश की है। यों इस के पहले भी डॉ. नित्यानंद तिवारी और डॉ. ज्ञानचंद्र गुप्त के संपादन में मिश्र जी के रचना संसार को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। लेकिन पहले वाले संकलन में और इस संकलन में जो थोड़ा अंतर है, वह चयन के दृष्टिकोण में है। पहले वाले में हर विधा के पूर्व विभिन्न लेखकों एवं समीक्षकों द्वारा लेखक की उपलब्धियों को रेखांकित किया गया है, किन्तु इस संकलन में नहीं।

कवि के अनुभवों की यात्रा अत्यंत अंतरंग 'स्व' से ले कर सामाजिक विघटन, मूल्य-मूढ़ता और मानव-यातना की उद्विग्नताओं तक है :

खाली हूँ मन भरा-भरा सा
फूला-फूला-सा यह मौसम किन्तु हवाएँ टूट गई हैं

जाने किस पड़ाव पर फूलों की आवाज़ें छूट गई हैं
दिशा-दिशा से हाथ मिलाता
लेकिन भीतर डरा-डरा-सा। —'खाली हूँ मन भरा-भरा-सा'

समय की व्यवस्था का विरोध ये उतावलेपन में नहीं करते; उस में अंतर्निहित मानव-विरोधी तत्त्वों का विरोध करते हैं। यह विशेषता उन की कहानियों में भी है : 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'मुर्दा मैदान', 'एक औरत एक ज़िन्दगी' आदि सभी कहानियों में गाँव का, शहर का, महानगर का आम आदमी ही प्रमुख है, उस की परेशानियाँ उस की समस्याएँ हैं, महानगरों में फैलते हुए प्रदूषण हैं, छल हैं और क़मीनापन है। उपन्यास अंशों में भी गाँव, शहर और महानगर ही प्रमुख हैं। ये अपनी कथाभूमि कहीं से भी शुरू करते हैं, मगर गाँव उन्हें बुला लेता है। वे स्पष्ट करते हैं कि गाँव की सादगी और महानगरों के स्वार्थ किस तरह एक सीधे आदमी को भी अपने प्रदूषण से प्रभावित करते हैं। संस्मरण तथा निबंध उन के खुले मन और भावुक सोच को स्पष्ट करते हैं।

रामदरश मिश्र की तरह परमानंद श्रीवास्तव भी कई विधाओं में लिखते हैं, जिन में कविता, कहानी तथा आलोचना प्रमुख हैं। काव्य-संग्रह *चौथा शब्द* इस कवि की कविताओं का तीसरा संग्रह है। कविताओं में ऐसे विषय हैं जो अछूते हैं; वे सामान्य हैं मगर अनुभवों और भावों को व्यक्त करने के लिए अछूते विषय माध्यम बन गए हैं। जैसे, 'साबरमती एक्सप्रेस में सितार सुनकर' :

रेल रात में/गुज़रती है/विदिशा से
विदिशा—जो अब सिर्फ़/एक जगह का नाम है
फिर क्यों/स्तब्ध दिशाओं के/कान बजने लगते हैं।
हरकत होने लगती है/भूरी ज़मीन और
असमंजस में पड़े/दूहों और/चुप पहाड़ियों में
पटरियाँ दम साधे रहती हैं/जब रेल/रात में गुज़रती है—'विदिशा से'

रेल पटरियाँ, विदिशा और स्तब्ध दिशाओं से ज्ञात होता है कि कवि इन दिशाओं में कहीं छिपी बैठी उस रात से आतंकित है, जिस के गुज़रने से विदिशा को किसी अनहोनी की आशंका है। इस कारण, जिस के लिए विदिशा की गरिमा रही है, वह नष्ट न हो जाए। अपसंस्कृतियों के कारण भारतीय संस्कृति में जो ख़तरा पैदा हो रहा है, उस के ख़तरे को कवि देखता है :

पहाड़ी पर/रात गिर रही है
बाज़ार/उठ गए हैं/डूब गया है/दिन का/धूसर कोलाहल
रात के बारह की सुई/निष्करुण विदा की तरह
एक ही जगह/आकर/ठहर गई/ —पृ. 33

और इस ठहराव के कारण जो वातावरण बना है, उसे हटाने के लिए संपूर्ण शक्ति के साथ साधु आएँ, अधूरे हो कर नहीं, और इस असाधु माहौल को साफ़ करें।

इस संग्रह की कविताओं में कवि परमानंद श्रीवास्तव ने कविता के बाहर भी शब्द के पक्ष में, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में, मानवीय मूल्यों के पक्ष में लगातार संघर्ष करते हुए कविता के भीतर शांत ऐन्द्रिकता, राग-संवेदना और जीवन के प्रति सहज आसक्ति मात्र से संतुष्ट न हो कर ऐसा उत्तेजक नाटकीय शिल्प विकसित किया है जो कविता के पाठकों के लिए अपने समाज के प्रति सीधा संबोधन है।

परमानंद जी की कविताएँ समय के मुख्य संकट को न किसी शब्द-छल से छिपाती हैं, न ख़तरनाक ताक़तों को सीधे लक्ष्य करके बचती हैं। व्यंगात्मक भाषा में, समय के कटु सत्य का पर्दाफ़ाश, साधु-ढोंगियों के दुराचरण का पर्दाफ़ाश, नारी की दुर्दशा और आज का ढोंगी समाज—इन सभी पर कवि की दृष्टि है। कवि शब्दाभिव्यक्ति के संघर्ष में, विशेष कर विषय के साथ संगति और निर्वाह के मामले में भावों के उत्स को जिस शब्द और जिस यत्न से अंज़ाम देता है, वह मिश्र जी से और जगूड़ी जैसे कवियों से भिन्न हो जाते हैं। भिन्नता का कारण है कि मिश्र जी और श्रीवास्तवजी दोनों समीक्षक और आलोचक की दृष्टि रखते हैं। यही कारण है कि कवि कर्म के समय इन दोनों को विशेष संवेदन के समय शब्दों की टोह में इन की आलोचकीय मुद्रा पाठक-आलोचक के बीच एक अंदरूनी द्वंद्व करा देती होगी, फिर भी दोनों की कविताएँ संप्रेषणीयता की दृष्टि से बिखरती नहीं हैं, बल्कि व्यक्त करने के शब्द और शिल्प दोनों विशेष हो जाते हैं।

सप्तक तथा नई कविता के बाद कविता में नई भावनाओं को नए अंदाज़ में व्यक्त करने वाली जो पीढ़ी आई, उन में से एक नाम लीलाधर जगूड़ी है। सन् साठ के बाद सामाजिक सरोकार वाली कविताओं में विद्रोह का स्वर अधिक था। इतना ही नहीं, जिन प्राकृतिक उपादानों को कविता में प्रवाहित करने का माध्यम बनाया गया था—उस का अर्थ विशाल बने—नदी, झरने, पेड़, पर्वत, चिड़ियाँ, खेत, ख़लिहान—देखने की वस्तु नहीं रहीं, उन के भीतर के दर्द को कवियों ने अपने दर्द से जोड़ा। कहना अनुचित न होगा कि लीलाधर जगूड़ी ने अपनी कविताओं में अपने समय एवं परिवेश को अपने आसपास के शब्दों में अनुभवों को सहज रूप में व्यक्त किया है। काव्यसंग्रह *अनुभव के आकाश में चाँद* जगूड़ी का आठवाँ काव्य-संग्रह है। जगूड़ी कविताओं में सामान्य आदमी के सामान्य अंतर्द्वन्द्व, उस की मनःस्थितियों को समय के अनुसार व्यक्त करते हैं :

ज्यों ही रक्त में आता है दुब्बर-जब्बर अनुभव
अपने चेहरे का दिल अपने हाथ-पाँव का दिल
पहले तैयार करता है। फिर अपने दिल का दिमाग़
तब अपने दिल दिमाग़ के शब्द
जैसे दिल भी दिमाग़ का एक अनुभव ही
मेरी जान से निकल जा दिल कहता है
कुछ और होने दे कहता रहे दिमाग़
मेरे किए धरे का ज़िम्मा उठा
उतनी दुश्चिंता में अब जिया नहीं जा सकता
हुआ नहीं जा सकता निश्चिंत/कुछ कहा नहीं ज़ा सकता
न दिमाग़ का फ़ितूर न दिल की बात
उतनी पीड़ा में सुना भी नहीं जा सकता किसी का दर्द
अनुभव हुआ कि बिना अनुभव नरक झेले नहीं जा सकते
अकुंठित वय पाई नहीं जा सकती होने की निजी यातना पाए बिना —'पहला और बाद में'

जगूड़ी की कविताओं में विषय और अनुभव की विविधता है। इस विविधता के कारण कथ्य और शिल्प में भी विविधता है जो बहुत ही संवेदनशील प्रयोगात्मक भाषा से युक्त है। इस संग्रह की छिहत्तर कविताओं में बहुत

सारी कविताओं में दृष्टि की स्पष्टता है। लक्ष्य-बेध की ललक और अभिव्यक्तियों में सही स्थल पर प्रहार करने की सामर्थ्य तो है ही, साथ ही अभिव्यक्ति कें ख़तरे उठाने का साहस भी है। उन के सोच का दायरा भी विस्तृत हुआ है। स्थितियों, अनुभवों को व्यक्त करने की काया (शिल्प-शैली) पुष्ट है जो उन के अनुभव की गहराई को बताती है :

पृथ्वी के चारों ओर भोर ही भोर
तने हुए अपार पंखों वाली चिड़िया
जिसकी चोंच में सूरज फँसा है
समुद्र पी रही है/ग्रहों को चुग रही है
पेट की चपेट में दिमाग़/दिमाग़ की चपेट में पेट
चिड़िया बीच ब्रह्मांड/बीच उड़ान में
रात को दिन में
दिन को रात से उगते हुए देख रही है
चोंच में सूरज पकड़े एक पृथ्वी अस्त हो रही है
चोंच में ओस पकड़े एक पृथ्वी उदित हो रही है —'विराट चिड़िया'

इस तरह इस संग्रह की तमाम कविताएँ अपनी कलात्मकता का निर्वाह करते हुए सामान्य वर्ग की सारी समस्याओं की पक्षधर और प्रतिबद्ध हैं।

चर्चित किताबें :

बूँद-बूँद नदी : रामदरश मिश्र की चुनी हुई रचनाएँ; संपादक वेदप्रकाश अमिताभ; साहित्य सहकार, ई-10/4, कृष्ण नगर, दिल्ली 110051; मूल्य 200 रुपए; प्रथम संस्करण 1994

चौथा शब्द : परमानंद श्रीवास्तव; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; मूल्य 80 रुपए; प्रथम संस्करण 1993

अनुभव के आकाश में चाँद : लीलाधर जगूड़ी; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली; मूल्य 60 रुपए; प्रथम संस्करण 1994

किताबें—7

उमेश दीक्षित

ललित विधान

इधर काफ़ी चर्चा रही है कि हिन्दी में सुपाठ्य तथा स्वस्थ निबंध साहित्य लगभग 'न' के बराबर हो गया है, गंभीर लेखन के प्रति लोग उदासीन हैं—शायद 'लोग' से आशय है लेखक। किन्तु पाठकों की बात कोई नहीं उठाता कि वे क्या चाहते हैं? और उन की चाहत की चीज़ें क्यों नहीं सामने आ पातीं? ये प्रश्न बड़े हैं और उत्तर की अपेक्षा भी रखते हैं। किन्तु आज हिन्दी में सुचिन्तित तथा गंभीर लेखन को स्थान देने के लिए पत्रिकाएँ ही नहीं हैं। एकाध जो हैं, वे भी किसी न किसी 'वाद' या पूर्वग्रह से जुड़ी हैं। फलतः जो कुछ थोड़ा-बहुत सामने आता है—वह कुछ दमदार प्रकाशकों के कारण ही, जो इन तथाकथित भारी-भरकम विषयों को भी पचा लेते हैं अथवा इस का यत्न करते हैं। जो चार-पाँच किताबें इस तरह की प्रति वर्ष सामने आती हैं वे इसी कारण और अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उन्हीं से पता चलता है कि हिन्दी जगत् किस आलोड़न की स्थिति से गुज़र रहा है—इस में नया भी है, पुराना भी है और इसी मंथन में वह भी कहीं छिपा है जो आज अनागत है किन्तु जिस की आहट सुनाई पड़ती है।

लेखकों के आपसी संवाद, चाहे वे टेपरिकॉर्डर से अंकित हों या स्मृति से बाद में लिखे गए हों अथवा पत्रों के माध्यम से हुए हों, अपने आप में व्यक्तित्व को समग्र रूप में पकड़ पाने की अद्‌भुत क्षमता रखते हैं। कारण, आपसी मुलाक़ातों या निकटस्थ मित्रों को लिखे गए पत्रों में हर आदमी मन की बात कभी-कभी अनायास ही कह जाता है। अतः इन से व्यक्ति की जो छवि बनती है, वह 'कॉस्मेटिक' (शृंगार-प्रसाधन) से प्रायः मुक्त रहती है। इस दृष्टि से *संवाद अनायास* गोविन्द मिश्र तथा वल्लभ सिद्धार्थ के बीच पत्राचार पर आधारित एक स्वागत-योग्य संकलन है। उसे क्रमानुसार बनाने और सँवारने में भी गति और यति का ध्यान रखा गया है। उस में की गई स्थापनाएँ अथवा कथित मत स्वीकार्य हों या न हों, किन्तु चिन्तन की अपेक्षा अवश्य रखते हैं।

पूरी पुस्तक इतनी तरल, गत्यात्मक और रम्य है कि रूसी लेखकों की भारी-भरकम उद्‌घोषणाएँ भी पाठक आसानी से पढ़ जाता है, चाहे फिर वह बाद में विचार करे कि क्या रूस के अतिरिक्त किसी और देशवासी ने इस प्रकार की बातें नहीं कहीं—नहीं लिखीं? ख़ैर यह तो अपनी-अपनी पसंद है किन्तु इन दो कथाकारों की इस बातचीत से यह निष्कर्ष तो निकलता ही है कि सारे संत्रासों के बाद भी, बाधाओं के घटाटोप में भी कथाकार अपनी रचना-धर्मिता में प्रवृत्त हैं और उन का ध्यान परिमाण में इतना नहीं है जितना कि उस की गुणवत्ता में। यह बात

आलोचकों तथा पाठकों दोनों के लिए शुभ है।

इसी तरंग की दूसरी किताब है *नागार्जुन संवाद*। संचयन और संपादन है विजय बहादुर सिंह का। नागार्जुन जैसे कठिन व्यक्तित्व का पूरा परिचय इस में सहज ही मिल जाएगा। आप पूछें कि नागार्जुन माने क्या? हिन्दी और मैथिली के कवि, कथाकार? वह जो भारत की मुक्तिकामी बिरादरी का पहरेदार है। तुच्छजनों का अतुच्छ हिन्दी-कवि, जितना मैदानी उतना पठारी, जितना ग्रामीण उतना महानगरीय। वहाँ के रजिस्टर्ड कुंभीपाकों का पक्का बाशिन्दा, गँवई पगडंडियों की चंदन-वर्णी धूल का अर्चक। वही नागार्जुन जिस से घबराते हैं शास्त्री, पंडित और प्रगतिवादी भी!

यह पुस्तक बड़ी रुचि से, अक्षर-अक्षर पिरो कर, वर्षों के श्रम से तैयार की गई है जिस में नागार्जुन की दुर्वासा से ले कर, लोकमंगल के लिए अवतरित परमहंसी मुस्कान तक सँजोई गई है। घनघोर रूप में नायक-पूजा की भावना का स्फुरण करती है यह रचना और खोलती चलती है उस महामानव के व्यक्तित्व के आयाम। शायद हिन्दी में किसी भी साहित्यकार की इतनी अंतरंग कथा इतने मन से कहीं और उपलब्ध नहीं होगी। पुस्तक की यही विशेषता इस रचना का प्रमुख गुण है और शायद किसी सीमा तक व्यक्ति को पूरी तरह समझने में मुख्य बाधा भी।

'रेणु' का नाम हिन्दी लेखकों तथा पाठकों में एक सहज स्फुरण जगाता है। इन के *मैला आँचल* ने अनायास ही लोगों का मन मोह लिया और आंचलिक लेखन को राजमार्ग दिया। इस सब के पीछे उन का अपना सोच था। वे निरंतर स्वतंत्रता तथा समतावादी आंदोलनों से जुड़े रहे—इसी प्रक्रिया में उन्होंने जीवन का सर्वांगीण अवलोकन निकट से किया। इसी से वे अपनी रचनाओं में ग्रामीण कथाशैली, नाटक-नौटंकी, कलात्मक शैलियों आदि को समाहित कर एक नई संरचना की अल्पना बना सके, जिस में परंपरागत मौखिक साहित्य और कथा माध्यम की विशेषताएँ सावयवी रूप से संभव हुईं।

प्रस्तुत पुस्तक *फणीश्वरनाथ रेणु—व्यक्तित्व, काल और कृतियाँ* की भूमिका में कहा गया है कि इस में सर्जक फणीश्वरनाथ रेणु के उदय की कहानी के प्रसंग में, उन के आरंभिक जीवन के समाजीकरण, उन के व्यक्तित्व की विकास यात्रा से जुड़ी व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक घटनाओं और विभिन्न पात्रों का विश्लेषण भी किया गया है। पुस्तक में रेणु जी के पत्रों को भी स्थान मिला है जो उन्होंने इस पुस्तक के लेखक गोपीकृष्ण प्रसाद को लिखे थे। यथासंभव तथ्यपरक तथा संपूर्ण बनाने की चेष्टा यहाँ है, पर रेणु जैसे कालजयी कृतिकार को समग्र रूप से लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों में रूपांकित कर पाना शायद असंभव है। इसी कारण पुस्तक में सूचनाएँ तो हैं किन्तु तद्विषयक निष्पत्ति नहीं है। यह कहना उचित होगा कि पुस्तक का शीर्षक पुस्तक की सामग्री से बहुत मेल नहीं खाता। इस में रेणु जी की बाँकी झाँकी भर है।

आर्य-मनीषा के अन्वीक्षक-आख्याता तथा उद्गाता कुबेरनाथ राय को हिन्दी पाठक समुदाय ललित निबंधों के आचार्य के रूप में जानता-पहचानता है। *प्रिय नीलकंठी, रस-आखेटक, गंधमादन* तथा *निषाद बाँसुरी* आदि निबंध-संग्रहों में उन की अपनी एक अलग पहचान है—भाषागत और विषयगत भी। *मराल* उन का नवीनतम निबंध-संग्रह है जो कि उन्हें मिले मूर्तिदेवी पुरस्कार के समारोह के अवसर पर प्रकाशित हुआ है। शायद यह उन का चौदहवाँ संग्रह है। इस के प्रारंभिक छह निबंध उन के कामरूप-प्रवास के हैं तथा शेष 1986 के बाद के, जब से वे घर लौट कर ग़ाज़ीपुर में रहने लगे। निबंधों की भाषा, उन की शैली और विषयों के अनुसार

ही शुद्ध संस्कृत-निष्ठ है। उन्हीं के शब्दों में : 'मेरा उद्देश्य रहा है पाठक के चित्त को एक परिमार्जित भव्यता देना, साथ ही उन की चित्त-ऋद्धि का विस्तार करना।' उन के अनुसार भाषा व्याकरण तथा शब्दावली दोनों से बनती है। व्याकरण ढाँचा देता है किन्तु आकृति-प्रकृति शब्द बनाते हैं। शब्दों के पीछे संस्कार-परंपरा है, यह परंपरा ही अभिव्यक्ति के व्यक्तित्व को विशिष्टता प्रदान करती है। अपने इस कथन को कुबेरनाथ राय ने अपनी समस्त रचनाओं में निभाया है। वस्तुतः प्रश्न यह नहीं है कि भाषा कैसी हो, तत्सम-प्रधान अथवा आम-फ़हम? मुख्य बात यह है कि भाषा संपर्क और संप्रेषण का माध्यम है। अतः यदि कोई भाषा अपनी इस भूमिका को निभाती है, तो वह स्वीकार्य है। यदि वह मात्र एक वर्ग विशेष तक ही सीमित है तो लेखकीय व्याप्ति भी उतनी ही रह जाएगी। उन की प्रारंभ की रचनाएँ भाव-प्रवणता तथा ललित भंगिमाओं के लिए प्रख्यात हैं। इस संग्रह में उन के कुछ सीधे-सादे निबंध भी हैं जो लेखक के जीवन के एक निश्चित मोड़ की ओर इंगित करते हैं।

संग्रह का पहला निबंध पत्र-विधा में है और संस्कृत के 'चम्पू काव्य' के अति निकट है। लेखक की आशा है कि पाठक इस निबंध में चर्चित गाँव और शिखरवासिनी 'उत्तरा फाल्गुनी' के बिम्बों के सहारे इस आसेतु-हिमाचल 'गाँव' को पहचानेंगे, जहाँ आज जल, पवन और भाषा, तीनों दूषित हैं; तीनों के भीतर आतंक पल रहा है और इस के मध्य ही साहित्य तथा संस्कृति को जीना है। यह निबंध एक प्रार्थना है, एक 'त्राहिमाम्' है और साथ ही एक आह्वान भी।

भारतीय भाषा परिषद ने डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र तथा डॉ. बालशौरि रेड्डी द्वारा संपादित *श्रेष्ठ ललित निबंध* शीर्षक से दो खंडों में एक ग्रंथ छापा है। प्रथम खंड में हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध ललित निबंधकारों की रचनाएँ हैं तथा द्वितीय खंड में देश की अन्य भाषाओं के ललित निबंध दिए गए हैं। एक अच्छी बात यह है कि हर भाषा के किसी विद्वान से उस भाषा की इस विधा की चर्चा कराई गई है जो अत्यंत उपयोगी, तथ्यपरक तथा इतिहास-सम्मत है। ग्रंथ संपादन में प्रत्येक विचार-सरणि और हर पीढ़ी के रचनाकारों को लिया गया है ताकि वे अपनी-अपनी भाषा का समुचित प्रतिनिधित्व कर सकें। किन्तु इसे ही अंतिम मान लेना ठीक न होगा। कारण, कुछ लोग छूट भी गए हैं। वस्तुतः यह निबंध-संग्रह शोधकर्ताओं और विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

चर्चित किताबें :

संवाद अनायास : गोविन्द मिश्र तथा वल्लभ सिद्धार्थ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य 60 रुपए

नागार्जुन संवाद : विजय बहादुर सिंह; रामकृष्ण प्रकाशन, सावित्री सदन, तिलक चौक, विदिशा (म.प्र.); मूल्य 150 रुपए

फणीश्वरनाथ रेणु : व्यक्तित्व, काल और कृतियाँ : गोपीकृष्ण प्रसाद; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य 80 रुपए

मराल : कुबेरनाथ राय; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; मूल्य 85 रुपए

श्रेष्ठ ललित निबंध (दो खंड) : संपादक डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र तथा डॉ. बालशौरि रेड्डी; भारतीय भाषा परिषद, 36-ए, शेक्सपियर सरणि, कलकत्ता 700 017; मूल्य 140 रुपए

किताबें—8

महेश आनंद

समकालीन रंगमंच का रेखांकन

बीसवीं सदी के छठे दशक से नवें दशक तक हिन्दी नाटक रंगमंच के स्वरूप और उद्देश्यों में कई प्रकार का बदलाव आया है। हबीब तनवीर, इब्राहिम अल्काज़ी, श्यामानंद जालान, सत्यदेव दुबे, राजिन्दरनाथ, ब.व. कारंत आदि की प्रस्तुतियों ने रंगकार्य का नया मुहावरा गढ़ने की कोशिश में समस्त रंगकर्म को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का दर्ज़ा दिया है। इस रंग-परिवेश में अनेक नाटककार और रंगकर्मी हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की पारंपरिक रंग-शैलियों के साथ-साथ पश्चिमी रंग-सृष्टि और व्यवहार के अनेक कलात्मक तत्त्वों की ओर आकृष्ट हुए। अपनी सर्जनात्मक सार्थकता पाने के लिए उन्होंने काव्यात्मक-यथार्थवादी, विसंगतिवादी और ग़ैर-यथार्थवादी आदि शैलियों का इस्तेमाल करके ऐसी नई नाट्य-शैली की तलाश का रास्ता तैयार किया, जो ज़िन्दगी के व्यापक फलक को कई स्तरों पर एक साथ व्यंजित कर सके।

जयदेव तनेजा की नई पुस्तकें *नई रंग-चेतना और हिन्दी नाटककार* और *आधुनिक भारतीय रंग-परिदृश्य* इसी बदलाव के अनेक पड़ावों की ओर संकेत करती हुई हिन्दी नाटक और रंगमंच के साथ भारतीय रंगमंच के स्वरूप का रेखांकन करने का प्रयास करती हैं। यह कार्य लेखक ने अपनी अन्य पुस्तकों *समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच* (78) तथा *हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा* (88) में भी कई स्तरों पर किया है। इन में चर्चित नाटकों एवं प्रस्तुतियों की समीक्षाओं में बिखरे हुए स्फुट विचारों में नए नाट्य-रूप के लिए नाटककार-रंगकर्मी की बेचैनी, बोलचाल की भाषा के मुहावरे की नाटकीय खोज, वैयक्तिक-राजनैतिक-सामाजिक धरातलों के विभिन्न स्तरों पर जीवन और मूल्यों के परीक्षण से संबंधित प्रश्नों के संकेत मिलते हैं। वैसे, आलोचक ने इन पुस्तकों में रंगमंच के कई सरोकारों पर लेख भी लिखे हैं, परंतु वे इन के गहरे सवालों से अधिक न उलझते हुए नाटक-लेखन और प्रदर्शनों के पारंपरिक रिश्तों की व्याख्यापरक पहचान बनाने जैसी प्रक्रिया से ही गुज़रते हैं। इसीलिए बीच-बीच में उन की टिप्पणियाँ उकसाती ज़रूर हैं, पर केन्द्रीय नहीं बनती।

दरअसल, जयदेव की रुचि ढेर सारे नाटकों-प्रदर्शनों की चर्चा द्वारा उन की उत्सवधर्मी तस्वीर अंकित करने में ही अधिक रही है। इसलिए नाटकों या प्रदर्शनों की समीक्षाओं में कथ्य के महत्त्वपूर्ण संकेतों के साथ उन के रंगमंचीय ढाँचे से ही अधिक साक्षात्कार होता है। चूँकि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री को लगभग वैसा ही पुस्तक में संकलित करने के कारण कई रिक्त स्थान भी रह गए हैं और लेखों या टिप्पणियों के बीच विचारात्मक अन्विति भी नहीं बनी रही, इसलिए लेखक द्वारा बनाई गई तसवीर हिन्दी या फिर भारतीय रंगमंच का रेखाचित्र ही बन पाती है, पर यह भी सही है कि रंगकर्म की गतिशीलता की संपूर्ण तसवीर कोई अकेला व्यक्ति नहीं बना सकता।

इन्हीं सीमाओं के भीतर से कई नाटककारों या नाटकों के समीक्षात्मक विश्लेषण और परीक्षण की वैचारिक

एकसूत्रता और तर्कसंगति से सार्थक मूल्यांकन की प्रक्रिया भी उभरती है। जैसे, एक ही नाटक को केन्द्रित करके लिखी गई पुस्तकों—*लहरों के राजहंस : विविध आयाम* (75) और *अंधायुग और भारती के अन्य नाट्य-प्रयोग* (81), में लेखक ने नाटकों की सृजन-प्रक्रिया के उन बिन्दुओं पर गंभीर बातचीत की है, जो नाटकों की सही पहचान के आधार बनते हैं। नाटक के अर्थपूर्ण होने की संभावनाओं और रंग-मुहावरे को समझने का यह सिलसिला उन की नई पुस्तक *नई रंग-चेतना और हिन्दी नाटककार* (94) में मोहन राकेश (राकेश की रंग-भाषा और मूल नाट्य-बिम्ब), सुरेन्द्र वर्मा (काम-संबंधों की कमनीयता), मणि मधुकर (विसंगत का लोकधर्मी रंग-संस्कार) तथा *आधे-अधूरे, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, हानूश, कोमल गांधार, अंधों का हाथी, ताँबे के कीड़े, नीली झील,* 'मोहन राकेश के लघु नाटकों' से संबंधित लेखों और टिप्पणियों में मिलता है। इन में आलोचक जयदेव ने नाटकों में व्यंजित अनुभव की मानवीय प्रासंगिकता और उन के रूपांकन की प्रक्रिया पर बातचीत करके जो निष्कर्ष दिए हैं, वे रंग-माध्यम के लंबे अनुभव से छन कर आए हैं। रंग-कार्य की बहुस्तरीय गतिविधियों और उन के व्यावहारिक पक्ष से मिलने वाली रंग-दृष्टि उन के विवेचन-विश्लेषण की पृष्ठभूमि में काम करती रही है।

वस्तुतः, इन्हीं लेखों से विचार-विमर्श की शुरुआत के महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। यद्यपि प्रत्येक लेख अपने में स्वतंत्र होने के कारण पाठक को पूरी तरह से साझीदार तो नहीं बना पाता, फिर भी संवाद के लिए उकसाता ज़रूर है। उदाहरण के लिए, कई लेखों से जो निष्कर्ष मिलते हैं वे बताते हैं कि हिन्दी नाटकों में चित्रित जीवन की परिघटनाओं का चुनाव अपने में दिलचस्प ज़रूर बनता है, पर उन के कलात्मक रूपायन तथा बिम्बों के विकास की तार्किक संगति या द्वंद्व के उचित समाधान के अभाव में वे उत्तेजक संभावनाएँ प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं हो पाते।

परंतु ऐसा अन्य दो लेखों, 'अतीतोन्मुखी संदर्भ के नए नाटक' और 'व्यंग्यधर्मिता के विविध आयाम' में विवेचित नाटकों के साथ नहीं हो पाया। अतीतोन्मुखी संदर्भ के नए नाटकों में यह प्रश्न उभरता है कि इन में अतीत की कथाओं को किस तरह के दृश्यात्मक रूपों, बिम्बों और भाषा में अभिव्यक्ति देते हुए आज की दुनिया के साथ एक नया समायोजन बनाने की कोशिश की गई है। कथ्य और रूप की इस नई संगति को पहचांनने में *यमगाथा* और *इला* जैसे नाटकों की चर्चा में आलोचक ने इस सूत्र की चर्चा अवश्य की है। पर अधिकांश परिचयात्मक टिप्पणियाँ इस समायोजन के बारे में मौन रहती हैं। दूसरे लेख में विवेचित नाटकों का व्यंग कहाँ तक आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज है और कहाँ वह सामाजिक-नैतिक मान्यताओं के प्रति आरोपित विद्रोह की मुद्राएँ अपनाता है, इस परिप्रेक्ष्य में नाटकों की सफलता-असफलता के कारणों की तलाश करते हुए नाटककारों की अपनी युक्तियों और साधनों का विश्लेषण नहीं हो पाया। शायद इसीलिए नाटकों में व्यंजित होने वाले व्यंग के विभिन्न सूक्ष्म स्तर रेखांकित नहीं हो सके।

जैसा कि आलोचक ने *जिस लाहौर नहिं देख्या ओ जन्याई नईं* को 'प्रासंगिक, सार्थक और प्रभावशाली त्रासदी' कहा है या उन के अनुसार, *काठ की गाड़ी,* 'शिक्षा और प्रचार को कलात्मक रूप में पेश' करता है, तो इस प्रश्न से उलझना ज़रूरी हो जाता है कि कथ्य का स्वर निर्धारित करने वाले या पात्रों के अभिप्रायों और उन की चरित्रगत विशिष्टताओं को निर्धारित करने वाले धरातल पर नाटककार की सृजनात्मक तलाशों में उस की बहुस्तरीय सामग्री का संश्लेषण किस प्रकार हुआ है? इन के अतिरिक्त, अगर *सीढ़ियाँ* (दयाप्रकाश सिन्हा) और *सुनो बोधिवृक्ष* (मणि मधुकर) आंशिक रूप से सफल हैं, तो वे स्थल कौन से हैं, जहाँ इस प्रकार के संश्लेषण ने स्वयं अपनी विशेषताओं को विकसित किया है और कहाँ-कहाँ मात्र संयोजन बनने के कारण उन के पात्रों की अनुभूतियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति, जीवन की परिघटनाओं का गहरा अहसास नहीं करा पाईं।

इन सवालों को अनदेखा करने के कारण इन दोनों लेखों की अधिकांश टिप्पणियाँ नई रंग-चेतना की दिशाओं

की ओर संकेत नहीं करतीं। वैसे, नाटककार की संवेदना या दृष्टि, अनुभव की सार्थकता आदि के बारे में निष्कर्ष अवश्य दिए गए हैं, परंतु परिचयात्मक विवरण के अतिरिक्त बोझ से दबे नाटकों में व्यंजित वैचारिक या रंग-प्रयोगों की प्रखरता के बिन्दु हाशिए में चले गए हैं। विशेष रूप से, ऐसी स्थिति में जबकि आलोचक ने *त्रिशंकु, बकरी, महाभोज, जिस लाहौर नहिं देख्या. . .,* और *कोर्ट मार्शल* जैसे नाटकों को, वो नई रंग-चेतना के कई स्तरों से साक्षात्कार कराते हैं, दो या तीन पृष्ठों में निपटा दिया है और पुरानी शैली में लिखे गए रामकुमार वर्मा के *कौमुदी महोत्सव* नाटक की चर्चा नौ पृष्ठों में की है। इसी तरह किसी विशेष अवसर पर लिखे गए लेखों में से 'काव्य-रूप के बहाने से. . .' और 'हिन्दी एकांकी : ऐतिहासिक रंग-यात्रा' जैसे विस्तृत अकादमिक लेख इस पुस्तक के साथ न्याय नहीं करते।

वस्तुतः, इस असंतुलन और ग़ैर-ज़रूरी सामग्री के समावेश के कारण कई महत्त्वपूर्ण सवाल अपेक्षित जगह नहीं पा सके या फिर वे छूट ही गए। जब पुस्तक का शीर्षक नई रंग-चेतना हो तो ऐसे कई सवालों से टकराना ज़रूरी लगता है कि हिन्दी नाटकों में प्रयोगशीलता के जो विभिन्न स्तर दिखाई देते हैं, वे अधिक नए और अपने समय से जूझते हुए भी विचारोत्तेजक क्यों नहीं बन सके! वैचारिक संघर्ष के साथ रंग-प्रयोगों का कलात्मक संतुलन क्यों नहीं हो पाया? अथवा, नाटककार ऐसी रंग-भाषा का निर्माण क्यों नहीं कर सका कि वह केवल हाशिए की ही भाषा न रहे! अगर वह केन्द्रीय वस्तु बनने की ओर अग्रसर है तो उस की चुनौतीपूर्ण असफलता के क्या कारण हैं? विशेष रूप से, राकेश के बाद के नाटककारों की रचनाओं के अर्थ और रंगमंचीय प्रयोगों के आशय, जो उन की आंतरिक संरचना के भीतर से उभरते हैं, किस प्रकार के समय और रंगमंचीय अनुशासन को व्यक्त करते हैं।

यहीं प्रश्न नई रंग-चेतना के स्वरूप और दिशा का उभरता है, जिसे आलोचक जयदेव ने 'हिन्दी नाटककार और रंगमंच', 'रंग-शिल्प और नाटककार' और 'नया हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' जैसे तीन लेखों के बावजूद धुँधला छोड़ दिया है। यह सवाल महत्त्वपूर्ण इसलिए है, क्योंकि यह नाटककार की कलामूलक आवश्यकता के महत्त्वपूर्ण घटकों से जुड़ा है। हिन्दी के नए नाटककार ने अपनी रचना-प्रक्रिया में किस प्रकार विभिन्न कलाओं को रूपांतरित करके नाटक द्वारा सृजित बिम्ब के अनिवार्य घटक बनाया है? अथवा कौन-सी कलाओं को संकेन्द्रित करके उन की रूपगत विशिष्टताओं द्वारा इस नई रंग-चेतना या रंग-भाषा को समृद्ध किया है?

निस्संदेह, इसे हम आज के जटिल सामाजिक, सांस्कृतिक या राजनैतिक ढाँचे से अलग नहीं कर सकते। इसी प्रक्रिया में नई रंग-चेतना की बुनियादी विशेषताओं और उन के द्वारा व्यंजित यथार्थ की कलात्मक प्रक्रिया का अध्ययन कर सकते हैं। एक तरह से, वैचारिक-कलात्मक संकल्पना की संगति के लिए विभिन्न रंगतत्त्वों का उपयोग, नाटककार की कलात्मक खोज और कलाओं के परस्पर संबंधों में एक नए संश्लेषण खोज की प्रक्रिया की ओर ले जाता है।

जयदेव तनेजा की एक अन्य पुस्तक *आधुनिक भारतीय रंग-परिदृश्य* भारतीय भाषाओं की अनेक प्रस्तुतियों के बहाने समकालीन भारतीय रंगमंच के बहुरंगी व्यक्तित्व का ख़ाका बनाती हैं। इस की कुछ रेखाएँ अधूरी अवश्य हैं, पर विश्वसनीय हैं, क्योंकि लेखक ने सभी प्रस्तुतियों को देख-परख कर भारतीय रंग-परिदृश्य को प्रस्तुत किया है।

आलोच्य पुस्तक सिलसिलेवार इतिहास नहीं बताती, न ही लेखक का ऐसा कोई उद्देश्य था। पर निर्देशक के कार्यों के माध्यम से, रंगमंच को पहचानने की कोशिश में, प्रस्तुतियों का प्रामाणिक दस्तावेज़ अवश्य सामने आया है। पहले अध्याय में बाङ्ला, मराठी, कन्नड, ओड़िया, पारसी थिएटर, इप्टा, पृथ्वी थिएटर और फिर हिन्दी रंगकर्म की परिचयात्मक भूमिका मिलती है। दूसरे में आधुनिक भारतीय रंगकर्म के वर्तमान परिदृश्य से साक्षात्कार होता है। अध्याय तीन और चार किसी भी नाट्य-अध्येता के लिए महत्त्वपूर्ण बनते हैं। इन में न केवल प्रमुख भारतीय निर्देशकों का परिचय मिलता है, उन की प्रस्तुतियों से भी साक्षात्कार होता है। शंभु मित्र, उत्पल दत्त, अल्काज़ी,

हबीब तनवीर, सत्यदेव दुबे, शांता गाँधी, कावालम नारायण पणिक्कर, रतन थियम, भानु भारती, फ़ैज़ल अल्काज़ी और देवेन्द्रराज अंकुर के कार्यों की चर्चा और उन की एक या दो प्रस्तुतियों के विश्लेषण में सर्वेक्षण, आलोचना और मूल्यांकन—तीनों का मिला-जुला रूप सामने आया है।

इन दोनों अध्यायों में से चौथे अध्याय में निर्देशकों का परिचय कुछ अधिक विस्तार पा गया है। विभिन्न अवसरों पर लिखी गई टिप्पणियों में स्तर की असमानता भी साफ़ दिखाई देती है। वास्तव में, इस चौथे अध्याय के शीर्षक 'आधुनिक भारतीय रंगमंच की खोज' के अनुकूल प्रस्तुतियों में 'खोज' वाला पक्ष एक प्रस्तुति की रपट में बदल गया है। वैसे, कुछ प्रस्तुति-समीक्षाओं के होने पर प्रश्न-चिह्न न भी लगाया जाए तो भी यह प्रश्न उठता है कि 'बाल रंगमंच' और 'नुक्कड़ नाटक' में प्रस्तुतियों की उन विशेषताओं का उल्लेख क्यों नहीं जिन के कारण इन्हें भारतीय रंगमंच की खोज कहा गया है? इस के विपरीत, पाँचवे अध्याय 'भारतीय लोक नाट्य : परंपरा और प्रयोग' और सातवें अध्याय 'नाटक की भाषा और बोलियाँ' का विवेचन हिन्दी रंगकर्म के परिप्रेक्ष्य में होने के बावजूद प्रयोगों की सार्थकता पर बहस करने का अवसर देता है। पर छठे अध्याय में रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाटकों का परिचय मूल पुस्तक के साथ मेल नहीं खाता।

इन सीमाओं के बावजूद अधिकांश प्रस्तुतियों के विवेचन में उन के अर्थ-विशिष्ट की रेखाएँ निर्देशकों के कार्यों की पहचान बनाती हैं। पर इन के कार्यों से जिस बुनियादी परिवर्तन की शुरुआत हुई है, उस की अलग-अलग रंगतों का सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण ज़रूरी लगता है। क्योंकि इन के द्वारा खोजी गई दृश्य-भाषा में नए रंगमंच के अर्थ और उस के आशय, केवल संप्रेषण-क्षमता की संभावनाओं तक ही सीमित न रह कर, दर्शकों को व्यापक परिप्रेक्ष्य से साक्षात्कार कराने की कोशिश से जुड़े हुए हैं। दूसरी ओर, निर्देशकों की प्रस्तुतियों की भिन्नता केवल शैलियों के अंतर के कारण ही नहीं, उन की राजनैतिक-सामाजिक दृष्टि की भिन्नता के कारण भी है। इसीलिए रंगमाध्यम के विशिष्ट रूपों के चुनाव के पीछे आलेख की व्याख्या की बारीक़ियाँ भी काम करती हैं। उदाहरण के लिए, अल्काज़ी द्वारा निर्देशित *मिट्टी की गाड़ी* के चटकीले रंगों में उस का उत्सवधर्मी रूप उभरता है, तो हबीब तनवीर की प्रस्तुति में लोक-जीवन के सहज रंगों के भीतर से परिवर्तन के स्वर।

दरअसल, ये पुस्तकें अपने क्षेत्र की शुरुआती पहल हैं। इसलिए कुछ रिक्त स्थान रह गए हैं, कुछ ज़रूरी सवाल नहीं उठाए गए और कुछेक के जवाब अधूरे रह गए। फिर भी, ये दोनों किताबें हिन्दी के तथाकथित शोध-प्रबंधों या आलोचनात्मक पुस्तकों द्वारा रंगमंच के बारे में फैलाए गए कोहरे की अनेक पर्तों को साफ़ करती हैं। इन में प्रस्तुत समकालीन रंगकर्म की प्रामाणिक जानकारी की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता।

चर्चित किताबें :

लहरों के राजहंस : विविध आयाम : कार्तिक प्रकाशन, निल 69 ए, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017; 1975; मूल्य 21 रुपए

अंधायुग और भारती के अन्य नाट्य-प्रयोग : नचिकेता प्रकाशन, 9187/4, मुलतानी ढाँढा, पहाड़गंज, नई दिल्ली 110055; 1981; मूल्य 40 रुपए

समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच : तक्षशिला प्रकाशन, 1978; मूल्य 30 रुपए

हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा : तक्षशिला प्रकाशन, 1988; मूल्य 150 रुपए

नई रंग-चेतना और हिन्दी नाटककार : तक्षशिला प्रकाशन, 1994; मूल्य 200 रुपए

आधुनिक भारतीय रंग-परिदृश्य : तक्षशिला प्रकाशन, 23/4762 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; 1992; मूल्य 150 रुपए

सुषमा भटनागर

उत्तर-आधुनिकतावाद बनाम उत्तर-रोमानियत

'संशय के कुछ कण लाया हूँ आज ज्ञान की झोली में' के काल से हिन्दी कविता में जो प्रश्नवाचक कठोरता आई थी वह नई कविता काल में पुनः कुछ शिथिल हो कर अकविता काल के आक्रोश में पर्यवसित हुई। सातवें, आठवें और अब नौवें दशक में इस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया विभिन्न रूपों में हो रही है। 'जाकी रही भावना जैसी' के न्याय पर अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इस नव्य रोमानियत के लक्षण कविता में परिलक्षित हो रहे हैं। अपने सद्यः प्रकाशित कविता-संग्रह *घास में दुबका आकाश* में कवि अशोक वाजपेयी लिखते हैं : 'इसी तरह जब लगा कि कविता की भाषा निपट सपाट बयानी में इकहरी और अंतर्ध्वनित हो रही है तो उसे एक तरह की नव छायावादी ऐन्द्रिकता से जोड़ कर कम से कम अपने लिए समृद्ध माध्यम बनाने की कुछ कोशिश की है।'

इस नवोन्मेष के विपरीत, अपेक्षया नवागत कवियों में से कुछ ने यह सोचा कि यह नयापन गीत या ग़ज़ल के रूप-विधान में ही कुछ संशोधन-आशोधन करके लाया जा सकता है, जैसे गीत की जगह नवगीत तो ग़ज़ल की जगह हिन्दी ग़ज़ल। शेरो-शायरी तो सार्वजनिक वाहनों को भी विभूषित करती है, लिहाज़ा विधान अथवा आंदोलन-विशेष स्वतःसिद्ध नहीं हो सकते।

नई कविता के बाद हिन्दी काव्य-जगत में काव्यांदोलनों की एक बाढ़ आई थी जिन के तीन दर्ज़न नामों की सूची डॉ. जगदीश गुप्त ने 'किसिम किसिम की कविता' में गिनाई थी। नई कविता के बाद कुछ ऐसी धारणा या कि भ्रम बलशाली हुआ कि किसी नए ध्वज के बिना स्थापित नहीं हुआ जा सकता। साठोत्तरी हिन्दी कविता के हिंस्र-आक्रामक लहज़े की प्रतिक्रिया-स्वरूप दुष्यंत कुमार ने शमशेरजी की परंपरा के एक महत्त्वपूर्ण अनुषंग ग़ज़ल से प्रेरणा ले कर हिन्दी की कुछ बेहतरीन ग़ज़लें दीं। फिर उन के बाद कुछ कविगण पुनः रेशमी ताने-बाने की नव्य रोमानी चदरिया बुनने की ओर प्रवृत्त हुए। परंतु गिरिजा कुमार माथुर और धर्मवीर भारती की रोमानियत से भिन्न यह संवेदना सारतः भिन्न थी क्योंकि यह प्रतिक्रियावादी हो या न हो, प्रतिक्रियास्वरूप अवश्य स्थापित की गई थी। रोमानी होने का आक्षेप झेलने वाले कवियों ने तो युगवाणी के उन्मुक्त और अयास प्रवाह के लिए छंद के बंध, प्रास के रजत-पाश तोड़े थे। गीत-नवगीत और दूसरी ओर हिन्दी ग़ज़ल के तूर्यनाद के पीछे तीव्र प्रतिक्रिया काम कर रही है। यह यात्रा नक्षत्रों की वक्र गति की भाँति उत्तर-आधुनिकतावाद से उत्तर-स्वच्छंदतावादी रोमानियत की ओर पश्चगमन कर रही है। नई कविता के बाद हिन्दी कविता का पर्याप्त फुराव हुआ परंतु अकविता के बाद

कहीं-कहीं कविता 'रिवर्स गियर' में चलने लगी। यह प्रवृत्ति हिन्दी सिनेमा और अर्धशास्त्रीय गीत ग़ज़लों में भी उसी परिमाण में परिलक्षित हो रही है। वस्तुमोह की चकाचौंध से कुछ देर के लिए नजात पाने की ख़ातिर 'ले चल मुझे भुलावा देकर' की तर्ज़ पर प्रतिकारात्मक रोमानियत का सैलाब जैसा आया हुआ है। जिस तरह चलचित्रों में रजवाड़ों का दृश्य-पटल प्रचलित है, उसी तरह कविता भी रीति-युग की ओर मुड़ कर देख रही है। कविताई में भी कहीं उत्तर मध्यकाल सुगबुगा रहा है। जब हम एक स्वतंत्र विधा के रूप में ग़ज़ल पर बात करते हैं तो यह भी सोचना होगा कि बीसवीं शताब्दी की सांध्य वेला में उस विधा को पुनः अंगीकार क्यों किया जा रहा है, जिसे ग़ालिब जैसे शास्त्रीयतावादी ने भी यह कह कर अपनी छटपटाहट व्यक्त की थी :

बक़द्रे शौक़ नहीं जर्फे तंगनाए ग़ज़ल
कुछ और चाहिए बुसअत मेरे बयां के लिए

चर्चाधीन छहों पुस्तकें सिद्धांत अथवा व्यवहार में ग़ज़ल की विधा की परिक्रमा करती हैं। कुछ अपवादों को छोड़ कर, या कहिए कि अधिकांश रचनाओं में, न केवल रूप-विधान अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी का चुना गया है अपितु कथ्य और संवेदना भी नितांत मध्यकालीन भाव-छवियों से अटी हुई है :

आहट हमारी सुनके वो खिड़की में आ गए
अब तो ग़ज़ल के शेर असीरी में आ गए

हिंस्र-आक्रामक या जुझारू माहौल से विरत-विषण्ण कवि-मन अपने समय से कट कर नितांत अप्रासंगिक प्रकरणों में ही भटकने लगे तो चिन्ता का विषय बन जाता है। कुएँ में भाँग डालने के लिए दृश्य-श्रव्य प्रचार माध्यम तो इस दिशा में लपक ही रहे हैं, प्रश्न यह है कि ब्रह्मानंद सहोदर शब्द उस से हारी होड़ क्यों लगा रहा है! उस पर सितम यह है कि इस दोहरे पिछड़ेपन को तरह-तरह की दलीलें दे कर, एक के बाद एक भूमिका और प्रबंध लिख कर सही ठहराने की एक अलग मुहिम छिड़ी हुई है।

गीत की वापसी अथवा नवगीत की लहर आने के बाद हिन्दी ग़ज़ल का प्रादुर्भाव हुआ जिसे इस शिविर के प्रवक्ता विवर्तन मानते हैं। यह केवल संयोग मात्र नहीं कि अधिकांश ग़ज़ल-प्रणेता 'गीतगार-ग़ज़लकार' हैं। यह भी एक रोचक तथ्य है कि हिन्दी ग़ज़ल का जेहाद छेड़ने से पहले भी खुसरो, कबीर, भारतेन्दु, निराला, जानकीवल्लभ शास्त्री, नरेन्द्र शर्मा, त्रिलोचन और शमशेर ने बेहतरीन ग़ज़लें कहीं। इन रचनाकारों की सृजनधर्मिता ने किसी झंडे या आंदोलन का साया तलाश नहीं किया। वह समन्वयवादी युग था, विघटनवाद की जड़ें अभी जम नहीं पाई थीं। इसी शृंखला में एक अकेली आवाज़ उभरी थी दुष्यंत कुमार की। उन्होंने कविता का प्रशस्त निर्गुण पंथ त्याग कर ग़ज़ल या हिन्दी ग़ज़ल का सगुणवाद नहीं फैलाया था। *दरख़्तों के साये में धूप* की तपिश झेलती उन की कविताएँ अपने रूप की गवाही आप थीं : *मत कहो आकाश में कुहरा घना है/यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है/दोस्तो अब मंच पर सुविधा नहीं है/आजकल नेपथ्य में संभावना है।*

हिन्दी ग़ज़ल और गीत शृंखला में इधर चार-पाँच पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। तुफ़ैल चतुर्वेदी के संग्रह के वरक़ अर्थात पन्ने तो ऐलानिया किसी एक 'तुम्हारे' का ही ताना-बाना बुनती हैं। इस उम्र में ये ग़ज़लें आधुनिक हिन्दी ग़ज़लकारों के लंबे-चौड़े दावों को निरस्त कर देती हैं। स्वयं गोपीचंद नारंग ने इस ओर संकेत किया है : 'मालूम नहीं तुफ़ैल इन्होंने किस सबब इख़्तियार किया। ये रवायत की राह ज़ियादा देता है, ताज़ागोई की तवक़्क़ो कम पैदा करता है।'

डॉ. उर्मिलेश ने अपने ग़ज़ल संग्रह के आरंभ में हिन्दी ग़ज़ल की पैरवी करते हुए सूत्र-शैली में पर्याप्त स्पष्टीकरण दिए हैं : 'हिन्दी शब्द किसी हीन भावना, शर्म या सांप्रदायिक सोच की प्रतीति कराने वाला नहीं. . .मेरी मंशा यह बताना भर है कि ग़ज़ल सारतः हिन्दी जाति की जीवन-शैली और संस्कारों को मुखरित करती हुई. . .निरंतर आगे बढ़ रही है।'

साहित्यिक वितंडावाद के विषय में प्रताप नरायण मिश्र ने क्या खूब ग़ज़ल कही थी : *विवादी बढ़े हैं यहाँ कैसे कैसे/कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे कैसे।*

सायास छंदबद्धता का एक अन्य दुष्परिणाम यह हो रहा है कि बहर की सँभालिए तो भाषा का मुहावरा तहस-नहस हुआ जाता है। व्याकरण और प्रयोग दोनों ही दृष्टियों से अशुद्ध प्रयोग धड़ल्ले से किए जा रहे हैं : *'ज़िन्दगी बिखरी तो बिखरी ही चली जाएगी'*—उर्मिलेश। *तन पर कितने साफ़ लिबासें, पाँव हैं कीचड़-पानी में, अँधेरे को ओढ़ लिए हैं, सूरज की अगवानी में*—डॉ. लक्ष्मण प्रसाद चंद।

तरह-तरह की खींचतान करके बहर बिठाई जाती है। न ज़मीन न आसमान और न ही सही भाषा-ज्ञान। अपवाद-स्वरूप कहीं एक आध शेर अच्छा गुज़र जाता है : *चिड़िया की एक आँख है जिनके निशान में/टेढ़े तमाम तीर हैं उनकी कमान में*—उर्मिलेश।

आंदोलन के रूप में आई हिन्दी ग़ज़ल के बारे में ग़ज़ल के संकलनों की प्रस्तावनाओं के अतिरिक्त विषयपरक पुस्तकें भी आती रही हैं, जिन में अद्यतन है सरदार मुजावर की पुस्तक *हिन्दी-ग़ज़ल के विविध आयाम।* शोध-प्रबंध शैली में लिखी गई यह पुस्तक हिन्दी आलोचना की एक नई प्रवृत्ति की याद दिला देती है। हिन्दी आलोचना में प्रवृत्तियों के स्थान पर व्यक्ति केन्द्रित आलोचना का नया दौर शुरू हो गया है। गोष्ठियों में पढ़े गए पर्चे हों या आलोचनापरक पुस्तकें, एक जगह कवि को केन्द्र में रख कर खंडन-मंडन चलता रहता है। कुछ समय निकाल कर युगवाणी पर विचार करने की जैसे फ़ुर्सत ही नहीं रही। खेद का विषय है कि शोध-प्रधान पुस्तकें भी इसी झोंक में लिखी जा रही हैं। 'हिन्दी ग़ज़ल में सामाजिकता', 'राजनीति बोध', 'वेदना एवं निराशा' जैसी कुछ प्रवृत्तियाँ चुन कर एक-एक ग़ज़लकार पर चर्चा की गई है। ज़ाहिर है कि इस तरह कोई व्यापक दृश्यफलक तैयार नहीं होता। पुस्तक का एक मात्र योगदान यही है कुछ पुरानी अच्छी ग़ज़लों को एक जगह एकत्रित कर दिया गया है। इस के अतिरिक्त साक्षात्कारों के माध्यम से हिन्दी ग़ज़ल संबंधी वाद-प्रतिवाद एकाधिक कोणों से प्रस्तुत किए गए हैं। हिन्दी ग़ज़ल यात्रा का इस से ख़ासा अंदाज़ा हो जाता है।

'हिन्दी' विशेषण का आग्रह करने वाले रचनाकारों ने ग़ज़ल को 'मुक्तिका', 'गीतिका', 'गीतल', 'तेवरी' और 'अनुगीत' आदि संज्ञाओं में अंतर्हित करना चाहा। शेर को 'द्विपदी', मतले को 'भावोदय' और 'मकते' को 'अंत' का बाना पहनाना चाहा। फिर लौट कर ग़ज़ल और हिन्दी ग़ज़ल पर बात तय हुई। विचित्र बात यह है कि इस राह में दुष्यंत कुमार को अपना राहबर मानने वाले ग़ज़लकारों ने उन की इस टिप्पणी का मर्म नहीं समझा : 'ये ग़ज़लें उस भाषा में कही गई हैं, जिसे मैं बोलता हूँ।' इस से भी बड़ी विडंबना यह है कि ये हिन्दी ग़ज़लगो उर्दू भाषा को रीझ कर या खीज कर याद भी करते रहते हैं। ग़ालिब ने कहा था, *'ज़िक्र मेरा मुझसे बेहतर है जो उस महफ़िल में है।'* एक ओर यदि डॉ. उर्मिलेश उर्दू-फ़ारसी ग़ज़ल को हेय मानते हुए हिन्दी ग़ज़ल का कर्मधारय समास बनाना अनिवार्य मानते हैं तो उधर पूरन एहसान निर्भ्रान्त घोषणा करते हैं : *याद आती है रुत मुहब्बत की/हर ग़ज़ल उनकी शान में लिखना/फ़न है मुश्किल ग़ज़ल का ऐ एहसान/फिर भी उर्दू ज़ुबान में लिखना।*

उर्दू में ग़ज़ल कहने के लिए उर्दू भाषा और साहित्य को आत्मसात करना आवश्यक है। इसलिए हमारे ग़ज़लकारों की अपनी ज़मीन और आसमान स्पष्ट रूप से निर्धारित करने होंगे, अन्यथा ग़ज़ल के फेर में केवल उर्दू

शब्दों की शृंखलाएँ खिंची चली आती हैं और उन के पीछे-पीछे घिसटता रहता है सदियों पुराना ज़ेहन और ज़ेहनियत। एक विचित्र विभक्तमनस्क स्थिति पैदा हो जाती है, अपने युग और यथार्थ से असंपृक्त एक कल्पनालोक। एक चुनी हुई विधा के सहारे कुछ कहने के बजाय नवागत कवि गीत-ग़ज़ल के घोषणा-पत्र जारी करने लगते हैं। इन की रचनाएँ विधा-विशेष की पैरवी अधिक करती हैं, अपना दायित्व कम निभाती हैं : *चित्र हमने हैं उकेरे, आँधियों में भी दिनों के/हमें अनदेखा करो मत, फूल हैं हम हाशियों के/करो तो महसूस गंध है फैली हमारी/हैं हमीं में छुपे तुलसी, जायसी, मीरा, बिहारी।*—यश मालवीय

ग़ज़लकार एवं उन की पुस्तकों के प्रस्तोता बड़ी-बड़ी गर्वोक्तियाँ करते हैं—'हिन्दी की ग़ज़लें भी किसी ज़माने में आशिक़ और माशूक़ के प्यार भरी गुफ़्तगू रही हैं, अब तो यह शीश महल से निकल कर खुले आकाश के नीचे आ गई हैं।' मगर हिन्दी कुछ और ही दास्तान कहती है : *खुला ख़त दे रहे हैं तुझको, ग़ज़ल तो बस बहाना है।*—डॉ. लक्ष्मण प्रसाद चंद

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ग़ज़ल (उर्दू, हिन्दी, उर्दू-हिन्दी) की वापसी की इस भगदड़ में बेहतरीन शेर 'नज़्म' में ही नज़्म हुए हैं : *ज़हन की प्यास थी रह रह के छलक जाती थी/लोग कैसे थे सराबों से बहल जाते थे/और करते थे तलब रोशनी विजदानों की/क्या मसीहा थे अँधेरों को ख़ुदा कहते थे।*—तुफ़ैल चतुर्वेदी

दरअसल हिन्दी ग़ज़ल के बाने में ग़ज़ल की वापसी का एक बहुत बड़ा कारण बासीपन का एहसास है। 'यूज़ एंड थ्रो अवे' की ताबड़तोड़ स्पर्धा के युग में अपना वजूद बनाए रखने के लिए कुछ नया तथा भिन्न दिखना बाज़ार में बने रहने की पहली शर्त है। उधर दृश्य-प्रचार माध्यमों की टक्कर में अंकित शब्द वैसे भी अभूतपूर्व चुनौती का सामना कर रहा है। एक के बाद एक प्रकाशनगृहों का विलय तथा रूप-परिवर्तन इस का ज्वलंत प्रमाण है। ऐसे संकट काल में कविता को कुछ अधिक मोहक बनाना या कम से कम ऐसा दिखाना ज़रूरी है। ग़ज़ल की विधा इस दृष्टि से भी अधिक आकर्षक विधा है। किसी भी लोकप्रिय गायक के सुरों में ढल कर असंख्य लोगों तक पहुँचने के सुयोग की प्रच्छन्न संभावना भी इस में सन्निहित है।

चर्चित किताबें :

सारे वरक़ तुम्हारे : तुफ़ैल चतुर्वेदी; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 1994; मूल्य 50 रुपए

धुआँ चीरते हुए : डॉ. उर्मिलेश; अयन प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली; 1994; मूल्य 60 रुपए

उजालों के सुराग़ : डॉ. रवि ज़िया, पूरन एहसान, रवि कुमार; मित्रता प्रकाशन, पठानकोट (पंजाब); 1994; मूल्य 80 रुपए

हिन्दी ग़ज़ल के विविध आयाम : सरदार मुजावर; भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली 110002; 1993; मूल्य 250 रुपए

कहो सदाशिव : यश मालवीय के गीत; आशु प्रकाशन, इलाहाबाद; 1994; मूल्य 70 रुपए

ग़ज़लों में ग़ज़ल है : डॉ. लक्ष्मण प्रसाद चंद; आनंद प्रकाशन, माफी बारसली गंज, नवादा (बिहार); 1994; मूल्य 25 रुपए

संस्मरण : इस्मत चुगताई

पद्मा सचदेव

ज़िक्र उस परीवश का

बंबई को अगर छोटा भारत कहा जाए तो अतिश्योक्ति न होगी। भारत के हर प्रदेश के लोग वहाँ रहते हैं और हर किसी ने वहाँ अपना शहर बसा रखा है। उत्तर प्रदेश के दूध वाले भय्यों की साइकिल की घंटियों से अँधेरा जम्हाई ले कर चलने की तैयारी करता है। चौपाटी, जुहू व दूसरे इलाक़ों में नारियल वाले तेज़ छुरों से फटाफट नारियल काट कर अमृत पिलाने में उस्ताद हैं। बनारस के पान वाले, वहीं की सितारा देवी, हिमाचल के डॉक्टर ज्योतिषी, लखनऊ-अलीगढ़-इलाहाबाद के लोग, जम्मू के पं. शिवकुमार शर्मा, उस्ताद अल्लारक्खा खाँ, सिन्धी भाषा को कलेजे से लगाए सिन्धी, गुजराती, पारसी, हिन्दू, मुसलमान, खोजे, सिक्ख सब वहाँ रहते हैं। इन सब ने कहीं एक स्थान पर, अपने शहर के नाम का दिया ज़रूर रोशन किया है जिस के उजाले में वो अपनी-अपनी तहज़ीब के वरक पलटते हैं। इसी शहर में लेखकों के दालान का एक दिया भी अलग से जलता है। वहाँ लेखक अक्सर इकट्ठे हो कर अपने-अपने शहर ज़िन्दा करते हैं। बंबई में लेखकों की इस बस्ती की कंदील थीं इस्मत चुगताई। थीं कहते हुए कलेजे में एक हूक-सी बल खाती है। पर ऐसे लोग कभी 'थे' नहीं होते। हमेशा साथ-साथ रहते हैं।

फ़ोटोग्राफ़ी के क्षेत्र में जाने-माने मित्तर बेदी के गुरु और बड़े भाई थे राज बेदी। राज बेदी का घर बंबई में कई लेखकों का जैसे अपना ही घर था। वो डॉ. धर्मवीर भारती हों, कमलेश्वर हों, मोहन राकेश हों, शरद जोशी, गिरधारी वैद या इस्मत आपा हों। आपा बंबई की मेरीन ड्राइव की ए. रोड पर इंड्स कोर्ट के पहले तले पर रहती हैं। वहीं बग़ल का फ़्लैट राज बेदी का था। राज बेदी और उन की पत्नी उज्ज्वला बेदी जिन्हें इस्मत आपा हमेशा उजला कहती थीं उन के द्वार मित्रों के लिए हमेशा खुले रहते थे। हम लोग नए-नए बंबई आए थे। शायद डॉ. भारती ही की वजह से राज बेदी ने हमें भी अपनी बेटी की शादी पर बुलाया था। अक्सर बंबइया शादियों में घर में कुछ नहीं होता। सारा काम होटल में निपट जाता है। गए और दुल्हन ले कर आ गए। पर राज बेदी के यहाँ उस दिन संगीत का प्रोग्राम था। पुष्पा भारती के कहने पर थोड़ा सकुचा कर मैं ने ढोलक सँभाल ली थी। बेदी साहब गद्गद् थे। मुंबई में उन की बेटी के सुहाग ढोलक पर गाए जाएँगे, इस की अपेक्षा उन्होंने न की होगी। ढोलक टन्ना रही थी। तभी पल भर के लिए बिजली चली गई। जो बंबई में अक्सर नहीं जाती। पल भर के मेहमान उस अँधेरे में। दो चीज़ें चमक रही थीं—इस्मत आपा के माथे पर उन के सफ़ेद बालों का भव्य मुकुट और मेरी नाक

की लौंग। सब ने नोटिस किया होगा इसलिए बिजली के आते ही सब के चेहरों पर मुस्कान थी। इसी उजाले में मेरी ओर आपा की पहली बार देखा-देखी हुई। वो मुस्कुराईं स्नेह, ममता, अपनेपन और दोस्ताना मस्ती में सकुचाते हुए बड़े अदब के साथ। खाने के वक़्त उन्होंने पूछा था।

'अरे, तुम अब तक कहाँ थीं?'

'यहीं तो थी मैं', मैं ने कहा था।

और हम दोस्त हो गए थे। उस के बाद जहाँ भी मिलते, हमारी आत्मीयता भरी नज़रों से लगता हम बरसों से एक-दूसरे को जानते हैं। वो मुझ से ऐसे ही बातें करती थीं, जैसे ज़िन्दगी के उन के सफ़र में मैं हमेशा उन के साथ चलती रही हूँ। उन की ये खूबी कमाल की थी। जो भी आता उस से ऐसे मिलतीं, जैसे बचपन से जानती हों। वो बच्चे के साथ बच्चा हो जाती थीं, बूढ़े और हम उम्रों के साथ दोस्त। उन के जैसा दोस्त बड़े नसीब से मिलता है।

लंदन में बी.बी.सी. वालों ने मुझे बंबई के उर्दू के अदीबों की घंटे भर की बातचीत और कलाम रिकॉर्ड करके भेजने को कहा था। ये 1973-74 की बात है। इस महफ़िल में जनाब अली सरदार जाफ़री, अख़्तरउल ईमान, राजेन्द्र सिंह बेदी, जोए अंसारी, मज़रूह सुलतानपुरी, कुर्रतुलएन हैदर, वाज़िदा तबस्सुम और इस्मत आपा आए थे, मैं आपा को घर से लिवाने गई थी। उन्हें ला कर मैं ने अपने फ़्लैट की घंटी बजाई तो सरदारजी ने दरवाज़ा खोला, आपा को आदाब किया। आपा उन्हें नज़रअंदाज़ करके बाहर खड़ी-खड़ी फ़्लैट देख रही थीं। मैं ने कहा, 'आपा ये मेरे पति हैं।' उन्होंने लापरवाही से पूछा, 'ये फ़्लैट किस का है।' मैं ने कहा, 'ये भी इन्हीं का है।' इन्हें देख कर बोलीं :

'भई फ़्लैट के साथ हैं तो क्या बुरा है।' उन की आवाज़ खुले दरवाज़े से भीतर पहुँची तो एक ज़ोरदार कहकहा बुलंद हुआ। आपा के आने का एलान उन के इस जुमले से हो चुका था। भीतर चलती ज़ोरदार बहस रंगीन हो उठी थी। रसोई से गर्मागर्म पकौड़े आ रहे थे। सरदार भाई ने अपने कुर्ते की जेब में से अद्धा निकाल लिया था। मेरे पति उन दिनों टी टोटलर थे। पकौड़े की संगत में धीरे-धीरे शाम रात में ढल रही थी। गर्मागर्म पकौड़े की एक और तश्तरी भीतर से आई तो आपा ने इन्हें कहा :

'अरे तुम तो यहीं बैठे हो।'

इन्होंने कहा, 'जी यहीं हूँ, कहिए।'

आपा ने संजीदगी से कहा, 'तो फिर पकौड़े कौन बना रहा है?'

सब लोग इतना हँसे कि पकौड़े बनाने वाला बॉबी स्टाइल में बेसन से भरा हाथ लिए घबरा कर दाख़िल हुआ। 'कहीं पकौड़ों में से कोई जानवर तो नहीं निकल आया।' बेदी साहेब ने हँसते-हँसते पूछा :

'पद्मा, लेखकों को इकट्ठा करना तो मेंढकों को तोलने जैसा होता है। तुम ने कैसे सब को इकट्ठा कर लिया।' इस्मत आपा कहाँ चूकतीं, बोलीं :

'अरे, तुम मेंढक हो क्या?'

ये आपा की हमारे घर में पहली विज़िट थी। फिर कभी किशनजी के यहाँ, कभी सरदार भाई के यहाँ, कभी कहीं और मुलाक़ात हो जाती थी।

डॉ. भारती के कहने पर इन दिनों मैं ने प्रोज़ लिखनी शुरू की तो पुष्पा भारती ने मुझे कहानी लिखने के लिए उकसाया। इस्मत आपा ने मेरी इतनी हौसला अफ़ज़ाई की कि मैं कहानी लिखने से पहले उन के साथ चर्चा किया करती थी। उन की बातचीत यूँ होती जैसे मैं सच में कहानीकार हूँ। मैं घर आ कर सोचती इन्होंने मंटो, किशनचंदर, बेदी की कहानियाँ आसमान तक पहुँचते देखी हैं। कहीं ये मेरे हाथ में झुनझुना तो नहीं पकड़ा रहीं।

पर मैं कहानी लिखने लगी। एक दिन वो घर आई हुई थीं। हम एक कहानी पर बात कर रहे थे। थोड़ी देर बाद मैं हीरोइन की तरह बात करने लगी, 'आपा! अपने घर के पीछे की पहाड़ी पर उस का घोड़ा आ कर खड़ा होता। मैं अपने आँगन में से गुज़रती तो इतनी दूर से भी उस की आँखों की मुहब्बत की आँच मुझ तक पहुँच जाती। वो गाँव का लालख़ान था और मैं सिर्फ़ नूर, मौलवी की बीवी नूर।' वो दिलचस्पी के साथ सुन रही थीं। अचानक मेरी तीन बरस की पिद्दी-सी बेटी फ़िक्रमंद-सी दूसरे कमरे में चली गई। उन दिनों मेरे पति संगीत की किसी कॉन्फ्रेंस में गए हुए थे। जनवरी का महीना था। ग्रीटिंग कार्ड्स का बंडल मैं ने उन्हें दिखाने के लिए रखा हुआ था। वो आए तो मेरी बेटी जा कर बोली, 'डैडी डैडी मम्मी का एक ब्वाय फ्रैंड है। आपा को बता रही थी। देखिए, उस ने मम्मी को कितने कार्ड भेजे हैं।' इन का ठहाका गूँजा तो मैं रसोई से म्यूज़िक रूम में भागी। मुझे देख मेरी बेटी उठी तो उस के फ्रॉक से ढेर सारे कार्ड गिर गए। वो खिसिया कर अपने कमरे में चली गई तो इन्होंने हँसते-हँसते कहा :

'मीता कह रही है ये सारे कार्ड्स तुम्हारे किसी ब्वाय फ्रैंड ने भेजे हैं।' मैं ने आपा को बताया तो उन्होंने आ कर उसे गोद में बिठा कर पूछा, 'क्यूँ चुड़ैल, मम्मी का ब्वाय फ्रैंड नहीं हो सकता?' मीता शर्मिंदा हो कर भाग गई। मेरी बेटी को आपा बहुत प्यार करती थीं। जब वो दिल्ली आतीं तो घंटों उस के साथ ताश खेलतीं और गप्प मारतीं।

आपा अक्सर घर पर ही रहती थीं। एक साड़ी की चुन्नटों में पिन लगा कर हमेशा उसे बिस्तर पर तैयार रखतीं। कोई ऐसा-वैसा मिलने आ जाता तो लपेट लेती थीं। उन की चारपाई पर उन के नामी पानदान के अलावा, देश-विदेश से आई पत्रिकाएँ, अख़बारें, किताबें, उन की अधूरी कहानियों के पन्ने, सुपारी और किमाम वाली थैलियाँ, सिगरेट लाइटर, सिगरेट, कोई हिना की शीशी, आई हुई चिट्ठियाँ और ताश पड़ी रहती थीं। इस सब के बीच चुस्त-दुरुस्त आपा ब्लाउज़, पेटीकोट या कफ़तान में लैस हो कर बड़ी गंभीर मुद्रा में हबीब के साथ ताश खेला करतीं। हबीब उन का बहुत पुराना नौकर है। वो चारपाई के नीचे चौकी पर बैठ आपा के साथ खेलता। बाज़ी जटिल होती तो आपा पान बना कर उस की चोंच में अलीगढ़ से आया किमाम लगा कर मुँह में ठूँस लेतीं। फिर एक बार ख़म ठोक कर बाज़ी शुरू करने से पहले हबीब को एक मोटी-सी गाली दे कर पान की पीक सँभालते-सँभालते कहतीं :

'हरामज़ादे, अब के जीता तो याद रखना।' हबीब मुस्कराता। वो आपा की गालियाँ सुनते-सुनते ही बड़ा हुआ है। जब भी घर जाता, आपा सचेत करतीं, 'हबीब के बच्चे, तुम्हारे तीन बच्चे हैं। अगर अब की फिर तुम्हारी बीबी हामिला हुई तो याद रखना।' हबीब नीची नज़र करके मुस्कराता रहता। फिर प्यार से मुझे देख कर कहतीं, 'पान खाओगी।' और पान बना कर कभी-कभी शरारत से उस की चोंच किमाम वाली शीशी से छुआ देतीं। मैं कहती, 'आपा मैं सरदारनी हूँ, गुरूजी नाराज़ हो जाएँगे।' वो हँस कर कहतीं, 'उन्हें तुम्हारी निग़रानी के सिवा भला और कोई काम है। इस के लिए उन्होंने एक सरदार को छोड़ रखा है।' एक बार किमाम में मेरे पान की चोंच काफ़ी भीग गई। मेरी आँखें उबल कर बाहर आने लगीं। मैं बॉथरूम में पानी के कुल्ले करके आई तो कहने लगीं, 'तू ब्राह्मणों की औलाद क्या ख़ाक किमाम हज़म करेगी। सरदारनी होती तो जीरे की तरह चबा जाती। अब तो भई सरदार को कहना पड़ेगा तू किमाम खाती है। निकाल बाहर करेगा तुझे।' फिर से प्यार से बोलीं, 'तुम मेरे पास आ कर रहना। पर सरदार बड़ा प्यारा आदमी है।'

आपा के घर में एक बिल्ली थी। उस की गुर्राहट की आवाज़ से चौंक कर मैं ने पूछा, 'आपा ये किस की आवाज़ है।' तो उन्होंने कहा, 'वो कहना मुश्किल है। बाहर बिल्लों को इस ने टाइम दिया होगा पर मैं ने खिड़कियाँ तक बंद करवा दी हैं। यहाँ कौन इस के बच्चे पालेगा।' फिर कुछ दिनों बाद किसी हस्पताल से फ़ोन आया तो आपा कहने लगीं :

'मैं क्या जानूँ किस की बिल्ली है। भई, आप लोग मुझे कैसे इनवॉल्व कर रहे हैं। मैं चार बिल्लों को ले कर क्या करूँगी।'

हुआ ये कि आपा की लाख पहरेदारी के बावजूद बिल्ली हामिला हो गई। आपा को पता चला तो उन्होंने उसे अपने दोस्त के साथ जानवरों के हस्पताल में पहुँचा दिया। दोस्त को ख़ाक मालूम न था। उन्होंने इन के घर का पता दे दिया। अब वो हस्पताल वाले कह रहे थे 700 रुपए बिल है। बिल्ली और बच्चों को ले जाइए। आपा इस सफ़ाई से मुकर गईं कि हस्पताल वालों को शुबह तक न हुआ कि बिल्ली किस की है।

अक्सर उन की रेडीमेड साड़ी वहाँ फैली रहती थी। एक दिन हबीब ने घंटी सुन कर दरवाज़ा खोला और आपा को आ कर कहा, 'कोई आए हैं साड़ी पहन लीजिए।' आपा ने साड़ी लपेट कर पल्लू अपने चगताई कंधों पर रखा और कहा, 'यहीं बुला लाओ।' साढ़े छह फुट ऊँचा एक ख़ूबसूरत नौजवान दाख़िल हुआ तो आपा ने साड़ी उतार फेंकी और हबीब को कहा, 'अरे ये तो मेरा भतीजा है।' हबीब ने कहा, 'ये बड़े हो गए हैं। मैं ने पहचाना नहीं।'

साबिर दत्त उन दिनों लेखकों पर नंबर निकाल रहे थे। इत्तिफ़ाक ही कहिए, जाँ निसार अख़्तर, साहिर लुधियानवी, किशनचंदर, बेदी साहेब के नंबर निकल चुके या निकलने वाले थे तो वो नहीं रहे। और भी कई लोगों के नंबर उन्होंने निकाले थे। आपा को आ कर बोले।

'आपा आप का नंबर निकालना है। फलाँ-फलाँ के निकल चुके हैं।'

'कैसा नंबर?' आपा ने पूछा।

साबिर दत्त ने बताया तो बोलीं, 'अरे वो नंबर, माफ़ करो मियाँ। जिस-जिस का निकाला सब फटाफट मर रहे हैं। मैं तो अभी मरना नहीं चाहती।'

उस ने कहा, 'ऐसी बात नहीं है। फलाँ-फलाँ पर भी निकला है। हाल ही में कमलेश्वरजी पर निकला है।'

आपा फट से बोलीं, 'अरे वो ठहरा बेशर्म हिन्दू। उस के दुश्मन मरें। मैं तो हयादार मुसलमानिन हूँ। पट्ट से मर जाऊँगी। भई, मुझे बड़े काम हैं, तुम जाओ।'

जो आपा को जानते हैं उन्हें मालूम है आपा सिर्फ़ इंसान को जानती थीं। किसी हिन्दू-मुसलमान को नहीं।

बंबई की एक नशिस्त में मैं ने देखा एक मौलवी साहेब ने आपा को आ कर सलाम किया। आपा ने कुछ शर्मिंदगी का इज़हार करते हुए कहा :

'मौलवी साहेब, अभी तो नहीं देख पाए।' फिर महीने भर बाद मौलवी साहेब ने एक भरी महफ़िल में आपा को घूरा तो बोलीं, 'मौलवी साहेब मैं ने पढ़ लिया और पढ़ कर लगा खट्ट से हिन्दू हो जाऊँ।' ये कुरान शरीफ़ का तर्जुमा था।

आपा बड़ी शरारत से बोलने लगीं। मौलवी साहेब अपनी पांडुलिपि लेने भी न आए। मैं ने ही साबिर दत्त के हाथ उन्हें भिजवा दिया। फिर भी अल्लाह मियाँ से आपा के तआल्लुक़ात काफ़ी अच्छे थे। एक बार किसी ने आ कर कहा, 'आप अपनी आँखें मरने के बाद डोनेट कर दीजिए। फलाँ-फलाँ ने की हैं।' आपा ने अपनी चुन्नी-सी आँखें मिचका कर कहा, 'क्यों भई, आँखें यहाँ छोड़ जाऊँगी तो अल्लाह मियाँ को कैसे देखूँगी। मैं तो डोनेट नहीं करती। वो खफ़ा न होंगे?'

सरदारजी के साथ शाम को व्हिस्की पी कर आपा क़ुरान शरीफ़ पर बहस कर रही थीं। आपा ने कहा, 'ये नहीं हो सकता।' सरदारजी ने क़ुराने मज़ीद ला कर ढूँढ़-ढाँढ़ कर आपा को वो प्रसंग दिखा दिया। और छेड़ते हुए बोले, 'अब बताइए?' मासूमियत के साथ तौबा करती हुई आपा बोलीं :

'हाय अल्ला मैं चुगताई ख़ानदान की पाक साफ़ मुसलमानिन। मैं ने क्या इस सरदार से ही कुरान शरीफ़ समझना था।'

व्हिस्की पीने के बाद आपा डोलती थीं। पर बियर उन्हें बहुत अच्छी लगती थी। दिन में हमारे सरदार ड्राइवर से बियर मँगवा कर वो पी रही थीं तो उस ने मुझे आ कर कहा :

'आपा बियर पी रही हैं। मैन्नूं वी कह रई सी। मेम साहेब मैं नी पीती।' और वो शरारत से हँसा।

किसी दिन शाम को सरदारजी ने आपा को कहा, 'ये पद्मा बड़ी ख़राब है। अब तो हमारा डाइवोर्स हो जाना चाहिए।' इन के साथ व्हिस्की पीने के बाद भी उन की लॉयल्टी मेरी तरफ़ ही रहती थी। बड़ी दुखी हो कर सोईं। उन्हें हमारे डुग्गर की एक डिश औरिया बड़ी पसंद थी। मैं रसोई में सुबह बना रही थी तो आ कर बोलीं, 'अरे कद्दू के छिलके तो नहीं फेंक दिए?' मैं ने कहा, 'नहीं।' वो छिलके और बीज साफ़ करते हुए बोलीं, 'इन की सब्ज़ी बड़े मज़े की होती है। मैं खुद बनाऊँगी।' तभी सरदारजी ने आवाज़ लगाई, 'पद्मा, मेरा पायज़ामा कहाँ है?' मैं ने कहा, 'आ रही हूँ।' तो आपा की गोल-गोल आँखें फैलीं, कहने लगीं, 'अरे कल तो इसे छोड़ने की कह रिया था, अब पायज़ामा ढूँढ़वा रहा है।' ये भीतर आ गए थे। बोलीं, 'बड़ा आया छोड़ने वाला। अपना पायज़ामा तक तो ढूँढ़ नहीं सकता। अरे चली जाएगी तो नंगा फिरेगा नंगा।'

सरदारजी ने खुश हो कर आपा को गले लगा लिया तो कहने लगीं, 'बड़ा छोड़ने चला है।'

मैं बंबई में रेडियो में काम करती थी। आपा का घर रास्ते में पड़ता था। वहाँ से कभी-कभी हो कर जाती या वापसी में आती। एक दिन मैं उन के यहाँ से रेडियो के लिए निकली तो दो-तीन ख़ास लखनवी स्टाइल आँखें मुझे घूरती हुई भीतर गईं। मैं ने सोचा पता नहीं क्यों घूर रही हैं। मैं घर जाने से पहले उत्सुकतावश फिर गई तो आपा कहने लगीं, 'अरे बड़ा मज़ा हुआ। वो औरतें तुम्हें घूर कर देख रही थीं न। वो मेरी दोस्त हैं। आ कर पूछने लगीं ये सीमा तो नहीं थी, पर उन के जैसी ही है। तो मैं ने बड़ा संजीदा-सा मुँह बना कर कहा, 'अब तुम ने पहचान ही लिया है तो बता देती हूँ। ये मेरी हराम की औलाद है। शादी से पहले हो गई तो क्या करती। किसी को दे दी। अब जब से इसे पता चला है, कभी-कभी मिलने आ जाती है।' आपा ने पान पर चूना लगाते हुए कहा :

'बड़ा मज़ा आया। बिना चाय पिए ही चली गईं। तुम्हारे लिए चाय मँगवाऊँ।' फिर बोलीं, 'तुम्हारी और सीमा की इतनी शक्ल मिलती है, कभी-कभी मुझे भी शुबह होता है।' फिर बताने लगीं—'जब सीमा पैदा हुई तब मैं और शाहिद मिल कर फ़िल्में बनाते थे। सीमा के लिए एक आया रख ली। पोतड़ों का ढेर शाम को धुलवाते-धुलवाते एक ख़याल आया। मैं ने सीमा के कमरे में छत के नीचे रस्सियाँ बँधवा दीं। उन के सहारे एक थान पहली रस्सी से लटकाया। एक सिरा बेबी के नीचे रहता और दूसरा दूसरी रस्सी पर जो गीला होता उसे आगे सरका दिया जाता। शाम को थान धुलाई के लिए चला जाता।' ये क़िस्सा सुन कर आपा की सास आ धमकीं। आपा कहने लगीं, 'मेरे तो औसान ख़ता हो गए। सास जैसी कोई चीज़ के बारे में मैं ने कभी सोचा न था। क्या करती आदाब किया और उन्हें उन का कमरा दिखा दिया। हमें शूटिंग पर जाना था। शाहिद तो पहले चले गए। सास नहा-धो कर आईं। उन्होंने मेरी ख़्याति तो सुन ही रखी थी। पूछा :

'तुम नाश्ता बना लेती हो।'

मैं ने कहा, 'हाँ। अंडे तल लेती हूँ। पर अब आप आ गई हैं मुझे किस बात की फ़िक्र है। अम्माँ, ये नौकर तो मुझे बहुत लूटते हैं। शाहिद को कबाब बड़े पसंद हैं। वो हमेशा कहते हैं अम्माँ जैसे कबाब कोई नहीं बना सकता। नौकर से गोश्त मँगवा लीजिएगा। आप रसोइए को हिदायत देंगी तो वो सीख भी लेगा।'

बुढ़िया ने पहली पारी में मात खा कर पैंतरा बदला और बोली, 'मैं ने सुना है तुम अपने ससुर से घूँघट नहीं निकालतीं।'

आपा बोलीं, 'अल्लाह तौबा, उन से क्यों घूँघट निकालूँ। मुझे तो बड़ी शर्म आती है।'

बुढ़िया ने ऐसे जवाब की उम्मीद न की थी। आपा ने सौ-सौ के दो नोट उन्हें देते हुए कहा :

'ये रख लीजिए, गोश्त के अलावा पता नहीं घर में और क्या कुछ नहीं है।'

बुढ़िया ने नोट अपने छालिया के बटुवे में रखे और आपा को दफ़ा हो जा की मुद्रा में देखते हुए रसोई में चली गई। ऐसी बहू से नाश्ते की उम्मीद करनी बेकार थी।

आपा खुश हो कर कहने लगीं :

'अरे, जितने दिन वो रहीं मैं उन्हें शूटिंग पर जाने से पहले रोज़ रुपए दे देती। मज़े के खाने बनने लगे। हम ने अपने सभी दोस्तों की दावतें कर दीं। अम्माँ मेरी नालायक़ी पर खूब झुँझलातीं, पर जब तक रहीं घर जन्नत बना रहा।'

आपा अपने माँ-बाप की ज़िन्दा औलादों में दस नंबर की औलाद थीं। बताती थीं।

'मेरे पैदा होते-होते माँ की बच्चों में दिलचस्पी एकदम ख़त्म हो गई थी। अम्माँ मुझ से बाक़ायदा नफ़रत करती थीं। कभी-कभी मेरी किसी कारगुज़ारी पर झल्ला कर मारतीं तो मैं भाग जाती। अक्सर मुझे पकड़ने के लिए चवन्नी का इनाम मान कर भाई लगा दिए जाते। मैं भाई को कहती, "मैं पकड़ाई में आ जाऊँगी पर तुम चवन्नी लोगे तो फिर भाग लूँगी। दो आने मुझे देने पड़ेंगे।" अम्माँ कहती, "अरे कमबख़्त, तू मर क्यूँ न गई। हाय अल्लाह, कितने अच्छे बच्चे थे जो मर गए।" अम्माँ के हर दो बरस में एक बच्चा हो जाता था। बीच में दो-तीन चले भी गए थे। उन दिनों फ़ैमिली प्लानिंग तो थी नहीं। भला हो उस बंदर का जिस ने ये काम सरअंजाम किया। अम्माँ पूरे दिनों से थीं। अपने पेट पर कटोरी रख कर वो आँगन में बैठी चने खा रही थीं। दरख़्त पर बैठे एक मोटे-ताज़े बंदर का मन भी चने खाने को हो आया। उस ने दरख़्त से माँ के पेट पर छलाँग लगाई। माँ का बच्चा चला गया और फिर उन के बच्चा न हुआ। मुझे तो अम्माँ कभी उठाती न थीं। दूध पिलाने के लिए एक गाय थी और मेरी बाजी मुझे सारा दिन उठाए-उठाए घूमती थीं। मैं चार बरस की थी जब बाजी की शादी हो गई। लंबे से सूखे से दुल्हा जिन के सेहरे की लड़ियाँ नोच लेने को जी चाह रहा था, बाजी को ले गए। वे थानेदार थे। घर भर के सब लोग मुझे चिढ़ाते थे।

बाजी के बिछुए दानेदार,
बाजी को ले गया थानेदार।

मुझे रातों में ख़्वाब आते। एक लड़की रोती हुई गलियों में घूम रही है। ये लड़की मैं होती। भाई लोग खेलकूद में मस्त रहते थे। मुझे देखते ही भगा देते। बाक़ी की बहनें एक गुच्छा-सा बना कर बैठतीं और अपने होने वाले मियाओं का ज़िक्र करतीं, मुझे तो देखते ही भगा देतीं। अब मैं बग़ैर पार्टी के थी। जिसे हिन्दी में निर्दलीय कहते हैं। मैं नौकरों के घरों में जाती। वहीं मेरी एक सहेली भी थी। बारह बरस की उम्र में उस की शादी हो गई। जब वो ससुराल चार दिन रह आई तो उस ने कहा, "चुन्नी, तुम कभी शादी मत करवाना। दूल्हा बड़ा ख़राब होता है।"

धीरे-धीरे मुझे ये समझ आने लगा कि बहनों की तरह सिर जोड़ कर फ़िज़ूल बातें सुनने से अमरूद के दरख़्त पर चढ़ना ज़्यादा फ़ायदेमंद है। घर में बैठ कर नौकरों के साथ बहस करने से बंदर का तमाशा देखना ज़्यादा अच्छा है और ब्याह के लिए तैयार हो रहे दहेज में सिर खपाने से मुर्गियों के पीछे दौड़ना ज़्यादा दिलचस्प है।

घर में कई रिश्तेदारों के भी बच्चे थे, पर मुझे कोई मुँह न लगाता था। अब्बा कलेक्टर थे। खूब बड़ी कोठियाँ रहने को मिलती थीं। मैं गुल्ली-डंडा, पतंगबाज़ी और फ़ुटबॉल खेलते-खेलते बारह बरस की हो गई। जब भाई लोग सफ़ेद घोड़ी पर चढ़ते तो मेरा मन भी करता। पर वो मुझे घोड़ी को हाथ भी न लगाने देते। एक दिन मैं जाती

हुई घोड़ी को देख कर रो रही थी। तो अब्बा आ गए। उन्होंने पूछा ये क्यूँ रो रही है। साईस ने कहा घोड़ी पर बैठना चाहती है। अब्बा ने कहा तो बिठाते क्यूँ नहीं। इस तरह हमारी घुड़सवारी शुरू हुई। अम्माँ ने सुना तो सिर पीट लिया। इस से कौन शादी करेगा।

हमारे अब्बा घर की चें-चें और दुनिया भर के रिश्तेदारों से तंग आ गए होंगे। अम्माँ ने सुना, उन्होंने एक औरत को घर बना कर दिया है और दफ़्तर से पहले उस के यहाँ जाते हैं। अब्बा काफ़ी देर से आने लगे। अम्मी ने कई कुछ किया गंडे, तावीज़, हंगामा पर कुछ न हुआ। फिर अम्माँ ने तरकीब लड़ाई। उन का घर ढुँढ़वा लिया। और एक दिन शाम को जब अब्बा वहाँ हमारी नाजायज़ अम्माँ के साथ गुलछर्रे उड़ा रहे थे, तब बच्चों से भरे दो-तीन ताँगे वहाँ जा कर रुके। हिदायत के मुताबिक़ सब भीतर गए और बिसूरने लगे।

अब्बू घर चलो।

चचा अब्बा घर चलो।

मामू जान घर चलो।

बड़े अब्बा घर चलो।

बाबा घर चलो।

नाना अब्बा घर चलो।

इस हमले का जवाब अब्बा न दे सके। और उन का ये नाजायज़ इश्क़ दो-चार नाजायज़ औलादों को पैदा किए बग़ैर ही ख़त्म हो गया।

बारह बरस की थी तब पढ़ने के नाम पर मैं ने सिर्फ़ क़ुरान ख़त्म कर लिया था। शाबाशी देने के नाम पर सब कहने लगे, "अय हये इत्ती बड़ी हो गई, अब जाके क़ुरान शरीफ़ ख़त्म किया है। इन्हीं की भानजी को देखिए पाँच बरस की हैं और माशा अल्लाह क़ुरान ख़त्म कर लिया। सीना-पिरोना सीख रही हैं।" ये मेरी बड़ी आपा की लड़की थी। आपा बेवा हो गई थीं। उस एक दिन घर में तार आने पर कुहराम मच गया था। मैं ने सोचा बाजी का दूल्हा मरा है। अब तो बाजी वापस आ जाएँगी। पर पता चला ये बड़ी बहिन के शौहर थे। बड़ा गुस्सा आया। अगर अल्लाहमियाँ को मारना ही था तो क्या वो बाजी वाले दूल्हे को न मार सकते थे ताकि बाजी लौट आतीं और मुझे ख़्वाबों में सड़क पर जाती वो रोती हुई लावारिस बच्ची न दिखाई देती। पर अल्लाहमियाँ को मुझ से क्या?

अब मैं बारह की हो गई थी। अम्माँ को मेरा ध्यान आया तो उन्होंने मुझे पुराने ग़रारे की गोट निकाल कर दी और सुई-धागा थमा कर कहा, "इस का कमरबंद बनाओ, हाथ खुल जाएगा।" जब तक अम्माँ सिर पर खड़ी रहीं, मैं सीने की कोशिश करती रही। एक टाँका दूँ तो दम घुटता-सा लगे। मुर्गियाँ दौड़ाते या पेड़ों पर चढ़ते भाई दिखाई दें तो हाथ में सुई चुभ जाए। अम्माँ को घर में बहुत काम होते थे। उन के जाते ही मैं ने गोट कहीं रजाइयों में घुसा दी जिस का सर्दियों तक कम से कम नज़र आने का इमकान न था।'

एक दिन मैं गई तो आपा पकौड़ियाँ तल रही थीं। कहने लगीं, 'चखो, बड़े मज़े की बनी हैं। दो-तीन दिन का कमबख़्त दही सड़ रिया था। मैं ने सोचा कढ़ी में ये चल जाएगा। अब सोच रही हूँ पकौड़ी ऐसे ही खा लें। क्यूँ कैसी हैं।' मैं ने पकौड़ी चख कर कहा, 'लाजवाब बनी हैं। आपने क्या-क्या डाला।' बोलीं, 'जो मसाला दिखा डाल दिया। भई उजला से भी पूछा था।' मैं ने पूछा, 'आपा आप ने खाना बनाना तो सीखा ही होगा।'

'हाँ, अम्माँ ने कहा तो था। पर मैं ने कहा था, "मैं न सीखूँगी।" अम्माँ ने कहा था, "कमबख़्त, चर्ब जबान क्यूँ न सीखोगी।" मैं ने कहा, "शहनाज भाई क्यूँ नहीं सीखते"।'

"उस की बीवी आएगी तो बनाएगी।" अम्माँ ने कहा।

"उन की बीबी मर गई या भाग गई तो कौन बनाएगा।" शहनाज़ भाई रोने लग गए। उन्होंने कहा, "मेरी बीवी क्यूँ भागेगी।" उस का रोना सुन कर अब्बा आ गए। सारी बात सुन कर उन्होंने मुझे बड़े प्यार से कहा, "खाना तो औरतें बनाती ही हैं। ससुराल जा कर दूल्हे को क्या खिलाओगी।" मैं ने जवाब दिया :

"अगर दूल्हा ग़रीब हुआ तो खिचड़ी बना कर खा लेंगे और अगर अमीर हुआ तो बावर्ची बनाएगा।".

अब्बा ने तभी समझ लिया। इस भूतनी का कोई कुछ न बिगाड़ सकेगा। उन्होंने प्यार से पूछा, "फ़िर तुम क्या करना चाहती हो।" मैं ने कहा, "मैं पढ़ूँगी।" तब मेरे मामू पूरा एक महीना मुझे पढ़ाते रहे। उस एक महीने में मैं ने इतना पढ़ा कि मैं स्कूल में चौथी क्लास में ले ली गई। उस के बाद भी पढ़ाई की वही रफ़्तार रही और मैं डबल प्रमोशन पा कर छठी में आ गई। मैं सोचती, बेपढ़ी औरत घर बैठ कर मियाँ से बेवकूफ़, जाहिल के ख़िताब पाएगी और फिर उस के जाने पर उसी का इंतज़ार शुरू कर देगी। चाहे कुछ हो जाए मैं जितना हो सके पढ़ूँगी और किसी मियाँ-वियाँ से दब कर न रहूँगी।'

मुझे नहीं लगता आपा को शायरी समझ में आती है। कभी-कभी मैं उन्हें शेर सुना कर छेड़ती हूँ। मैं ने जड़ दिया।

फिर उसी बेवफ़ा पे मरते हैं।
फिर वही ज़िन्दगी हमारी है।

तो घूर कर देखा । फिर बोलीं, 'क्या आजकल बेवफ़ा हो रिया है?' हम दोनों हँस पड़े। मैं ने पूछा, 'आपा कभी मुहब्बत-उब्बत भी की है कि नहीं।'

"अरे मुहब्बत की बात मत पूछो। शादी तो न करना चाहती थी पर मुहब्बत से क्या परहेज़। बारह-तेरह बरस की होते न होते पड़ोस का ही एक लड़का पसंद आ गया। ये साहेब 26 या 27 के रहे होंगे। हमारी कोठी के पास ही उन का बँगला था। वो रोज़ सवेरे घुड़सवारी के लिए जाते थे। तब मैं पाबंदी से उन्हें देखा करती थी। उन्होंने कभी सपने में भी न सोचा होगा ये चुन्नी-मुन्नी उन पर जी-जान से फ़िदा हैं। वो बेहद हसीन थे। पर मेरी तरफ़ क्यूँ देखते। ये हमारा पहला इश्क़ था। फिर कई एक हुए पर इस की याद हमेशा बचपन को और ख़ूबसूरत बनाती रही। एक बार शाहिद के सैट पर एक्सट्रा भरती हो रहे थे। एक सूखे सड़े बूढ़े ने आ कर चुन्नी कह के मुझे गले से लगा लिया। जब मुझे पता चला ये मेरी पहली मुहब्बत के शहज़ादे हैं तो मैं ने सोचा, अरे तीस साल पहले गले से लगाया होता तो क्या न हो गया होता। तब तो हमारा नोटिस न लिया। हम यूँ ही अपनी चुन्नी-मुन्नी जान तुम पर छिड़कते रहे। मैं ने कहा :

"अरे, कमबख़्त तुम ने मेरा बचपन बदसूरत कर दिया।"

मैं ने पूछा, 'क्या उन के बाद कोई अच्छा नहीं लगा।'

आपा तपाक से बोलीं, 'क्यूँ नहीं; कई लड़के अच्छे लगे। जो बहुत हैंडसम व लायक़ लड़के थे, उन पर तो लड़कियाँ ही मरती थीं। जो सूखे सड़ियल कुतरे से लड़के थे वो लड़कियों के पीछे भागते थे। एक क्रिश्चियन लड़का था। उस पर कई लड़कियाँ फ़िदा थीं। हमारी भी उस से दोस्ती थी। हमारे कॉलेज में सिर्फ़ लड़कियाँ पढ़ती थीं। जब कभी कोई लीडर आता जैसे नेहरू, मौलाना आज़ाद, विजयलक्ष्मी पंडित तो उन के भाषण यूनिवर्सिटी में होते थे। वहाँ हॉल में तो लड़के शुरफ़ा की तरह बैठे रहते पर बाहर आते ही आवारा हो जाते। सामने की पटरी पर चलते हुए घटिया-घटिया शेर उछालते। बिलावज़ह खी-खी करते या एक-दूसरे पर गिरते पड़ते। लड़कियाँ नीची नज़र किए मुश्किल से हॉस्टल तक पहुँचतीं। मुझे इस ड्रामे से बड़ी कोफ़्त होती थी। मैं कहती ये लड़के हम से दोस्ती करना चाहते हैं, खा तो नहीं जाएँगे। पर कोई लड़की मुझ से सहमत न होती।

एक दिन किसी लीडर का भाषण सुन कर जब हम अपनी-अपनी पटरियों पर चल रहे थे तो एक लड़के ने शेर पढ़ा। मैं ने अपनी पटरी से कहा, "क्यूँ भई ये जिगर का शेर है क्या?" वो इधर-उधर देखने लगा। सोचता रहा आवाज़ तो जनाना है पर आई कहाँ से। मुझे बड़ा मज़ा आ रहा था। मैं ने फिर कहा :

"अरे भई ये दाग़ का शेर है। ये क्या अँधेरे में गोटी फेंक रहे हो।" लड़के ने मुझे देखा और खिसियाना-सा हो गया। मैं ने लड़कियों को कहा, "देखो इस ने मुझे खाया तो नहीं। ये लड़के हम से दोस्ती करना चाहते हैं।" फिर तो हमारी ऐसी दोस्ती हुई कि उन के घरों से आमों की टोकरियाँ आतीं तो हमारा भी हिस्सा रहता। उस्तानियाँ जलती रहतीं।'

एक दिन आपा ने भिन्डी बाज़ार का क़िस्सा सुनाया। भिन्डी बाज़ार बंबई का रेड लाइट एरिया है। सीमा बड़ी हुई तो उन को फूलों वाली परांदी का शौक़ चर्राया। आपा वहाँ सड़क पर परांदी ख़रीद कर टैक्सी का इंतज़ार कर रही थीं तो एक व्यक्ति मोटर रोक कर, मोटर से उतरा और इन के पास जा कर बोला, 'चलें', इन्होंने कहा, 'चलो।' ये गाड़ी में उस के साथ बैठ गईं। जब ज़रा-सा आगे आए तो उस ने पूछा, 'किसी होटल में चलें।' इन्होंने कहा, 'होटल में क्यूँ, मेरे घर चलिए। आप के फ़िज़ूल में पैसे ख़र्च होंगे।' वो खुश हो गया। घर का रास्ता बता कर ये घर तक आ पहुँचीं। दरवाज़ा खुला तो ड्राइंगरूम में ताश खेल रहे लोगों में अली सरदार जाफ़री, मजरूह सुल्तानपुरी, साहिर लुधियानवी, शाहिद और दो-तीन लोग थे। वो व्यक्ति कुछ चौंका, कुछ मुत्तासिर हुआ। उस ने सोचा, ऊँची क्लास की लगती है। इन्होंने उसे बैठने को कहा तो शाहिद साहेब बोले, 'इस्मत, फलाँ का फ़ोन आया था।' ओह! तो ये इस्मत चुगताई होनी चाहिए। बिचारा पढ़ा-लिखा भी था। उस की घिग्घी बँध गई। उस ने घबरा कर कहा :

'मुझे इजाज़त दीजिए, मैं चलूँगा।'

आपा ने कहा, 'नहीं! आप ने मुझे यहाँ तक छोड़ने की तकलीफ़ की है। चाय पिए बग़ैर तो मैं आप को जाने न दूँगी। अभी कबाब तले जाते हैं। खा कर जाइए।'

वो खुद तला जा रहा था। उस ने कहा, 'मुझे कहीं जाना है।'

बाद में इन्होंने सब को क़िस्सा सुनाया तो ताश की तौबा-तौबा हो गई। आपा ने कहा, 'अरे उस ग़रीब का ज़्यादा क़ुसूर न था। मैं उन दिनों अच्छी ख़ासी भिन्डी बाज़ार वाली लगती थी।

असल में काले बाल मुझे सूट न करते थे। मैं ने हाइड्रोजन परऑक्साइड और न जाने क्या-क्या से धुलवा कर बाल सफ़ेद किए तो कुछ सूरत निकली।'

आपा ने हँसते-हँसते कहा, 'पान खाओगी।' मैं ने कहा, 'माफ़ कीजिए।'

उस दिन उन के नवासे आशिष की बारहवीं सालगिरह थी। उस ने स्कूल से आ कर आपा को गले लगा कर चूमा और कहा, 'नानू! आई एम ट्वंटीवन।' नानू 71 की थीं। बोलीं, 'आई एम सेवंटीन।'

आशिष ने कहा, 'आप मेरी पहली गर्लफ्रैंड हैं।' उस के जाते ही मुझ से बोलीं, 'तुम्हारी लौंडिया भी पाँच बरस की हो रही है। भई मुझे तो डर लगता है इस बार आशिष को उस से राखी बँधवा लेना।'

आपा के घर में सभी त्यौहार मनाए जाते हैं। कहने लगीं, 'बचपन में हम लोगों ने एक बार ज़िद की। अम्माँ हम भी दिवाली मनाएँगे।' अम्माँ ने दिए जलवा दिए। अब्बा लौटे तो दीपकमाला देख कर उन्होंने मज़ाक किया।

"मुसलमानों के घर में लक्ष्मी कैसे आएगी?" हमारी सीधी-साधी अम्माँ ने कहा।

"अये वो तो दिए देख कर चली आएँगी। उन बिचारियों को क्या पता ये मुसलमान का घर है"।'

एक बार जन्माष्टमी में आपा साथ के घर में कृष्ण की झाँकी देखने गईं तो झूले में सजे कन्हैया की धज देख

कर ललचा गईं। जब आरती हो रही थी तब धूप और अगरबत्ती के धुँए की ओट में धीरे से कन्हैया को उठा कर फ़्रॉक में छिपा लिया और घर आ गईं। तब तक कन्हैया की चोरी का हल्ला मच चुका था। ये छोटी-सी थीं। डर के मारे रजाइयों की कोठरी में जा कर नाली में उन्हें रख दिया। सब कहें चुन्नी पालने पर झुक कर कुछ उठा रही थी। इन्होंने कहा मैं ने तो फूल लिया था। अम्माँ ने इन्हें ख़ूब पीटा पर इन्होंने क़बूल नहीं किया। एक दिन माँ ने रजाइयों के कमरे की धुलाई करवाई तो पानी न जाए। किसी ने हाथ डाला तो ठंड से काँपते कन्हैया हाथ लगे। अम्माँ ने उन्हें नहला-धुला कर पड़ोस के घर भेज दिया। तो आपा वहाँ जा कर लड़ीं और कहने लगीं, 'ये मेरे कन्हैया हैं। ये मैं न दूँगी।' वही कन्हैया आपा के कमरे में विराज रहे हैं। तब से सब इन्हें चोट्टी चुन्नी कहने लगे। पर कन्हैया इन्हीं के पास रहे। अम्माँ कहतीं, 'अरे चार बच्चे मर गए वो कितने अच्छे थे। अल्लाह! ये क्यूँ नहीं मरी। इस कमबख़्त की उन्हें भी कोई ज़रूरत नहीं है।'

आपा का कहानी लिखने का तरीक़ा भी निराला है। उन के पलंग के हुजूम में उन की कहानियाँ साफ़-सुथरे लकीरों वाले काग़ज़ों पर सुस्ताती रहती हैं। पन्नों पर एक साइज़ के मोतियों की तरह क़लम की नोक से टपकते लफ़्ज नीले मोतियों के हारों जैसे सलीक़े से रखे रहते। कहानी शुरू करने के बाद पूरी कहानी सुना देती थीं। कहाँ से मिली, कैसे उसे लपेटा, क्या फेर-बदल किया—सब बताती हैं। उन के जाने के बाद वो कहानियाँ अधूरी इमारतों की तरह खड़ी हैं। उन्हें कोई नहीं बना सकता। उन की 'बच्छो फूफी' कहानी पढ़ते-पढ़ते आज भी मुझे उन का बताने का अंदाज़ तिल-तिल कर याद आता है। ये *बच्छो फूफी* उन की अपनी ही फूफी थी।

जब राजेन्द्र सिंह बेदी बीमार हुए तब मैं कभी-कभी आपा को ले कर उन के पास जाती थी। बेदी साहेब को पेट का कैंसर था। उन के अच्छे वक़्तों का कोई भी दोस्त उन्हें मिलने न आता था। एक दिन हम गए तो वो उस दिन चारपाई से गिर पड़े थे। तबियत बड़ी ख़राब थी। आपा को देखा तो रो कर बोले, 'अब मर ही जाऊँ तो अच्छा है।' आपा कहने लगीं, 'अरे जी के ही तुम ने क्या कर लिया जो मर के कर लोगे। पड़े रहो जहाँ हो।' इंतेहा दर्द में भी बेदी साहेब हँसने लगे।

जब हम बंबई छोड़ कर दिल्ली आ रहे थे तो वो बड़ी दुखी थीं। 1984 में जब दंगे हुए तो सीमा का फ़ोन आया। उस ने कहा, 'मम्मी सारा दिन घर में घूमती हुई आप को गाली देती हैं। मेरा जी जलाने को दिल्ली उस सरदार को ले कर चली गई हैं।' मैं ने कहा, 'हम ज़िन्दा हैं। फ़िक्र मत करो।' फिर सरदारजी बंबई उन को मिलने गए तो इन को देखते ही गले लग कर रो पड़ीं। फिर बोलीं, 'अरे सरदार शुक्र है, तुम ठीक हो। मैं सोचती थी उन्होंने पता नहीं तुम्हें कैसे-कैसे काटा होगा।'

दिल्ली में आते ही मेरी दोस्त अजीत कौर को साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला तो मैं ने उन के सम्मान में घर में पार्टी की। इस्मत आपा यहीं थीं। शिवानी दीदी भी दिल्ली में थीं। दिल्ली की सभी लेखिकाएँ आई थीं। बानगी के तौर पर कुछ पुरुष भी थे। मैं नहीं जानती थी आपा और ऐनी आपा याने कुर्रतुलएन हैदर के बीच किसी वजह से बातचीत नहीं है। ऐनी आपा अपनी एक दोस्त के साथ आई थीं। एक तरफ़ बैठ गईं। आपा ने उन के पास जा कर कहा, 'ऐ चुड़ैल मेरे साथ बात करती है या नहीं।' फिर दोनों गंगा-जमना की तरह घुल-मिल गईं। उन का बरसों का याराना था। आज कितने लोग ऐसे हैं। जो रूठे हुए को इस हक़ से मनाते हैं।

आपा बता रही थीं—'जब मैं 9वीं क्लास में थी तो मेरे लिए पैग़ाम आने शुरू हो गए। एक लड़का डिप्टी कलक्टर था। माँ ने झट फ़ैसला कर लिया, अपनी भूतनी मैं इसी को दूँगी। दर्ज़ी, सुनार बिठा दिए गए। एक दिन मैं ने स्कूल से आ कर घर में चहल-पहल देखी तो मुझे खटका-सा हुआ। सुराग लगाने पर पता चला ये मेरी ही शादी का हंगामा है। मैं ने एलान कर दिया मैं शादी नहीं करूँगी। माँ ने कहा, "पागल है।" अब्बा ने कहा, "शादी नहीं करेगी

तो क्या करेगी।'' मैं ने कहा, ''मैं पढ़ूँगी।'' अब्बा ने कहा, ''ससुराल जा कर पढ़ना।'' ''वहाँ कौन पढ़ता है'', आपा ने कहा, ''सब बच्चे पैदा करते हैं।'' आख़िर सारी रात सोचने पर मैं ने अपने मामूज़ाद भाई को चिट्ठी लिखी जो बंबई में डॉक्टरी की पढ़ाई कर रहे थे। मैं ने गिड़गिड़ा कर लिखा। इस सिचुएशन से आप ही मुझे निजात दिला सकते हैं। आप सिर्फ़ मामूजान को ख़त लिख दीजिए। मैं आप को पसंद हूँ। बस मेरी शादी रुक जाएगी। मैं क़ुरानशरीफ़ की, अल्लाहपाक की और अपनी पढ़ाई की क़सम खा कर कहती हूँ। मैं आप से कभी शादी न करूँगी। भाई मेरी चाल में फँस गए। चार-पाँच दिन बाद जब अम्माँ सफ़ेदी वालों से मोल भाव करवा रही थीं तब मामूजान हड़बड़ाते हुए आए और बोले :

''शौक़त इसे पसंद करता है। तुम लड़की बाहर नहीं दे सकतीं। ये देखो चिट्ठी।'' अम्माँ की बाछें खिल गईं। अधसिले कपड़े और पिघले हुए सोने को उठा कर दर्जी व सुनार चले गए। शादी रुक गई।'

मैं ने पूछा, 'आप ने क्या बचपन में कभी बुर्क़ा पहना?'

'अरे मैं तो कब का छोड़ चुकी थी। कभी बड़ी ज़रूरत होती तो माँगे हुए बुर्क़े से काम चला लेती थी। फिर तो खद्दर पहनना शुरू कर दिया।' हँस कर आपा ने कहा, 'खद्दर का क़िस्सा भी सुनो। गाँधीजी लखनऊ आए। हम कुछ लड़कियाँ उन से मिलने गईं। हम ने ऑटोग्राफ़ माँगा तो गाँधी बोले, जब तुम खद्दर पहन कर आओगी तब ऑटोग्राफ़ दूँगा। शाम को हमने 2-2 रुपए में खद्दर की धोतियाँ ख़रीद लीं। अगले दिन हम तीस लड़कियाँ बदबूदार, खुरदरी क़लफ़ लगी खद्दर की धोतियाँ पहने गाँधीजी के दरबार में हाज़िर हो गईं। गाँधीजी खुश। फिर उन्होंने हम सब को ऑटोग्राफ़ दिए। और सुनो, फिर कैसे खद्दर की धोती के चक्कर में गिरफ़्तार होते-होते बचे। तब मैं नौकरी करने लगी थी। जोधपुर अम्माँ से मिलने जा रही थी। दिन तो थर्ड क्लास में कटा, रात को फ़र्स्ट क्लास की बुकिंग कर ली। मैं ने सोचा आराम से सोऊँगी। जोधपुर स्टेशन पर जब मैं चकाचक सफ़ेद धोती पहने, चश्मा लगाए बैग झुलाती डिब्बे से उतरी तो स्वागत के लिए पुलिस खड़ी थी। उन्हें तार आया था कांग्रेस की कोई बहुत बड़ी लीडर आ रही हैं। इत्तिफ़ाक से सब-इंस्पेक्टर मेरे खालू थे। लीडरानी की जगह मुझे देख कर चकराए। ''अरे चुन्नी तू? ये तो मेरी भानजी है।'' वहाँ तो उन्होंने कुछ नहीं कहा, पर घर के भीतर घुसते ही शुरू हो गए।

''बेशरम, बत्तमीज़ ये क्या तमाशा है।'' मैं ने कहा, ''कौन-सा तमाशा, मैं ने तो ख़ाली खद्दर की साड़ी पहनी थी।'' उन दिनों जोधपुर में हैडमिस्ट्रैस की जगह ख़ाली थी। मैं जोधपुर में मौजूद बी.ए., बी.टी. पास पहली मुसलमान लड़की थी। लिहाज़ा हक़ माँगता है मुसलमान का नारा बुलंद हुआ और वो नौकरी मुझे मिल गई। स्कूल जाने लगी तो मैं ने चादर ओढ़ ली। मामू बोले, ''बुर्क़ा पहन कर जाओ।'' मैं ने सोचा, मज़ाक कर रहे हैं। मैं ने चादर भी फेंक दी और कहा, ''बुर्क़ा पहनने को कहा तो रिज़ाइन कर दूँगी।'' मेरी ज़िद्द से सभी वाकिफ़ थे। कोई कुछ न बोला। जब अब्बा ने मैट्रिक के बाद आगे पढ़ाने से इंकार किया था, तब मैं ने उन्हें ये कह कर ब्लैकमेल किया था कि अगर आप ने मुझे नहीं पढ़ाया तो मैं मिशन में जा कर क्रिश्चियन हो जाऊँगी। अब्बा ने पूछा था, वहाँ कैसे जाओगी। मैं ने कहा था, रेल की पटरी के साथ-साथ चली जाऊँगी। रास्ता मुझे मालूम है। वे लोग फ़ौरन मुझे क्रिश्चियन बना कर स्कूल में भर्ती कर लेंगे।

जब अब्बा ने देखा मैं सिर्फ़ पढ़ना चाहती हूँ। शादी की मेरी कोई सलाह नहीं है। तब उन्होंने आगरे में एक छोटा-सा घर मेरे नाम कर दिया। उस वक़्त तीन-चार हज़ार का होगा। उस में उन के घोड़े रखे जाते थे। ये घर मैं ने अपने भाई की हिफ़ाजत में रखा हुआ था। सोचा, घर बेच कर विलायत जाया जा सकता है। तब बहुत बढ़िया नौक़री मिल जाएगी। विलायत पास कहलाऊँगी। मैं ने आगरा जा कर भाई से कहा, ''हमारा घर बिकवा दीजिए। मैं विलायत जाना चाह रही हूँ।'' भाई कहने लगे, ''कौन-सा घर? वो घोड़ी वाला घर। वो तो तुम्हारे जाली दस्तख़त

करके हम कब का बेच कर खा-पी चुके। जो थोड़े पैसे बचे, उस से तुम्हारी भाभी को गहना बनवा दिया।'' भाभी वहीं पर थीं। झट से बोलीं, ''अए हए हमें बीच में मत घसीटो। हमें क्या मालूम तुम पैसा कहाँ से लाए हो।''

मैं बड़ी खफ़ा हुई। मैं ने संजीदगी से कहा, ''भाई जान आप पर केस चल सकता है।'' भाई बोले, ''ज़रूर, पर पैसे तुम्हें तब भी न मिलेंगे।'' मैं ने उन से कहा, ''आप वकील हैं, बताइए कैसे-कैसे करें।'' भाई बोले, ''हम तुम्हारा केस लड़ सकते हैं। फ़ीस निकालो।'' फिर उन्होंने पूछा, ''विलायत जाने को बड़ा मन कर रहा है।'' मैं ने कहा, ''कर तो रहा है।'' उन्होंने कहा, ''तैरती हुई चली जाओ।'' फिर उन्होंने समंदर का रास्ता समझाना शुरू कर दिया। यहाँ दो दिन रुकना। फिर तैरना। फिर यहाँ रुकना। मेरी भावज जो बड़ी दिलचस्पी से सारी गुफ़्तगू सुन रही थीं, बोलीं, ''ऐ जी इन के कपड़ों का क्या होगा।'' भाई कहने लगे, ''मोमजामे में सींकर पीठ पर बाँध लेंगी।'' भाभी ने दूसरा सवाल उठाया, ''समंदर में तो बड़ी-बड़ी मछलियाँ होंगी, इन को खा नहीं जाएँगी।'' भाई बोले, ''एक लंबा बाँस अपने पास रखना। उस से मछलियाँ हटाती रहना।'' वहीं हमारे भतीजे बैठे थे। वो थोड़ा-सा हकलाते थे। बोले, ''फू फू फू फू, हम भी जाएँगे'', और उन के बीच में पड़ने से यात्रा टल गई।

शाहिद साहेब से सब से पहले अलीगढ़ में मेरी मुलाक़ात हुई थी। वे एम.ए. कर रहे थे। मैं बी.टी.। फिर एकाध बार दिल्ली में सरसरी मुलाक़ात हुई। फिर वो बंबई में बॉम्बे टॉकीज़ में कहानी और डॉयलॉग लिखने के लिए नौकर हो गए। पौने दो सौ तनख़्वाह पाते थे। जब मैं स्कूल इंस्पेक्टर हो कर बंबई आई और अपने बड़े भाई साहेब के पास रहने लगी, तब फिर शाहिद से मुलाक़ात हुई। शाहिद ने हमारे घर आना-जाना शुरू कर दिया। मैं भी उन के साथ घूमने निकल जाती थी। हम लोग पिक्चरें देखते। चौपाटी पर नंगे पाँव घूमते और दूसरे लेखक मित्रों से मिलते। एक बार शाहिद मेरी कहानी बिकवाने बॉम्बे टॉकीज़ गए। भाई साहब को पता चल गया। वे सोचते थे मेरी बहन साढ़े तीन सौ तनख़्वाह पाती है। इस की शादी किसी डेढ़ हज़ार वाले से करूँगा। और मैं पौने दो सौ वाले के साथ घूम रही थी। भाई ने रोक-टोक की तो मैं हॉस्टल में रहने लगी। तब भाई ने उन्हीं मामूज़ाद भाई को पटाया कि तुम अभी तक कुँआरे हो, इस्मत से पूछो। शायद शादी के लिए हाँ कर दे। वे एक दिन घर आए। मुझे कहने लगे, ''चौपाटी चलोगी?'' मैं ने कहा, ''चलिए।'' मुझे कुछ ताज्जुब तो हुआ पर मैं चली गई। चौपाटी पर वो घबराए-से घूमते रहे। फिर कुछ संकोच से बोले, ''भाई ने ऐसा कहा है, अगर तुम्हारी मर्ज़ी हो तो हम शादी कर लें।'' मैं ने कहा, ''तौबा-तौबा, तुम ने ज़िन्दगी में मेरे साथ इतनी भलाई की है। मैं तुम्हारे साथ ये दुश्मनी क्यूँ मोल लूँ।'' फिर मैं ने संजीदगी से कहा, ''तुम्हारे लिए जो बीबी मेरे ज़ेहन में है वो मैं नहीं हूँ। एकदम हसीन भोलीभाली लड़की है वो।'' और हम अच्छे दोस्तों की तरह घर वापस आ गए।' मैं ने पूछा, 'तो क्या शाहिद साहब से आप शादी के लिए तैयार थीं?' 'अरे नहीं, मैं ने शाहिद को बहुत समझाया था। शाहिद से हमारी दोस्ती थी। ये शादी तो घपले में हो गई। अब्बास ने अपने घर के पास एक फ़्लैट ले लिया। मोहसिन एक काज़ी पकड़ लाए और शादी हो गई। पर ऐसे नहीं हैं। मैं ने शाहिद को बहुत समझाया था कि मैं बड़े गड़बड़ क़िस्म की औरत हूँ। बाद में पछताओगे। मैं ने अब तक जंज़ीरें काटी हैं। अब किसी जंज़ीर में जकड़ कर न रह सकूँगी। *फ़र्माबर्दार पतिव्रता औरत होना मुझ पर सजता नहीं है।* पर शाहिद न माने। उन्होंने दोस्तों में डींग ठोक रखी थी। मैं इस्मत से शादी करूँगा। पर इसे मज़ाक समझ कर सब हँस दिए। शाहिद ने कहा, ''कोई यक़ीन नहीं करता शादी तो करनी ही पड़ेगी।'' शादी से एक दिन पहले भी मैं ने आख़िरी बार समझाते हुए कहा था, ''अब भी वक़्त है, मान जाओ। हम अच्छे दोस्त बने रहेंगे।'' वो फिर भी न माने। मैं ने कहा, ''कभी याद करोगे किसी दोस्त ने अच्छी सलाह दी थी, पर तुम ने न मानी।'' शादी के बाद भी मैं ने कहा था, ''भई ज़बरदस्ती नहीं है, न निभे तो तलाक़ तो हो ही सकता है''।' फिर वो हँसी, कहने लगीं, 'शाहिद का ख़्याल था अगर वो कभी मुझे तलाक़ देंगे तो सब समझेंगे, इस्मत

इसे छोड़ कर चली गई।'

मैं ने डरते-डरते पूछा, 'क्या भाई आप की शादी में आए थे।' 'अरे उन्होंने तो मरते दम तक हमारी शक्ल न देखी। हाँ, अम्माँ को मालूम हुआ तो उन्होंने छोटे भाई को बंबई भेजा, कहा—देख आओ कम्बख़्त वहाँ क्या कर रही है। छह फुट तीन इंच लंबे मेरे भाई जब शाहिद से दुआ सलाम कर चुके तो मुझे एक तरफ़ ले जा कर कहा, ये क्या कर रही हो। इतना भोला मासूम-सा लड़का है, इस से तुम शादी करोगी। दिमाग़ चल गया है क्या! मैं ने बड़ी मासूमियत से कहा, मैं क्या करूँ, मान ही नहीं रहा है। मैं ने तो काफ़ी समझाया। अब तुम कोशिश कर देखो।'

शाहिद को अच्छे दो पैन ख़रीद कर मुझे देने का बड़ा शौक़ था। किताबें ख़रीदने की लत थी। मेरे पास आज तक उन्हीं के लाए पैन हैं। आदमी औरत को पैन दे सकता है, मुहब्बत भी करता है, इज़्ज़त भी मौक़ा लगने पर दे देगा, पर उस का दोस्त नहीं बनता। आपा के पलंग के पीछे दीवार पर एक सूप पड़ा था। उस पर वो कन्हैया भी थे जो उन्होंने चुराए थे। गुरु नानकदेव जी की तसवीर भी थी। ईसा मसीह की भी और छोटी-छोटी चीज़ें वो सब मज़हबों को मुहज़्ज़ब होने का एक ज़रिया समझती थीं। कहती थीं, हसन हुसैन की शहादत ज़ुल्म के ख़िलाफ़ जंग थी। वो फ़िरकापरस्त न थीं। एक इंसान थी। बाबर के वंशज़ों में से थीं। उन के ताया-चाचा सब फ़ारसी में बात करते थे। ये बताते हुए वो कहतीं थीं, वो सब लोग माज़ी में जीते थे। कम्युनिज़्म में उन्हें कोई ग़लती नज़र न आती थी। लेखकों को बहुत प्यार करती थीं। भारतीजी व कमलेश्वरजी के साथ उन की बहसें ख़ूब ज़ोरदार होतीं, पर उन्हें बहुत प्यार भी करती थीं। एक दिन इन लोगों ने शरारत से पूछा, 'अगर बंबई में भूचाल आया तो आप क्या करेंगी।' उन्होंने कहा, 'तुम्हें और कमलेश्वर को फ़ोन करूँगी। मुझे अपने दोस्तों के सिवाय कोई नज़र नहीं आता। तुम क्या समझते हो, मैं ख़ुदा के आगे गिड़गिड़ाऊँगी।'

एक बार बंबई में हम ने अपने घर में गुरुग्रंथ साहब का पाठ रखा था। वो बाक़ायदा आती रहीं। सुनती रहीं। फिर इन को कहने लगीं, 'ये क्या क़ुरानख़ानी करवा रहे हो। इस से क्या तुम्हारे घर का वातावरण साफ़ हो जाएगा?' वो साँप के बारे में कहतीं, 'हिन्दोस्तान ऐसा मुल्क है, जहाँ साँप की भी पूजा की जाती है।'

सरदारजी उन्हें बहुत प्यार भी करते थे, उन की बहुत इज़्ज़त भी करते थे। एक बार राजबेदी के घर भारतीजी से बात करते हुए हारती नज़र आईं तो मेरे पति उन के सामने घुटने मोड़ कर बैठ गए। इन्हें देख कर बोलीं।

'ये क्या कव्वालों की तरह बैठा है सीधा बैठ और बात कर।'

एक बार कहने लगीं, 'रूस में लेखकों का डेलीगेशन जाना था। रातों-रात कमेटियाँ बन गईं। जाने वाले लेखकों के नाम की लिस्टें तैयार। हम भी चले गए।' मेरे पति ने पूछा, 'आपा! हम ने पढ़ा है लिहाफ़ को ले कर आप पर मुक़द्दमा भी चला था। वो बड़े प्यार से माज़ी में गोता लगाते हुए कहने लगीं, 'अरे मंटो बड़ा प्यारा इंसान था। हमारी उस की बड़ी दोस्ती थी। शाहिद जलते थे। हाँ, जब लिहाफ़ को ले कर लाहौर में मुक़द्दमा चला था। हम सब लोग लाहौर गए। एक पिकनिक जैसा माहौल हो गया। मुक़द्दमा कहाँ घुस गया, पता ही न चला। अदालत से आ कर हम दोनों ने अनारकली में ख़ूब जूते ख़रीदे।

जब मैं बंबई अस्पताल में पड़ी थी, तो एक दिन वो आईं। मैं ने उन्हें उतना चिन्तित कभी नहीं देखा। तब मुझे डॉक्टरों ने बोन सिंडरम बताया था और वो टाटा हस्पताल में मुझे ढूँढ़ कर आ रही थीं। आते ही बोलीं, 'ओ बेटी! मैं टाटा अस्पताल का एक-एक कमरा देख आई, अब सीमा यहाँ छोड़ गई है।' उन के चेहरे से वो ख़ुशी, वो मस्तानापन ख़त्म हो चुका था।

आख़िरी बार मैं उन्हें जब मिली, तब मैं बंबई में चैक-अप करवाने गई थी। मैं उन के घर में धीरे से घुसी।

वो संतरे की फाँकें अपनी गोद में रख कर खा रही थीं। मैं सामने जा कर खड़ी हो गई। उन्होंने देखा, उठ खड़ी हुईं। संतरे की फाँकें फूलों की तरह उन के क़दमों पर बिछ गईं। गले लगा कर रोते हुए बोलीं :

'अरे मेरी गुड़िया, तुम कहाँ थीं?' फिर बचपन की कितनी बातें दोहराती रहीं। मेरा मन हुआ इन्हें दिल्ली ले चलूँ। पर मैं तो अभी उन की देखभाल के क़ाबिल न थी। फिर दो महीने बाद ही उन के जाने की ख़बर आई। मैं ने सीमा को फ़ोन किया तो उस ने कहा :

'तीन-चार दिन पहले मैं ज़बरदस्ती दवाई पिला रही थी तो कहने लगीं—मैं दिल्ली पद्मा के पास चली जाऊँगी। ज़ोर-ज़बरदस्ती मत करो।' मैं ने सीमा को रोक कर कहा, 'तुम ने बताया होता तो मैं तुरंत बंबई आ जाती।' इत्तिफ़ाक से उन दिनों मेरे पति बंबई में ही थे। सीमा ने आपा की वसीयत के मुताबिक़ उन का दाह-संस्कार विद्युत शव-गृह में करवाया। इतनी बड़ी अदीबा, इतनी अच्छी दोस्त, इतनी बढ़िया इंसान के जनाज़े में शामिल होने वालों में डॉ. धर्मवीर भारती, मेरे पति सुरिन्दर सिंह, नौटियाल और विश्वनाथ सचदेव के अलावा उन की बेटियाँ और नवासे के अलावा कोई न था। जो लोग आपा की ज़िन्दगी में उन के आसपास मँडराने में फ़ख्र समझते थे, उन में से कोई बीमार था, कोई शहर से बाहर था, किसी की शूटिंग थी। किसी ने डॉयलॉग लिखने थे।

आपा की वसीयत के मुताबिक़ सीमा ने गेट-वे ऑफ़ इंडिया में भीतर समंदर में जा कर एक कश्ती पर उन के फूल रखे और उन के नवासे ने उन के फूल समंदर में प्रवाहित कर दिए। आपा कहती थीं बड़ा मज़ा आएगा। मैं फिर दुनिया में आऊँगी, फिर अपने दोस्तों से मिलूँगी। फिर, फिर, फिर। फिर महफ़िलें होंगी फिर कहकहे लगेंगे।

उठ जाएँगे खिलाड़ी सब एक-एक करके,
बाज़ी बनी रहेगी।

संस्मरण : शानी

परवेज़ अहमद

हक़ मग़फ़िरत करे बड़ा आज़ाद मर्द था

सन् छिहत्तर। शहर उज्जैन। आपातकाल के साए में 'सृजन अनुष्ठान' का आयोजन। साहित्यिक चर्चाओं और साहित्यकारों की गहमा-गहमी। उसी माहौल में किसी मित्र ने बताया था. . . 'वह देखो शानी खड़े हैं. . .।' मेरी निग़ाहें माधव कॉलिज के सदर दरवाज़े के क़रीब अकेले और ख़ामोश खड़े शानीजी पर पड़ गईं। आसमानी रंग की शर्ट, गहरे रंग की पैंट, काले और चौड़े फ़्रेम की ऐनक। काफ़ी सेहतमंद। वे गालों में पान का बीड़ा दबाए, चेहरे पर दबदबा सजाए खड़े थे। चंद दिनों पहले ही उन की कहानी 'बिरादरी' धर्मयुग में प्रकाशित हुई थी। कहानी का प्रभाव ज़हन पर था शायद इसीलिए कहानीकार को सामने पा कर मैं घबरा गया था। ठीक वैसे ही जैसे हम किसी को ख़यालों में महसूस कर रहे हों और वही अचानक मुजस्सिम सामने आ खड़ा हो। काफ़ी हिम्मत जुटाने के बाद मैं उन के क़रीब पहुँचा था और सहमते हुए बोला था, *धर्मयुग* में 'बिरादरी' पढ़ी, बहुत अच्छी लगी।'

'क्या अच्छा लगा?' उन की ज़हीन निग़ाहें मेरे चेहरे पर टिक गई थीं।

मैं ने खुद को गिरफ़्तार पाया। मेरी हालत कक्षा में सोते हुए पकड़े गए छात्र से भी ज़्यादा बदतर थी। शायद इसलिए भी कि चंद दिनों पहले मैं इसी तरह के सवाल का जवाब देते हुए डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' की शान में गुस्ताख़ी कर बैठा था। हुआ यह था कि सुमनजी ने उज्जैन से नागदा जाते हुए रास्ते में आपातकाल पर लिखी एक तवील कविता सुनाने के बाद सवालिया निग़ाहों से मेरी ओर देखा तो मैं ने निहायत बेलौस अंदाज़ में कहा, 'एक पंक्ति अच्छी लगी डॉक्टर साहब—'शायद तुम जाग गए।' सुमनजी कुछ पल ख़ामोश रहे फिर बोले, 'शायद तुम ठीक ही कहते हो, कवि तो सैकड़ों-हज़ारों पंक्तियाँ लिखता है उन में से अच्छी तो चंद पंक्तियाँ ही होती हैं।' सुमनजी ने बेशक बड़प्पन दिखाया था, बावजूद इस के मुझे अपनी नासमझी का अहसास हो गया था। मैं अपनी उस ग़लती को दोहराना नहीं चाहता था। इसीलिए अपने तमामतर हवास यकज़ा किए तब सँभल कर बोला, 'पूरी कहानी अच्छी लगी, लेकिन आप ने अंत बहुत अच्छा किया—साहब सो रहे हैं।'

मेरी बात सुन कर उन के चेहरे पर विजयी मुस्कान उभरी और सहमति में हलके से गर्दन हिली थी।

कितनी अजीब-सी बात है जब हम लेखक से दूर होते हैं तो हमारे लिए उस का साहित्य सब कुछ होता है लेकिन लेखक के क़रीब आ कर साहित्य तो कहीं पीछे छूट जाता है और हम लेखक को पढ़ने लगते हैं. . .लगातार।

पिछले दस-ग्यारह बरसों से वे मेरे सामने थे, एक ऐसी खुली किताब की तरह जिसे बार-बार पढ़ कर भी समझ पाना आसान नहीं था। मैं उन के हिज्जे-मआनी में उलझा रहता था और जब गुत्थियाँ सुलझने के क़रीब होती थीं कि उन की शख़्सियत का कोई नया बाब शुरू हो जाता था, ऐसा नया पहलू सामने आ खड़ा होता कि मैं खुद को फिर हाशिए पर खड़ा महसूस करता। इस भूलभुलैया से मुझे आए दिन गुज़रना पड़ता था। जब *काला जल* पर टी.वी. सिरियल बनने की बात आई तो वे स्क्रिप्ट लिखने से बचना चाहते थे। उन का कहना था, *काला जल* को किसी भी रूप में दुबारा लिखने की बात सोच कर मुझे लगता है जैसे मैं अपनी ही खाल नोच रहा हूँ। लेकिन जब फ़ीरोज़ और मैं उन की मदद को आगे आए तो वे पूरे जोश-ओ-ख़रोश के साथ उस मुहिम में शामिल हो गए। फ़ीरोज़ के साथ उन का तालमेल पहले से ही था। मैं ने भी कमोबेश वही दुनिया देखी थी और ज़िन्दगी के उन्हीं तजुर्बों से गुज़रा था, जिस दुनिया के झुलसा देने वाले थपेड़े शानीजी ने सहे थे। जिन तजुर्बों के अनगिनत निशानात उन के संपूर्ण वजूद पर पूरी तल्ख़ी के साथ मौजूद थे। शायद इसीलिए मुझे भी ज़हनी तौर पर उन के क़रीब आने में ज़्यादा वक़्त नहीं लगा। वे सामने होते थे और मैं काग़ज़-क़लम लिए घंटों उन के साथ होता था। हर किरदार को, मामूली-सी मामूली घटना को वे निहायत बारीक़ी और पूरी गहराई से विजुलाइज़ करते। हर जुमला और हर संवाद उन के ज़हन के सृजनात्मक साँचे से अपने संपूर्ण अर्थों के साथ संतुलित, सुंदर और सुडौल रूप में निकल कर होठों तक आता। फिर उसे अपने ख़ास अंदाज़ में बोलते। हर शब्द की गूँज को अपने कानों से सुनते तब कहीं जा कर वह काग़ज़ पर उतरता। संपूर्ण विचार, पुनर्विचार, लेखन, संपादन और पुनर्लेखन उन के मस्तिष्क में होता। किसी चीज़ को दुबारा लिखने के क़ायल वे थे ही नहीं। इसीलिए हर जुमले को माँजे बिना वे आगे बढ़ते ही नहीं थे। लिखने से पहले हल्का-सा ख़ाका उन के तसव्वुर में ज़रूर होता था, लेकिन मुकम्मिल तसवीर कभी नहीं होती थी। वे हर नए जुमले के साथ राहें हमवार करते हुए आगे बढ़ना चाहते थे। इसीलिए अक्सर यह हुआ कि लेखन शुरू करने से पहले हम ने मंज़िलें कोई और तय कीं और पहुँचे कहीं और।

किसी भी फूहड़ विचार को रद्द करने में और अच्छी बात को लपक कर सीने से लगाने में उन्हें ज़र्रा बराबर भी संकोच नहीं होता था। अपनी राय देने के लिए वे मौक़ा-महल या अच्छा-बुरा लगने की कभी परवाह ही नहीं करते थे।

एक अजीब-सी छटपटाहट, बेचैनी उन के मन में हमेशा रहती थी। वे चीज़ों को आनन-फ़ानन में करना चाहते थे। एक दृश्य हम लोग लिख रहे थे जिस में बहुत-सी महिलाएँ जमा थीं। समस्या यह थी कि दृश्य में नए रंग कैसे भरे जाएँ। मैं ने सुझाया कि हम इन महिलाओं के साथ मीलाद शरीफ़ (धार्मिक कथा) का दृश्य जोड़ देते हैं। लेकिन उस तरह की नआतें, नज़्में मिलेंगी कहाँ? शानीजी का सवाल था। मैं ने सुझाया कि हम अभी अगला सीन लिख लेते हैं। मैं शाम को जामा मस्जिद जा कर किताबें ले आऊँगा लेकिन वहाँ सब्र कहाँ था। जून की झुलसा देने वाली धूप में हम लोग कोटला बस-स्टैंड तक पैदल गए। वहाँ से डी.टी.सी. की बस पकड़ी और जामा मस्जिद पहुँचे। डेढ़-दो घंटे की दौड़-धूप में वे पूरी तरह पसीने में डूब चुके थे। लेकिन मतलब की किताबें मिलते ही उन की सारी थकान जाती रही। बस से वापसी में घर पहुँचते-पहुँचते ही उन्होंने अपनी पसंद की नज़्में चुन भी ली थीं।

उन पर सांप्रदायिक होने के आरोप भी लगाए जाते रहे हैं। यह भी कहा गया है कि वे छिप-छिप कर घर में नमाज़ पढ़ा करते थे और अक्सर मस्जिद में पाए जाते थे। दरअसल इस तरह के आरोप और आशंकाएँ ऐसे ही व्यक्तियों के मन में पल सकती हैं जो मुस्लिम-परस्त होने और हिन्दू विरोधी होने के फ़र्क़ को नहीं समझ पाते। उन्हें आम बहुसंख्यक से कोई गिला-शिकवा था ही नहीं। उन का सारा गुस्सा उन लोगों के ख़िलाफ़ था जो हिन्दुत्व के

नाम पर अल्पसंख्यकों के साथ ज़्यादतियाँ किया करते हैं। उन के भीतर का मज़हबी मुसलमान दरअसल साल में दो बार ही जागता था। वह भी ईद और बक़रीद के अवसर पर। उस में भी अक्सर हुआ यह कि हम तैयार हो कर नमाज़ के लिए निकले ज़रूर लेकिन ईद की नमाज़ एकाध बार ही अदा कर पाए। उन की असली नमाज़-ए-ईद तो शाम की महफ़िलों में ही अदा होती रही।

यह सच है कि वे ऊपर से लाउबाली, बेतरतीब और लापरवाह भी दिखाई देते थे। घर फूँक कर तमाशा देखने वाली उन की प्रवृत्तियों का भी मैं चश्मदीद गवाह रहा हूँ। हक़ीक़त में वे बाहर और भीतर दोनों तरह से निहायत व्यवस्थित और अनुशासित थे। बिला नाग़ा अलस्सुबह ताज़ा हवा की तलाश में निकल पड़ना। वर्ज़िश करना। सुबह की चाय और सिगरेट के साथ अख़बारों में छपे समाचारों और विचारों को जज़्ब कर लेना। न सिर्फ़ जज़्ब कर लेना बल्कि तुरंत दोस्तों को फ़ोन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना फिर चाहे वे जैसी भी हों, वह अपना परम कर्तव्य समझते थे। हर मौसम और हर माहौल में सुबह आठ बजते-बजते नहा-धो कर उजले लिबास में एकदम तरोताज़ा हो कर नाश्ते की टेबल पर बैठ जाना। फिर थोड़ा आराम करना। उन की 'ज़िन्दगी' दरअसल शाम से शुरू होती थी। शाम होते ही वे बेचैन होने लगते थे। वह दो-चार घंटे अकेले बिताना उन के लिए पुल-ए-सरात को पार करने से कम नहीं था। किसी न किसी बहाने वे महफ़िल जमाना चाहते थे या वह खुद किसी महफ़िल में शामिल होना चाहते थे। लगभग एक बरस पहले डॉक्टरों ने उन्हें न 'पीने' की सलाह दी थी। उन्होंने बखुशी अपना दामन छुड़ा भी लिया लेकिन अंतिम दिन तक वह अपने घर के छोटे से बार में हर तरह की शराब मँगवा कर रखते रहे और मित्रों की ख़ातिर जारी रही। एक दिन किसी दोस्त ने उन से कहा भी था, 'शानीजी आप को तो डॉक्टरों ने मना किया है फिर इस सब की क्या ज़रूरत है?'

वे हँस कर बोले थे, 'पीने के लिए मना किया है, फ़िलहाल पिलाने पर कोई पाबंदी नहीं है।'

न सिर्फ़ खुद को बल्कि घर को और अपनी तमाम चीज़ों को क़रीने से रखना उन की आदत थी। बेतरतीबी वे बर्दाश्त ही नहीं कर सकते थे। उन्होंने अस्सी से भी ज़्यादा कहानियाँ लिखीं जिन में से ज़्यादातर की हस्तलिखित पांडुलिपियाँ सुरक्षित रखी हैं। *शाल वनों का द्वीप* और *काला जल* की पांडुलिपियाँ पूरे एहतियात से ज्यों की त्यों रखी हैं। पहले पृष्ठ पर उन्होंने उपन्यास शुरू करने की तारीख़ (20.8.60) डाली हुई है। समाप्ति की तारीख़ (2 नवंबर, 61) दर्ज़ है। पंद्रह माह में लिखा गया उपन्यास नीली सियाही से लिखा गया है फिर रद्दोबदल लाल रोशनाई से की गई है।

स्वर्गीय यशपालजी और स्वर्गीय दिनकरजी के पत्र भी उन्होंने सँभाल कर रखे हैं। यशपालजी के ख़त का ज़िक्र वे अक्सर किया करते थे। वे मानते थे कि यशपालजी पहले साहित्यकार थे, जिन्होंने न सिर्फ़ सब से पहले *काला जल* की आत्मा को समझा बल्कि आगे बढ़ कर अपनी बात का ऐलान भी किया। हुआ यह था कि यशपालजी ने उन्हें जगदलपुर के पते पर पत्र लिखा था। लेकिन तब तक शानी जी ग्वालियर पहुँच चुके थे। इसीलिए ख़त वापस लौट आया। तब यशपालजी ने अक्षर प्रकाशन से उन का नया पता लिया और दूसरा पत्र लिखा। लेकिन दूसरे पत्र के साथ अपना पहला पत्र भी नत्थी कर दिया।

उन का कोई भी मज़ाक महज़ चुटकलेबाज़ी नहीं होता था। उन का मज़ाक़ भी निहायत संजीदा और ज़िन्दगी से जुड़ा रहता था। हुआ यह कि समाचार अपार्टमेंट्स में सामूहिक योगाभ्यास का सिलसिला शुरू हुआ तो शानी जी उस में पूरे तन मन से शामिल हो गए। हम लोग अपनी छत से उन्हें अलस्सुबह पूरी तनमयता से योग में डूबा देखते थे। यह सिलसिला काफ़ी दिन चला फिर एक दिन शानीजी अचानक नदारद हो गए। मैं ने जब वज़ह पूछी तो वे मुस्करा कर बोले, 'यार. . .हुआ यह कि योगाभ्यास के बाद गुरूजी अपना प्रवचन फ़रमाने लगे। कहने लगे

कि अगर लगातार तीस दिन योगाभ्यास किया जाए तो सिगरेट और शराब से मुक्ति पाई जा सकती है। फिर हँस कर बोले, 'सिगरेट और शराब ही छोड़ना हो तो उस के लिए योग की ज़रूरत क्या है।'

लखनऊ से दिल्ली आने के बाद उन के साथ अनगिनत शामें गुज़रीं। उन्हें खुला आकाश पसंद था। इसलिए सुबह और शाम दोनों वक़्त खुली छत पर पाए जाते थे। छत कभी उन की होती थी कभी हमारी। रात्रिकालीन ड्यूटी में होता तो सूफ़िया उन के साथ होती। रात को सूफ़िया के साथ न सिर्फ़ खाना आता बल्कि मेरे हिस्से की रम और व्हिस्की भी आती। ऐसी शामों में वह अपने पूरे शबाब पर होते थे। हर विषय पर उन से खुल कर बात होती थीं। उस मूड में उन से बात करके कोई अभिभूत हुए बिना रह ही नहीं सकता था।

ऐसी ही एक शाम सूफ़िया ने एक कठिन सवाल उन के सामने रख दिया था, 'पापा. . . जो साहित्यकार, कलाकार और बुद्धिजीवी होते हैं. . .वे लोग पढ़े-लिखे और समझदार होते हैं लेकिन फिर भी इन की निगाहों में वह आवारगी कैसे उतर आती कि वे तमाम-रिश्ते नाते भूल जाते हैं। छोटे-बड़े का फ़र्क़ और सारा मुलाहिज़ा ख़त्म हो जाता है?'

शानीजी ने सिगरेट के कई गहरे कश लिए। फिर बोले, 'बेटे. . . तुम्हारे सवाल का जवाब देना आसान नहीं है।' वे गाव तकिए से टिक गए। कई लम्हे आसमान को ताकते रहे, अचानक उठे और बोले, 'देखो बेटे इसे इस तरह समझो. . .जब कोई मौज समुद्र की सतह से ऊपर उठती है तो अपने पीछे कोई ख़ला कोई बड़ा गड्ढा छोड़ जाती है।'

जो मन में ठान लिया, उसे अंजाम तक पहुँचाने की जिद्द उन के मिज़ाज का अहम अंग थी। फिर चाहे वह खुद के लिए हो या किसी और के लिए। एक दिन उन्होंने मुझ से कहा कि उन्हें एक ऐसे सहायक की ज़रूरत है जो प्रूफ़ भी देख ले और प्रकाशन का काम भी जानता हो। मैं ने अपने एक परिचित का नाम बताया कि वह न सिर्फ़ उपयुक्त रहेंगे, बल्कि ज़रूरतमंद भी हैं। दूसरे ही दिन उन्होंने इधर-उधर से उन सज्जन का पता हासिल किया। तार दे कर उन्हें बुलाया और नौक़री दिला दी। फिर लगातार चिन्तित रहे कि उन्हें स्थायी कैसे कराया जाए। साल भर के भीतर ही उन्होंने उस पद के लिए विज्ञापन निकलवाया। वह सज्जन प्रमाण-पत्र लेने के लिए अपने गृहनगर ऐसे गए कि साक्षात्कार देने तक नहीं लौटे।

एक दिन शायद मेरा दुर्भाग्य मुझे उन के दफ़्तर ले गया था। शानीजी उबल रहे थे, उन के गुस्से का पारा हिमालय को भी पार कर रहा था। मुझे देखते ही वे चीख़ पड़े, 'ऐसे होते हैं मित्र, मैं ने घर से बुला कर रोज़गार दिया, उन्हें ही स्थायी करने के लिए सारा तामझाम किया, और वह ऐसे ग़ायब हुए कि एक पंक्ति का पत्र भी नहीं लिख सके। आज नियुक्ति-पत्र जारी होना है, बस मेरी सहमति का इंतज़ार है, बताओ मैं क्या करूँ?' मैं ने कहा कि, 'जिसे खुद नौक़री की परवाह नहीं उस की चिन्ता आप क्यों कर रहे हैं। आप को काम का व्यक्ति चाहिए, जो भी उपयुक्त लगे उसे रख लीजिए। उन्होंने फ़ौरन पैंतरा बदला, 'दोस्त हो कर यह कह रहे हो।' मैं ने समझाया कि, 'सवाल दोस्ती का नहीं है, मैं आप की समस्या सुलझाने में सहयोग देने की कोशिश कर रहा हूँ।' अभी यह बात चल ही रही थी कि वह सज्जन परेशान हाल, बिखरे हुए बाल और आँखों में आँसू लिए नमूदार हो गए। मौक़ा ग़नीमत जान मैं वहाँ से चल दिया।

दूसरे दिन सुबह शानीजी मेरे घर आए थे। इधर-उधर की बातों के बाद मैं ने पूछा कि, 'फिर नियुक्ति-पत्र किसे मिला?' उन्होंने सहज भाव से बताया, 'उसी को।' फिर बात आगे बढ़ाई, 'यह सच है कि उस ने हद दर्जे की लापरवाही की, लेकिन मेरे सामने सवाल यह था कि जिस व्यक्ति के कंधों पर भरे-पूरे परिवार का बोझ हो, बेटियों की ज़िम्मेदारी हो, आख़िर उसे यों सड़क पर कैसे धकेला जा सकता है।'

उन के गुस्से का जायज़ा कई कोणों से लिया जा रहा है। गुस्से के अनगिनत कारण थे, जिन में से ज़्यादातर जायज़ ही थे। मुझे लगता है सब से बड़ा कारण यही था कि उन के समकालीनों ने 'मंचों', 'आंदोलनों' और 'सत्ता' के बल पर जो शोहरत और अहमियत हासिल कर ली थी, महज़ प्रतिभा के सहारे वह उन्हें नहीं मिल पाई थी। इसीलिए गुस्से को उन्होंने इस तरह आत्मसात कर लिया था कि गुस्सा ही उन की तलवार और गुस्सा ही उन की ढाल, गुस्सा ही उन का आँगन था और गुस्सा ही आकाश। वो गुस्से से ऊर्जा पाते थे और उसे गुस्से की ही नज़र कर देते थे।

कई दिन पहले मैं शाम को उन के घर पहुँचा था। घर में सन्नाटा छाया हुआ था। पता लगा वो नाराज़ हैं कई घंटों से। मैं ने पर्दे से झाँक कर देखा वे टैरेस में अँधेरा किए बैठे थे और गुस्से में सिगरेट को राख में तबदील किए जा रहे थे।

काफ़ी देर बाद जब मैं उन्हें खाना लगने की सूचना देने गया तो वह एक झटके से उठे और आनन-फ़ानन में दरवाज़े के बाहर निकल गए। हम सब लोग उन्हें हक्का-बक्का देखते रहे। नौ फ़रवरी की शाम मैं उन के साथ था। मैं उन्हें दुनिया भर की ख़बरें सुनाता रहा, इधर-उधर की बातें करता रहा। पहली बार हुआ कि उन्होंने कोई सवाल नहीं किया। बीच-बीच में उन के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान आई लेकिन उन्होंने खुद मेरी कोई बात आगे नहीं बढ़ाई। वे ख़ामोश और पुर्सुकून थे। जब मैं चला तो सिरहाने टेपरिकार्डर रखा था और वे 'मेडीटेशन' नामक कैसेट सुन रहे थे। और उसी रात वे चले गए, यकबयक, सब को हैरान-परेशान छोड़ कर, इस बार तो वे किसी से नाराज़ भी नहीं थे।

इस अंक के रचनाकार

म.ल. वराडपांडे : जन्म 23 जून 1936, नागपुर, महा.। नाट्यशास्त्र के विद्वान एवं आलोचक। *कोल्हटकर आणि हीराबाई, श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर, भ्रमर परागु नेती* (मराठी में); हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर भाग 1,2 तथा दो और पुस्तकें अंग्रेज़ी में प्रकाशित। संपर्क : 419, ध्रुव अपार्टमेंट्स, इंद्रप्रस्थ (एक्स.), दिल्ली 110092

ज्योतिर्मयी देवी : (1894-1989)। बाङ्ला की सुप्रसिद्ध रचनाकार एवं समाजसेविका। *छायापथ, बैशाखे निरुद्देश मेघ, मानेर अगोचर* (उपन्यास); *राज्जोठक, अराबलीर आराले, बैंडमास्टरेर माँ, अराबलीर काहिंनी, सोना ना रूपो ना* (कहानी-संग्रह) के अतिरिक्त सात उपन्यास तथा सौ से अधिक कहानियाँ प्रकाशित। रचनाओं के लिए संपर्क : एम.सी.एम. लाइब्रेरी, अखिल भारतीय महिला परिषद, 6, भगवान दास रोड, नई दिल्ली 110001

विजयमोहन सिंह : जन्म 1 जनवरी 1936, शाहाबाद, बिहार। हिन्दी के कथाकार तथा आलोचक। *टट्टू सवार, एक बंगला बने न्यारा* (कहानी-संग्रह) तथा *कथा समय* समेत चार आलोचना पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : 349, निर्माण अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फ़ेज़-1, दिल्ली 110091

माधवि कुट्टि : जन्म 1932। कमला दास के नाम से अंग्रेज़ी में विख्यात कवयित्री। मलयाळम में कहानी लेखन। केरल साहित्य अकादमी, साहित्य अकादेमी आदि के पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : ए-2, अबांडी अपार्टमेंट्स, बार्यम रोड, एरणाकुलम, कोचीन 678016 केरल

डॉ. एच. बालसुब्रह्मण्यम : जन्म 11 अप्रैल 1932। तमिष, मलयाळम, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी भाषा पर अधिकार और अनुवाद तथा अन्य भाषा वैज्ञानिक कृतियाँ प्रकाशित। केरल हिन्दी प्रचारक संघ से सम्मानित। संपर्क : 776, पॉकिट 5, मयूर विहार-1, दिल्ली 110091

हर्षद त्रिवेदी : जन्म 17 जुलाई 1958। गुजराती के युवा कवि, कहानीकार, समीक्षक। *एक खाली नाव* (काव्य-संग्रह); जाकियुं (कहानी-संग्रह); *पाणीकलर, सपनानो पहाड़* (बाल-कहानी संग्रह) प्रकाशित। संपर्क : गुजरात साहित्य अकादमी, दफ़्तर भंडार भवन, सेक्टर 17, गाँधी नगर 382017, गुजरात

बिन्दु भट्ट : हिन्दी से गुजराती और गुजराती से हिन्दी में अनुवाद तथा गुजराती में कहानी, लघु उपन्यास, समीक्षात्मक लेख प्रकाशित। संपर्क : 2, गुणातीत अपार्टमेंट्स, प्लॉट नं. 437, सेक्टर-23, गाँधी नगर 382023, गुजरात

लखमी खिलाणी : जन्म 2 अक्तूबर 1932, सक्खर (सिन्ध)। सिन्धी में तीन कहानी-संग्रह, तीन उपन्यास, दो नाटक, एक यात्रा-वर्णन और एक अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : टी.एच.एस.-1, आदीपुर 370205,

कच्छ, गुजरात

विमी सदारंगानी : जन्म 15 अगस्त 1971। हिन्दी और सिन्धी में कविताएँ प्रकाशित। हिन्दी से सिन्धी और सिन्धी से हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ सिन्धोलोजी, 16/2-बी, आदीपुर, कच्छ 370205

बलराज कोमल : जन्म 25 सितंबर 1928, सियालकोट (पाकिस्तान)। उर्दू के कवि, रचनाकार और आलोचक। *मेरी नज़्में, रिश्ता-ए-दिल, निज़ादे संग, परिंदों भरा आसमान, शहर में एक तहरीर* (काव्य); *आँखें और पाँव* (कहानी-संग्रह), *हरियाली का एक टुकड़ा* (हिन्दी उपन्यास) के अतिरिक्त संकलित, अनुवादित और संपादित पुस्तकें प्रकाशित। उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी, मीर अकादमी, दिल्ली उर्दू अकादमी, साहित्य अकादेमी, भारत सरकार के शिक्षा विभाग के पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : ई-139, कालकाजी, नई दिल्ली 110019

रमेश पारेख : जन्म 1940, अमरेली। *क्याँ, छा अक्षरानु नाम, बितान सुद बीज* के साथ-साथ *सगपण एक उखानू* शीर्षक से तीन अंकों का नाटक, एक कहानी-संग्रह, एक निबंध-संग्रह, सात कथा और कविता के संग्रह बच्चों के लिए प्रकाशित। गुजरात साहित्य अकादमी की ओर से बाल साहित्य पर स्वर्ण पदक, संस्कार पुरस्कार, कला गौरव स्वर्ण पदक, कुमार पदक, उमा स्नेहरश्मि पुरस्कार, साहित्य अकादेमी पुरस्कार इत्यादि अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 'पर्व', मैत्री सोसायटी, डॉ. के.एन. शाह अस्पताल के पीछे, चितल रोड, अमरेली 365601

हेमंत देसाई : जन्म 23 जुलाई 1952। गुजराती में लेख, कविताएँ और गुजराती से हिन्दी अनुवाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : सेंट्रल बैंक ऑफ़ इंडिया, क्षेत्रीय कार्यालय, अठुगर मौहल्ला, नानपुरा, सूरत 395001

घनश्याम रंजन : जन्म 15 नवंबर 1935, लखनऊ। अनेक कवियों और कहानीकारों की रचनाओं का पंजाबी से हिन्दी में अनुवाद। संपर्क : आर्ट स्टूडियो, 65 कैंट रोड, उदयगंज, लखनऊ 226001

तिरुमलेश : कन्नड के समर्थ और प्रतिभाशाली कवि। *महाप्रस्थान, मुखामुखी, अवध* प्रकाशित प्रमुख कृतियाँ। संपर्क : सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंग्लिश एंड फ़ॉरेन लैंग्वेज़िस, हैदराबाद 500007

मुकुंद जोशी : कन्नड के रचनाकार एवं अनुवादक। निरुत्तर (उपन्यास) तथा एक कहानी-संग्रह प्रकाशित। कन्नड से हिन्दी और मराठी में तथा हिन्दी और मराठी से कन्नड में अनूदित रचनाएँ प्रकाशित। संपर्क : ए-6, सेजल अपार्टमेंट्स, देवीदयाल रोड, मुलुंड (वैस्ट), बंबई 400080

एच.एस. वेंकटेशमूर्ति : जन्म 23 जून 1944, ज़िला शिमोगा। कन्नड के लोकप्रिय कवि। *परिवरिट्टा, बागिलु बादिवा जाना, मोख्था* (कविता-संग्रह); *होमी जहाँगीर भाभा, सी.वी. रामन* (जीवनियाँ); *कीर्तानाकरारु* (आलोचना) प्रकाशित। संपर्क : लैक्चरार, सेंट जोसफ़ कॉलिज ऑफ़ कॉमर्स, 73, ब्रिगेड रोड, बैंगलोर 560025

स्व. एम.एन. जयप्रकाश : कन्नड के कवि एवं कथाकार। *सांप्रज्ञ, गेज्जे समिगळ नडुवे,* येरडु, खंडगळ नडुवे प्रकाशित।

सविता नागभूषण : कन्नड महिला रचनाकारों में विशिष्ट नाम।

जयंत कैकिणी : कन्नड के चर्चित कवि एवं कहानीकार। *रंगदिंदोष्ठुदूर, श्रावण मध्याह्न* (काव्य-संग्रह); *गाळ, तेरे दष्टे बागिलु* (कहानी-संग्रह) प्रकाशित। संपर्क :

2/डी-57, वैशाली नगर, बालाराजेश्वर रोड, मुलुंड (वैस्ट), बंबई 400080

जयंत महापात्र : जन्म 22 अक्तूबर 1928, कटक। भारतीय अंग्रेज़ी के जाने-माने कवि। अंग्रेज़ी में कई काव्य-संग्रह प्रकाशित। वर्ष 1981 में साहित्य अकादेमी द्वारा सम्मानित। संपर्क : तिंकोनिया बगीचा, कटक 753001, ओड़िशा

मधु बी. जोशी : जन्म 6 सितंबर 1956, दिल्ली। कुछ कविताएँ, बाल कहानियाँ और अंग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : डी-51, पटेल नगर-2, गाजियाबाद 271002

रक्षत पुरी : जन्म 1925 के आसपास। प्रसिद्ध पत्रकार। *इन द क्रॉनिकल्स* के अलावा दो कविता-संग्रह अंग्रेज़ी में तथा *परछांवियाँ नूँ पर लग्गे* पंजाबी में प्रकाशित। संपर्क : बी-107, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली 110049

गुलवंत फ़ारिग़ : जन्म 15 फरवरी 1932। *चाँदी दा पुल* (कहानी-संग्रह), *एक धुँध सुनहरी, चुप्प दे बोल, मिट्टी दा परछाँवाँ* (काव्य-संग्रह) प्रकाशित। कई पुरस्कारों से सम्मानित। कई संपादित पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : सी-2/59, अशोक विहार फ़ेज़-2, दिल्ली 110052

अनिल साहरी अरोरा : जन्म 1945, कानपुर (उ.प्र.)। प्रसिद्ध पत्रकार। अंग्रेज़ी में *नोमैड्स ऐंड अदर मोमेंट्स* (1995) के अलावा *ऐन ऑड रिद्म* (1969) कविता-संग्रह, नाटक *कॉम्प्रोमाइज़* और *पाँच बातें* (हिन्दी में) तथा *प्रेफ़िसेस* और *आल्बेयर कम्यू—द फ़ॉल* (रूपांतर) अंग्रेज़ी में। संपर्क : एम-52, साकेत, नई दिल्ली 110017

मोहन ठकुरी : जन्म 20 अप्रैल 1948, मङ्पु, दार्जिलिङ्ग। *मेरो अँगालों को रात, हेंग ओभर* (कहानी-संग्रह) तथा *निःशब्द* (कविता-संग्रह) तथा संपादित पुस्तकें प्रकाशित। *स्रष्टा* और *दियालो* पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : भानुटोल, मङ्पु, दार्जिलिङ्ग 734313

बिर्ख खड़का डुवर्सेली : जन्म 1 अक्तूबर 1954, कटलगुड़ी, जलपाइगुड़ी (डुवर्स) प. बंगाल। नेपाली और हिन्दी में लेखन। नेपाली से हिन्दी में अनूदित कहानियाँ व कविताएँ प्रकाशित। संपर्क : दुर्गागढ़ी, प्रधान नगर, दार्जिलिङ्ग 734403

सुबोध सरकार : जन्म 28 अक्तूबर 1957। पाँच काव्य-संग्रह प्रकाशित। अनेक पुस्तकें संपादित। हिन्दी, ओड़िया, कन्नड, अंग्रेज़ी और तमिष़ में अनूदित कृतियाँ प्रकाशित। संपर्क : ए-129, लेक गार्डन्स, कलकत्ता 700045

ब्रत चक्रवर्ती : बाङ्ला के चर्चित कवि। *गाजनेर मेला, जीबोन देखांय आगूनेर माझखाने* (कविता-संग्रह); *कौरातेर छीन, हांगरेर रात* (कहानी-संग्रह) प्रकाशित। कृष्णानू तथा वीरेन्द्र पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : ठार्सा, जी.आई.पी.सी., हावड़ा 711321

मल्लिका सेनगुप्त : बाङ्ला की प्रसिद्ध कवयित्री। कई पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : ए-129, लेक गार्डन्स, कलकत्ता 700045

देबी राय : जन्म 4 अगस्त 1938। बाङ्ला के जाने-माने कवि। *मानुष-मानुष, संप्रतिक तिंजन, देबी रायर कविता, उन्माद शहर, कोलकाता ओ आमी* के साथ अन्य कई पुस्तकें प्रकाशित। अंग्रेज़ी, स्पेनिश, जर्मन, स्वीडन, उर्दू,

मराठी, ओड़िया, गुजराती, तमिष़ इत्यादि भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित। उत्तर प्रवासी (स्वीडन) पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : एल.आई.जी. 8/9, दूसरी मंज़िल,. फ़ेज़-2, गोल्फ़ ग्रीन कॉम्पलेक्स, कलकत्ता 700045

करुणानिधान : सुपरिचित कलाकार (पिछले अंकों में परिचय)। संपर्क : 34, चौहानपुरा, करावल नगर रोड, दिल्ली 110094

श्रीराम वर्मा : जन्म 1 मार्च 1937, दोहरी घाट, आज़मगढ़ (उ.प्र.)। सुप्रसिद्ध कवि। *संशय की एक रात, अभिव्यक्ति के स्वरूप* (आलोचना); ग्रीन विच (काव्य) तथा एक कहानी-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : ए-9, पन्नालाल कॉलोनी, सिविल लाइंस, आज़मगढ़ 276001

स्मितरेखा राय : जन्म 29 मई 1955। ओड़िया अनुवादिका। *एक था लड़का, नदी चली अपने घर* (अनूदित) प्रकाशित। संपर्क : बी-3/73, आज़ाद अपार्टमेंट्स, श्री अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली 110016

जगन्नाथ प्रसाद दास : जन्म 1936, ओड़िशा। ओड़िया के प्रसिद्ध कवि, कहानीकार और नाटककार। प्रथम काव्य-संकलन *प्रथम पुरुष* 1971 में प्रकाशित। *अन्य सबु मृत्यु, जे जाहार निर्जनता, सबा शेष लोक* और *असंगत* नाटक प्रकाशित। ओड़िया चित्रकला पर शोध कार्य। वर्ष 1991 में *आह्निक* (काव्य-संकलन) पर साहित्य अकादेमी द्वारा सम्मानित। होमी भाभा फ़ेलोशिप से अलंकृत। संपर्क : 305, एस.एफ़.एस., डी.डी.ए. फ़्लैट्स, हौज़ख़ास, नई दिल्ली 110016

अरुण कमल : जन्म 15 फ़रवरी 1954। प्रसिद्ध हिन्दी कवि। *अपनी केवल धार* और *सबूत* कविता-संग्रह के अलावा आलोचना एवं अनुवाद प्रकाशित। भारतीय युवा कविता की एक पुस्तक *वायसेज़* अंग्रेज़ी में प्रकाशित। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 4, मैत्री शांति भवन, बी.एम.दास रोड, पटना 800004

श्यामसुंदर शर्मा : जन्म 1946, शिमला। अंग्रेज़ी और हिन्दी में आलोचना तथा अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : रीडर, अंग्रेज़ी विभाग, मोतीलाल नेहरू कॉलिज, नई दिल्ली 110021

भगवत रावत : जन्म 13 सितंबर 1939, ग्राम टेहरका (बुंदेलखंड), मध्यप्रदेश। *समुद्र के बारे में, दी हुई दुनिया, हुआ कुछ इस तरह, सुनो हिरामन* (कविता-संग्रह); *कविता का दूसरा पाठ* (आलोचना) प्रकाशित। संपर्क : 129, आराधना नगर, कोटरा सुल्तानाबाद, भोपाल 462003, म.प्र.

श्याम विमल : (श्याम सुंदर शर्मा) जन्म 1931, शुजाबाद (पाकिस्तान)। हिन्दी कवि। *कविता अष्टावक्र* नाम से आठ हिन्दी कवियों की दस-दस कविताओं का मराठी अनुवाद प्रकाशित। *उन्हाचे तुकडे* मराठी कविता पांडुलिपि पर भारत सरकार के शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय द्वारा पुरस्कार। *छान झालं हेही* (अच्छा हुआ यह भी) नामक उपन्यास मराठी में प्रकाशित। संपर्क : 'विमल वाटिका', बी-96, सेक्टर-26, नोएडा 201301, उ.प्र.

रमेश ऋषिकल्प : जन्म 15 दिसंबर 1950, बुलंदशहर, उ.प्र.। *हथेलियों के पुल, शब्द में समाया समय* (कविता-संग्रह); *नई कविता और सर्वेश्वर, अज्ञेय की कविता में परंपरा और प्रयोग* (आलोचना) प्रकाशित। दिल्ली दूरदर्शन पर साहित्य और संस्कृति से संबंधित कार्यक्रम प्रस्तुत। संपर्क : 521, पॉकेट-2, पश्चिम विहार, नई दिल्ली 110063

नगेन्द्र चौरसिया : जन्म 5 फ़रवरी 1943। कवि-समीक्षक। दो कविता-संग्रह और *समकालीन कविता विस्फ़ोटक बदलाव* प्रकाशित। संपर्क : 2-ई, घोषाल स्ट्रीट, कलकत्ता 700019

उमेश दीक्षित : जन्म 30 जुलाई 1936। अब तक दो उपन्यास तथा कई अनुवाद प्रकाशित। नाटक में विशेष रुचि। संपर्क : बी-2/1, एम.एस. फ़्लैट्स, पेशावर रोड, गोल मार्किट, नई दिल्ली 110001

महेश आनंद : जन्म 6 फ़रवरी 1947,

मानसेरा, ज़िला हज़ारा (पाकिस्तान)। *नाटक के लिए रंगमंच* पुस्तक प्रकाश्य। नाटक और रंगमंच संबंधी अनेक लेख प्रकाशित। *नटरंग* पत्रिका के सहयोगी संपादक। संपर्क : सी-2/61 बी, लॉरेंस रोड, दिल्ली 110035

सुषमा भटनागर : जन्म 1951। हिन्दी में समीक्षा एवं अनुवाद। *आधुनिक साहित्य : वेदना के नए आयाम, नई कविता में प्रेम संबंध* (आलोचना) प्रकाशित। संपर्क : एफ-85, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली 110016

पद्मा सचदेव : जन्म 1940, जम्मू। *दीवानख़ाना, मितवाघर* (भेंटवार्ताएँ); *सबद मिलावा* (कविता-संग्रह); कहानी-संग्रह *गोदभरी* और डोगरी में *मेरी कविता मेरे गीत, न्हैरीयाँ गलियाँ, तवी ते चन्हाँ, पोटा-पोटा निम्बल, उत्तर बैहनी* (कविता-संग्रह) प्रकाशित। साहित्य अकादेमी, जम्मू-कश्मीर कलचरल अकादमी, हिन्दी अकादमी, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार तथा उत्तर प्रदेश के सौहार्द पुरस्कारों से सम्मानित। डोगरी और हिन्दी में समान रूप से लेखन। संपर्क : मितवा हाउस, 16 टोडरमल रोड, नई दिल्ली 110001

परवेज़ अहमद : जन्म 4 अगस्त 1949, उज्जैन, म.प्र.। टेली-प्ले *लाटी*; टेली-फ़िल्म *सहर होने तक*। लगभग ग्यारह वर्ष तक *नवभारत टाइम्स* के संपादकीय विभाग में कार्यरत। फ़िलहाल बी.आई.टी.वी. के न्यूज़ ब्यूरो से संबद्ध। संपर्क : 219, समाचार अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फ़ेज़-1, नोएडा रोड, दिल्ली 110091

उमेश वर्मा : जन्म 1935, बाँदा। ग्यारह एकल प्रदर्शनियाँ, लगभग साठ राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सामूहिक प्रदर्शनियों में हिस्सेदारी। लगभग 25 वर्ष से कला लेखन का अनुभव। शैलोज़ पुरस्कार, ऑल इंडिया फ़ाईन आर्ट एंड क्राफ़्ट सोसायटी तथा अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : सेक्टर-1, 231, सादिक़ नगर, नई दिल्ली 110049

प्रो. इंद्रनाथ चौधुरी, सचिव, द्वारा साहित्य अकादेमी के लिए प्रकाशित तथा नवचेतन प्रिंटर्स, 1-ई/2 झण्डेवालान एक्सटेंशन नई दिल्ली-110055 में मुद्रित/संपादक : **गिरधर राठी**

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA ISSN 0970-8367/Regd No F2/S/523/80